श्री निजानन्द जैनग्रन्थमाला—

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

समयसारः ।

निजानन्दीयश्लोकसहितः - भाषाटीकासहितश्च

प्रकाशक

श्री निजानन्द जैनग्रन्थमाला सहारनपुर

प्रकाशकीय

यह परम हर्ष का विषय है कि 'श्री निजानन्द जैनग्रन्थमाला' का प्रारम्भ एक ऐसे महान् ग्रन्थराज 'श्री समयसार' से हो रहा है जिसके मूलग्रन्थकर्ता कलिकालसर्वज्ञ भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य हैं उन के विषय में मेरा कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाने से अधिक नहीं हो सकता। 'समयसार' के स्मरणमात्र से आसन्न भव्य जीवों की हृत्तन्त्री के तार तुरन्त झनझनाते लगते हैं। यहां पर इस ग्रन्थराज की प्रमाणिकता के विषय में इतना लिखना ही पर्याप्त है कि यह ग्रन्थराज भगवान् की दिव्यध्वनि से साक्षात् सम्बन्धित है। स्वयं महाविदेह मे पधार कर १००८ श्रीसीमंधर स्वामी के पादमूल मे उपस्थित हो दिव्यध्वनि का रसास्वादन अनुभव करके भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने भव्य जीवों के कल्याणार्थ इस महान् ग्रन्थराज का निर्माण किया।

एक समय था, जब इस भारत-भूमि पर सर्वसाधारण की भाषा प्राकृत थी। इसही लिये सर्वसाधारण के हितार्थ भगवान ने इस ग्रन्थराज को इस मधुरतम प्राकृत भाषा मे लिखा है। ग्रन्थकर्ता का उद्देश्य ही सर्वसाधारण मे अध्यात्मवाद का प्रचार करना था। समय ने पलटा खाया और शनैः शनैः वह भाषा केवल शास्त्रीय भाषा रह गई। इसलिये उपर्युक्त ग्रन्थराज पर सस्कृत, हिन्दी और गुजराती आदि भाषाओं मे अनुवाद हुआ। आधुनिक युग मे एक सुन्दर परिमार्जित, संक्षिप्त एव सारमय भाषा टीका की परम आवश्यकता थी, उस आवश्यकता का अनुभव करते हुए स्वामी जी ने यह टीका बड़े परिश्रम और तन्मयता से लिखी है। मैंने स्वयं देखा है कि स्वामी जी सोलह सोलह घन्टे निरन्तर मनन करके संस्कृत के श्लोको की रचना तथा टीका मे मग्न रहते थे इस प्रकार सहारनपुर के चातुर्मास-स्मृतिस्वरूप स्वामी जी की इस महान् कृति को पाकर हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। इसके फलस्वरूप स्थानीय समाज ने जैन तथा अन्य समाज के विज्ञ व्यक्तियो के कर कमलो तक इस ग्रंथराज के पहुंचाने का निर्णय किया है। आशा है इस ग्रथमाला से भविष्य मे भी आध्यात्मिक साहित्य का प्रसार हो सकेगा। प्रकाशन के कार्य मे जिन जिन व्यक्तियो ने सहयोग दिया है मैं उन सब व्यक्तियो का हृदय से आभारी हूँ।

सम्भव है प्रकाशन के कार्य मे प्रमादवश कुछ त्रुटिया रहगई हों अतः विज्ञ पाठक उन्हे क्षमा करते हुए सूचना देने की कृपा करे जिस से आगामी संस्करण मे वे त्रुटिया न रहने पावे।

भद्र आश्रम
शोरमियान, सहारनपुर
जनवरी १९५१

निवेदक
नानकचन्द जैन
मन्त्री—
श्री निजानन्द जैनग्रन्थमाला

कृतज्ञताप्रकाश

सहारनपुर का स्वामी जी से सम्बन्ध काफी पुराना है। सम्भव है उस ही स्नेह के वश आपने समाज की प्रार्थना पर इस चातुर्मास में अमृतमयी धर्मवृष्टि से सहारनपुर की समाज पर महान् अनुग्रह किया है। आपके जीवन के इस महान् परिवर्तन से हमे अपने पूर्वज कलिकालविज्ञ चक्रवर्ति आचार्य श्रीवर विद्यानन्द स्वामी का स्मरण हो आता है। विज्ञ व्यक्ति किसी भी समाज में क्यों न अवतरित हुए हों परन्तु वे सत्य का अन्वेषण कर ही लेते हैं। आपने भिवानी के अग्रवाल जातीय वैष्णव सम्प्रदाय मे जन्म लेकर भी जिस प्रकार आत्मोन्नति की है वह आश्चर्यमयी है। आप कलकत्ता जैसे व्यापारिक केन्द्रो मे बड़े ऊँचे दर्जे की दलाली का कार्य करते थे। शनैः शनैः धर्म की आन्तरिक प्रेरणा से आर्यसमाज के प्लेटफार्मों पर चटपटे व्याख्यान सुनकर आपकी रुचि आर्यसमाज की ओर झुक गई और कुछ ही समय मे आपने आयसमाज में अपनी धाक जमादी। जैन तथा अन्य समाजो से अनेको शास्त्रार्थ करके जिस समय आपकी कीर्ति आर्यसमाज के उच्च शिखर पर आरोपित थी उसी समय आपकी अन्तरात्मा मे, आर्यसमाज जैसे अन्य बाह्य दिखावटी धर्मों के प्रति उदासीनता, एवं आध्यात्मिक धर्म के अकुर पनप रहे थे। स्वामी जी आन्तरिक पुकार के सामने बाह्य ढोंग और यश के इच्छुक प्रारम्भ से ही न थे। आप आरम्भ से ही स्पष्ट एवं निः सकोच वक्ता रहे हैं। इसी के फलस्वरूप जब कि आप आर्यनभोमण्डल में सूर्य की तरह चमक रहे थे, अपनी मात्र आन्तरिक ध्वनि के बल पर जैनधर्म मे दीक्षित हो गये। आप अपनी धुन के पक्के हैं। इसी लिये किसी भी बड़े से बड़े व्यक्तित्व तथा आर्यसमाज का प्रभाव आपके इस मार्ग मे किञ्चिन्मात्र भी बाधक न बन सका। आपने जैनधर्म में दीक्षित होकर वैदिक-साहित्य पर अनेको पुस्तके लिखी और वैदिक-साहित्य पर ही गवेषणापूर्ण 'ईश्वरमीमांसा' जैसे महान ग्रन्थ को लिखकर ईश्वर विषयक अन्धकार को भी दूर कर दिया।

आपका दृष्टिकोण और विद्यानुराग सर्वदा नई २ गुत्थियो को सुलझाने मे तत्पर रहता है। स्वामी जी ने इस ग्रन्थराज 'समयसार' पर जो अपूर्व श्लोक और टीका की रचना की है उस पर मुझ जैसे बालक को किञ्चिन्मात्र भी लिखने का अधिकार नही है। समाज के विज्ञ व्यक्ति ही स्वयं उसकी गरिमा का अनुभव करेंगे। इसमे आपने वैज्ञानिक ढग से एक नया ही दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

आपके जीवन का उन्नतिक्रम इसी से स्पष्ट हो जाता है, कि कलकत्ते की दलाली जैसी एकमात्र धन-सञ्चय की निर्बाध प्रणाली को छोड़ कर, अब आप क्रमशः श्रावक के उत्कृष्ट चारित्र के स्थान 'क्षुल्लक' पद पर आसीन हैं। आपकी ज्ञान प्राप्त करने की तत्परता अद्वितीय है। आपने काशी

आदि विभिन्न केन्द्रो मे अनेको कष्ट सहकर अपने ज्ञान का मार्ग प्रशस्त बनाया। आपकी साहित्य-विषयक धुन इसप्रकार की है, कि आप प्रतिसमय ग्रन्थों से ही चिपके रहते हैं।

आपके जीवन की कतिपय झांकियां आपके द्वारा लिखित 'वैदिक ऋषिवाद' के पूर्वस्थल मे देखने को उपलब्ध हुई। परन्तु उन संक्षिप्त पंक्तियो को पढ़कर हमारी आशा पूर्ण नहीं होती। इसी लिए हमने स्वामी जी से प्रार्थना की है कि वे विशदरूप मे अपनी आत्मकथा लिखकर समाज को अर्पण करें। जिससे आपके जीवन की घटनाओं को ज्ञातकर समाज के साधारण से साधारण व्यक्ति मे भी स्फूर्त्ति का प्रादुर्भाव होसके।

भद्र आश्रम
शोरमियान, सहारनपुर
जनवरी १९५१

आपका—
चरणचञ्चरीक
'जिनेन्द्र'

प्राथमिक

सार का प्रत्येक प्राणी सासारिक दु.खो से तिलमिला रहा है तथा अनादिकाल से इस दुःखरूपी अथाह समुद्र को पार करने के लिए प्रयत्न भी करता आरहा है। किन्तु खेद यह है, कि अज्ञानता के कारण उसका यह प्रयत्न उन दुःखों से छुटकारा दिलाने के बजाय दुःखों के निविड बन्धन में ही अधिक फॉसता जाता है। जैसे दलदल में फँसे हुए मनुष्य की चेष्टा उसे अधिक फँसाने मे ही सहायक होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि दुःखों को दूर करने के लिये जीव सासारिक विषयोंका ही समह तथा सेवन करता है, और समझता है कि सुख इन्ही वस्तुओं में है, किन्तु अभीष्ट वस्तुओं के न प्राप्त होने पर अत्यन्त दुःखी होता है और उनको प्राप्त करने के लिए भयानकसे भयानक पाप भी कर डालता है। यह प्रयत्न ऐसा ही होता है, जैसे कोई जीवित रहने के लिये विषपान कर डाले। जिस प्रकार इस विषपान का परिणाम जीवन के बजाय मृत्यु ही होता है, ठीक उसी प्रकार सुख के लिए सासारिक विषयभोग का परिणाम भी अत्यन्त दुःखमय ही होता है। परन्तु आत्मज्ञान होने के कारण उसको यह विचार कभी भी नही होता, कि ये सुख दु.ख परपदार्थ जनित नहीं हैं अपितु मेरे ही मोहजनित रागद्वेषों के कारण इन बाह्य पदार्थों में मुझे सुख और दुःख प्रतीत हो रहे हैं। एव जैसे जैसे इस सुखाभास की साधनभूत बाह्यसामग्री एकत्रित होती जाती है वैसे २ ही इसकी लालसा भी बढती ही जाती है, और यह तीनोंलोकों की सम्पूर्ण विभूति को पाकर भी पूर्ण नही होती है। इसीलिये शास्त्रों में कहा है कि—

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः"

अर्थात् धनादि से मनुष्य तृप्त नही हो सकता। अपितु जिस प्रकार अग्नि मे घृत और लकडी डालने से अग्नि विशालरूप धारण करती है उसी प्रकार धनादि प्राप्त होन पर आशा बढती ही जाती है। एक कवि ने क्या ही अच्छा कहा है –

सब्ज़ होती ही नहीं यह सरज़मीं। तुख्मे ख्वाहिश दिल में तू बोता है क्या ?

अर्थात् ए मूर्ख! इन आशा रूपी बीजो को इस मानसिक पटल पर क्यों बिखेर रहा है, इस ऊसर भूमि को तो आजतक किसी ने फलते फूलते देखा ही नही। अत: तुझे यदि आशाओ के उद्यान को लहलहाते देखना है तो अपनी आत्मा मे ही इन आशाओ को विलीन कर दे। फिर तुझे ऐसा आनन्द प्राप्त होगा कि जिसको तूने न कभी देखा, न कभी सुना और न जिसका आजतक कभी रसास्वाद ही लिया है। वह अनुपम, अलभ्य, अलौकिक एव अनिर्वचनीय परमानन्द प्राप्त होगा कि तू इन सासारिक सुखो को घृणित तथा हेय समझने लगेगा। तब तू स्वय आनन्द का अजस्र अमृतमय श्रोत बन जावेगा और ससार के सपूर्ण सतप्त प्राणी तेरे दर्शन मात्र से सासारिक दुःखों से छुटकारा पाकर एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करेंगे। इस अवस्था को प्राप्त कराने के लिए ही परमकारुणिक भगवान् कुन्द-कुन्दाचार्य ने 'समयसार' ग्रन्थ की रचना की है, जोकि प्राकृत गाथाओं से ग्रथित है। यद्यपि इन गाथाओं पर श्रीअमृतचन्द्राचार्य की 'आत्मख्याति' तथा श्री जयसेनाचार्य की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीकाएं बडी सुन्दर तथा मार्मिक हैं। एवं प० जयचन्द्रकृत आत्मख्याति की भाषाटीका भी उपलब्ध है, फिर भी बहुत समय से इस प्रकार की टीका की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी जो सामयिक और समन्वयात्मक होते हुये जन साधारण के लिये अधिक उपयोगी हो। इसी के लिए यह प्रयास किया गया है।

भगवान् श्रीकुन्दकुन्दाचार्य

मान्यो मतिमतां लोके पूज्यो धर्मविदाम्वरैः ।
वन्देऽहं साधुवन्द्यं तं कुन्दकुन्दं मुनीश्वरम् ॥

भावार्थ— जो मतिमानो के मान्य हैं अर्थात् विद्वच्छिरोमणि हैं और सर्व धर्मात्माओं द्वारा पूज्य है एवं समस्त साधुओ के वन्दनीय हैं, ऐसे मुनीश्वर कुन्दकुन्दाचार्य को मैं नमस्कार करता हूँ।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के विषय में निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त हैं—

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥
(चन्द्रगिरि-शिलालेख)

अर्थ— कुन्दपुष्प की प्रभा को धारण करने वाली जिनकी कीर्ति के द्वारा दिशाएं विभूषित हुई हैं, जो चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के करकमलों के भ्रमर थे और जिस पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र मे श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे प्रभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वन्द्य नही हैं ?

.. . . कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥
रजोभि रस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥
(विन्ध्यगिरि-शिलालेख)

अर्थ— यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्द स्वामी) रजः स्थान-भूमितल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाश मे गमन करते थे। उससे मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वे प्रभु जैसे अन्तर मे, वैसे ही बाह्य मे, रज से अपनी अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अन्तरंग मे वे रागादिक मल से अस्पृष्ट थे और बाह्य मे धूल से अस्पृष्ट थे)।

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विवोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति ॥
(दर्शनसार)

अर्थ— (महाविदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकरदेव) श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त किये हुए दिव्यज्ञान के द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव) ने बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्ग को कैसे जानते ?

इसके अतिरिक्त श्री कुन्दकुन्दाचार्य के विषय में दो दन्तकथाएं प्रचलित हैं—

१— "भरतखण्ड के दक्षिण देश मे पिदठनाडु जिले के कुरुमराई नगर में करमुण्ड

नामक श्रीमान् व्यापारी अपनी पत्नी श्रीमती के साथ रहता था। उसके यहाँ मतिवरन नामक एक ग्वाला लडका रहता था और उसके ढोर सभालता था। एक दिन लडके ने देखा, कि दावानल सुलगने से सारा वन खाक हो गया है, किन्तु बीच मे थोड़े से झाड हरे-हरे बच रहे हैं। तलाश करने पर पता चला कि वहाँ किसी साधु का आश्रम था और उसमे आगमो से भरी एक पेटी थी। उसने समझा, कि इन शास्त्र (ग्रन्थो) की मौजूदगी के कारण ही इतना भाग दावानल द्वारा भस्म होने से बच रहा है। उन ग्रन्थो को वह अपने ठिकाने लेगया और बडी सावधानी के साथ उनकी पूजा करने लगा। किसी दिन एक साधु उस व्यापारी के यहाँ भिक्षा के लिए आये। सेठ ने साधु को अन्नदान दिया। उस लडके ने भी वे ग्रन्थ साधु को दान दे दिये। साधु ने सेठ और लडके दोनो को आशीर्वाद दिया। सेठ के पुत्र नही था। थोड़े समय के बाद वह ग्वाल लडका मरगया और उसी सेठ के घर पुत्र के रूप मे जन्मा। बडा होने पर वही लड़का कुन्दकुन्दाचार्य नामक महान् आचार्य हुआ"

२— पण्डित नाथूराम जी प्रेमी 'ज्ञानप्रबोध' नामक ग्रन्थ के आधार पर दूसरी दन्तकथा का इसप्रकार उल्लेख करते हैं—

"मालव देश मे वारापुर नगर मे कुमुदचन्द्र नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्य मे कुन्दश्रेष्ठी नाम का व्यापारी अपनी कुन्दलता नामक पत्नी के साथ रहता था। उसके पुत्र का नाम कुन्दकुन्द था। एक दिन जिनचन्द्र नामक आचार्य का उपदेश ग्यारह वर्ष के बालक कुन्दकुन्द ने सुना। आचार्य के उपदेश का उस पर इतना गहरा प्रभाव पडा, कि वह उनका शिष्य हो गया और उन्ही के साथ रहने लगा। थोडे ही समय मे कुन्दकुन्द, जिनचन्द्र के अन्य सब शिष्यो से आगे आगये और ३३ वर्ष की अवस्था मे तो उन्हे आचार्य पदवी प्राप्त हो गई। ध्यानादि मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इतनी प्रगति की थी, कि एकबार कुछ शका होने पर उन्होने विदेहक्षेत्र मे स्थित श्री सीमन्धर स्वामी का चिन्तन इतनी उत्कटता के साथ किया कि सीमन्धर स्वामी सभा मे बैठे-बैठे ही अधबीच में बोल उठे-'सद्धर्मवृद्धिरस्तु'। उस समय सभा मे जो लोग बैठे थे वे कुछ भी न समझ पाये कि स्वामी ने बीच मे ही किसके उत्तर मे यह वाक्य बोला है। तब सीमन्धर स्वामी ने सभाजनो को कुन्दकुन्दाचार्य के विषय मे बात बताई। उसके बाद दो चारण सन्त जो पूर्व जन्म मे कुन्दकुन्दाचार्य के मित्र थे, उन्हे आकाशमार्ग द्वारा भरतक्षेत्र से विदेहक्षेत्र मे ले आये। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ एक सप्ताह रहे और उन्होने अपनी समस्त शकाओं का समाधान प्राप्त किया। तदनन्तर तीर्थयात्रा करते करते वे भरतक्षेत्र मे लौट आये। उनके उपदेश से सात सौ स्त्री-पुरुषो ने उनसे दीक्षा ग्रहण की। कुछ समय पश्चात् गिरनार पर्वत पर श्वेताम्बरो के साथ उनका विवाद हुआ। उन्होने वहाँ की ब्राह्मी-देवता से स्वीकार कराया, कि दिगम्बर मत ही सच्चा है।

इन दोनों दन्त कथाओ मे माता-पिता के नामो मे तथा निवास स्थान के विषय मे स्पष्ट मतभेद है। दूसरी दन्तकथा मे माता-पिता के समान अक्षरो के जो नाम हैं वे सहज ही सदेह उत्पन्न करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के विदेहक्षेत्र मे जाने की घटना का उल्लेख सर्वप्रथम वि० स० ९९० मे हुए देवसेन ने 'दर्शनसार' ग्रन्थ मे किया है। 'पञ्चास्तिकाय' की टीका मे जयसेन प्रगट करते है कि दतकथा (प्रसिद्ध-कथा-न्याय) के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य स्वय पूर्वविदेह में गये थे और श्री सीमन्धर स्वामी के पास से विद्या सीख कर आये थे। श्रवणबेलगोल के शिलालेखो मे भी जिनका अधिकाशभाग बारहवीं शताब्दी का है। उल्लेख मिलता है, कि कुन्दकुन्दाचार्य हवा मे (आकाश में) अधर चल सकते थे।

श्वेताम्बरों के साथ गिरनार पर्वत पर जो विवाद हुआ था उसका उल्लेख आचार्य शुभचन्द्र (ई० स० १५१६-५६) ने अपने पाण्डवपुराण मे किया है। एक गुर्वावली मे भी इस बात का उल्लेख है।"

तथाच षट्प्राभृत की टीका के अन्त में श्री श्रुतसार सूरि लिखते हैं कि—

"पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामो से विभूषित, चार अगुल ऊपर आकाश मे गमन करने की जिनके ऋद्धि थी, जिन्होंने पूर्व विदेह मे जाकर सीमंधर भगवान की वन्दना की थी और उनके पास से मिले हुए श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होने भारतवर्ष के भव्य जीवों को प्रतिबोध दिया है, ऐसे श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के उत्तराधिकारी रूप कलिकाल सर्वज्ञ (भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देव) के रचे हुए इस षट्प्राभृत ग्रन्थ मे सूरीश्वर श्री श्रुतसागर की रची हुई मोक्षप्राभृत की टीका समाप्त हुई।"

श्री कुन्दकुन्दाचार्य मूलसंघ जिसका दूसरानाम नन्दिसघ भी है, के मूलनायक थे, जैसा कि श्रवणवेलगाल के ५५ (६९) नम्बर के शिलालेख के निम्नवाक्यो से जाना जाता है—

श्रीमतो वर्द्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने ।
श्री कोण्डकुन्दनामाऽभून्मूलसघाग्रणी गणी ॥ ३ ॥
तस्याऽन्वये ऽजनिख्याते देशिके गणे ।
गुणी देवेन्द्रसैद्धान्तदेवो देवेन्द्र-वन्दितः ॥ ४ ॥

अर्थात भगवान् महावीर के शासन मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य मूलसंघ के अग्रणी गणी हुए।

साराश— उपर्युक्त समस्त प्रमाणो का साराश यह है, कि विक्रम की प्रथम शताब्दी के लगभग महर्षि कुन्दकुन्दाचार्य हुए। ये महर्षि सर्वशास्त्रो के पारंगत और महान् योगीश्वर थे। अनेक भाषाओ पर इनका आधिपत्य था। ११ वर्ष की बाल्य अवस्था मे ही इन्हो ने परमवीतराग-रूप दिगम्बर दीक्षाधारण की, और ३३ वर्ष की युवा अवस्था मे ही ये सर्वसम्मति से आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किए गये। ५२ वर्ष तक आचार्यपद पर आसीन रह कर ८५ वर्ष की अवस्था मे आप निर्वाण को प्राप्त हुए। आपके बनाये हुए अनेक ग्रन्थ है, जो मुमुक्षुओ को मार्ग प्रदर्शित कर रहे है। उन सपूर्ण कृतियो मे यह 'समयसार' सवश्रेष्ठ कृति मानी गई है। जैन समाज मे समयसार को वही स्थान प्राप्त है जो कि भारतवर्ष मे गीता व उपनिषदो को प्राप्त है।

इस विषय मे हम वर्तमान समय के महान् अध्यात्मयोगी श्रीमद्राजचन्द्र की सम्मति उद्धृत करते हैं, जो निम्नप्रकार है—

"हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान के विषय मे इस पामर को परम उपकारभूत हुए हैं। उसके लिए मैं आपको अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ।"

श्रीमद्राजचन्द्र के समान ही सहस्रों मुमुक्षुओ ने भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य के वचनो द्वारा अध्यात्मरस का अलौकिक रसास्वाद किया है। इसके लिए हम भी आपके परम आभारी हैं।

समयसारः

इस असार संसार में "समयसार" ही सार ।
जिसने यह जाना नहीं सो मानव भुवि भार ।

'समयसार' के विषय मे श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल अपनी 'कुन्दकुन्दाचार्य के-तीन रत्न' नामक पुस्तक मे लिखते हैं कि—

"समयसार" जैनों में श्री कुन्दकुन्दाचार्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जाता है। रूढिवादी तो यहाँ तक मानते हैं कि इस गूढ ग्रन्थ को पढ़ने का गृहस्थो को अधिकार ही नही है, और इस मान्यता को कुछ आधार भी प्राप्त है। कारण यह है, कि समयसार मे पारमार्थिक दृष्टि से ही सारी चर्चा की गई है। अतएव अनधिकारी साधारण जन को उसका कोई-कोई भाग सामाजिक और नैतिक व्यवस्था को उलट-पलट कर देने वाला प्रतीत हो सकता है। लेखक अपने पाठक को यह बतलाना चाहते हैं, कि कर्म के सम्बन्ध से प्राप्त होने वाली मूढ़ता के कारण बहुत से लोगो को आत्म-ज्ञान नहीं होता अतएव प्रत्येक मनुष्य को अनासक्त होकर अजीव से सर्वथा भिन्न आत्मा का शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप समझना चाहिए। लेखक यह मानते हैं कि उनका पाठक जैन परिभाषा से परिचित है। अतएव कही आत्मा का वास्तविक स्वरूप, कही कर्मबध का स्वरूप कहीं कर्मबधन को रोकने का उपाय, इसप्रकार महत्वपूर्ण विषयो पर वे अपना हृदय निःसकोच भाव से खोलते चले जाते हैं। किसी-किसी जगह पर तो ऐसा प्रतीत होने लगता है, कि लेखक बुद्धि से परे की वस्तु के अनुभव की कहानी कह रहे हैं। कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ श्लोकों के कुछ भूल के विषय के क्रम को भग करके दाखिल हो गये हैं। वहाँ ऐसा लगे बिना नहीं रहता कि कुन्दकुन्दाचार्य ने परम्परा से प्राप्त कतिपय श्लोक ग्रंथ मे सम्मिलित कर दिये है। ८५-८६ वे श्लोकों मे 'दोकिरिया वाद' का उल्लेख है और ११७, १२२ तथा ३४० वे श्लोक मे साख्यदर्शन का नाम देकर उल्लेख है, यह बात ध्यान मे रखने योग्य है। 'समयसार' मे कुल ४१५ अथवा ४३९ श्लोक हैं।"

श्री कानजी स्वामी के शब्दो मे समयसार:—

"यह समयसार शास्त्र, आगमो का भी आगम है, लाखो शास्त्रो का सार इसमे विद्यमान है। जैन-शासन का यह स्तम्भ है, और साधकों के लिए कामधेनु-कल्पवृक्ष है। चौदह पूर्व का रहस्य इसमे भरा हुआ है। इसकी प्रत्येक गाथा छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्म-अनुभव से प्रगट हुई है।"

समयसार की टीकाएं

"श्री समयसार में भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य की प्राकृत गाथाओं पर आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका के लेखक (लगभग विक्रम संवत् की १० वीं शताब्दी में हो गये) श्री अमृतचन्द्राचार्य देव है। जिस प्रकार समयसार के मूल-कर्त्ता अलौकिक पुरुष हैं, वैसे ही इसके टीकाकार भी महासमर्थ आचार्य हैं। आत्मख्याति के समान टीका आजतक किसी भी जैनग्रन्थ की नहीं लिखी गई। उन्होने पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार की टीका भी लिखी है एवं तत्वसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। उनकी एक मात्र आत्मख्याति टीका का स्वाध्याय करने वाले को ही उनकी अध्यात्मरसिकता आत्मानुभव, प्रखरविद्वत्ता, वस्तुस्वरूप को न्याय से सिद्ध करने की उनकी असाधारण शक्ति का भली भाँति अनुभव हो जाता है। संक्षेप में ही गूढरहस्यो को भरदेने वाली उनका अनोखी शक्ति विद्वानो को आश्चर्य चकित कर देती है। उनकी यह दैवी टीका श्रुतकेवली के वचनो के समान है। जैसे मूलशास्त्र-कर्त्ता ने समयसार शास्त्र को समस्त निज वैभव से रचा है वैसे ही टीकाकार ने भी अत्यन्त सावधानी पूर्वक सम्पूर्ण निज वैभव से टीका की रचना की है, टीका के पढ़ने वाले को सहज ही ऐसा अनुभव हुए बिना नहीं रहता। शासनमान्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस कलिकाल मे जगद्गुरु तीर्थंकरदेव जैसा काम किया है और श्री अमृतचन्द्राचार्य ने मानो जैसे वे भगवान कुन्दकुन्द के हृदय में ही प्रवेश कर गये हो, इस प्रकार उसके गम्भीर आशय को यथार्थरूप से व्यक्त करके उनके गणधर जैसा काम किया है। आत्मख्याति मे विद्यमान काव्य (कलश) अध्यात्मरस और आत्मानुभव की तरगो से परिपूर्ण है। श्री पद्मप्रभदेव जैसे समर्थ आचार्यों पर उन कलशों ने गहरा प्रभाव जमाया है, और आज भी वे तत्वज्ञान एव अध्यात्मरस से परिपूर्ण कलश अध्यात्मरसिको की हृत्तन्त्री को झकृत कर देते हैं। अध्यात्म कवि के रूप मे श्री अमृतचन्द्राचार्य का स्थान जैन साहित्य में अद्वितीय है।

समयसार मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने ४१५ गाथाओ की रचना प्राकृत मे की है। उसकी श्री अमृतचन्द्राचार्य ने आत्मख्याति नामक तथा श्री जयसेनाचार्य ने तात्पर्यवृत्ति नाम की संस्कृत टीका लिखी है। उन आचार्य भगवन्तो द्वारा किये गये अनन्त उपकार के स्मरण मे हम उन्हे अत्यन्त भक्तिभाव से वन्दन करते हैं।

कुछ वर्ष पहले पण्डित जयचन्द्र जी ने मूल-गाथाओ का और आत्मख्याति का हिन्दी मे अनुवाद किया और स्वतः भी उसमे कुछ भावार्थ लिखा। वह शास्त्र 'समय प्राभृत के नाम से विक्रम संवत् १८६४ मे प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् पण्डित मनोहरलाल जी ने उसको प्रचलित हिन्दी भाषा मे परिवर्तित किया और श्री परम श्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा 'समयसार' के नाम से विक्रम सम्वत् १९७५ मे प्रकाशित किया गया। इसप्रकार प० जयचन्द्र जी, पण्डित मनोहरलाल जी और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल का मुमुक्षु समाज पर उपकार है।"

(समयसार प्रवचन की प्रस्तावना मे उद्धृत)

इनके अलावा स्व० ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने श्री जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद किया है जो सूरत से प्रकाशित हुआ है। इन सब टीकाओं का अध्ययन करते हुए हमे ऐसा अनुभव हुआ, कि वर्तमान समय के अनुकूल एक ऐसी टीका की

आवश्यकता है कि जो सर्वसाधारण को 'समयसार' के रहस्य का ज्ञान करासके, इसलिए यह प्रयत्न किया गया है। इसमे कहाँ तक सफलता प्राप्त होसकी है इसका निर्णय स्वयं विज्ञ पाठक कर सकते हैं। हम तो इतना ही कह सकते है, कि इसमे जो कुछ भी अच्छाई है वह सब महान पूर्व आचार्यों की और विद्वानो की कृतियो से ही उद्धृत की गई है । क्योंकि यह टीका, सभी पूर्व भाष्यकारों के आशय और शब्दो का संग्रहरूप है। और जो इसमे कहीं त्रुटियाँ रह गई हैं वे सब हमारे प्रमाद के कारण से हुई हैं। इसलिए पाठकवृन्द से निवेदन है कि वे उन त्रुटियो को ठीक करके अध्ययन करने की कृपा करें।

निर्दोषं निर्गुणं चात्र दृष्टं किमपि न श्रुतम् ।
अतोऽपहृत्य दोषान् वै गुणान् वृणाति धीधनः ॥

मंगलाचरणम्

स्वानुभूत्यैकमानाय लोकालोकविलोकिने ।
चिच्चमत्काररूपाय तस्मै शुद्धात्मने नमः ॥ १ ॥

भावार्थ— स्वानुभूति ही है एक प्रमाण जिसमे, जो लोक और अलोक के समस्त द्रव्यपर्यायादिको का द्रष्टा है तथा आश्चर्यजनक चैतन्यमात्र है रूप जिसका, ऐसे शुद्धस्वरूप आत्मा के लिए हमारा नमस्कार है ।

दासीकृता येन च मोक्षलक्ष्मी-
र्दूरीकृतं तामसतन्त्रजालम् ।
प्रदर्शितः शुद्धविमुक्तिमार्गो
वीरेश्वरं तं मनसा नमामि ॥ २ ॥

भावार्थ— मोक्षरूपी लक्ष्मी को दासी बनाने वाले, तामसतंत्र जाल को दूर करने वाले तथा जो शुद्ध मोक्षमार्ग के प्रदर्शक हैं ऐसे वीर भगवान को मैं मन से नमस्कार करता हूँ ।

वन्दे महावीरमनन्तशक्ति-
मनन्तदृग्बोधसुखस्वभावम् ।
तीर्थंकरं देववरं वरेण्य
नमामि भव्यात्मचकोरचन्द्रम् ॥ ३ ॥

भावार्थ— अनन्तशक्ति, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन आदि के धारक, सुखस्वरूप, देवो मे श्रेष्ठ देव, परमपूज्य तथा जो भव्यात्म चकोरो के लिए चन्द्रमा के समान हैं ऐसे भगवान् महावीर को मैं वन्दना करता हू ।

मुनीन्द्रचित्ताम्बुजचित्रभानुं
संसारदावानलतोयवृष्टिम् ।
अनादितामिस्रनिशाप्रभातं
तमादिनाथं सततं नमामि ॥ ४ ॥

भावार्थ— जो मुनीन्द्रो के चित्तरूपी कमलो को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के सदृश हैं, संसार रूपी दावानल को शान्त करने के लिए शीतल जल की वर्षा के तुल्य हैं तथा अनादि-काल से आने वाली अज्ञान-रूपी रात्रि का विनाश करने वाले प्रभात के समान हैं ऐसे आदिनाथ भगवान को मैं नित्य नमस्कार करता हू ।

पश्यन्ति यस्याः कृपया हि संसृतेः
सुसूक्ष्मतत्त्वान्यपि दिव्यचक्षुषा ।
ध्यानैकतानाः कवयश्च योगिनः
सरस्वती सा हृदये ममास्ताम् ॥ ५ ॥

भावार्थ— जिसकी कृपा से ध्यानावस्थित होकर कवि एवं योगिजन, दिव्यदृष्टि द्वारा संसार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों का अवलोकन करते हैं वह सरस्वती देवी मेरे हृदय में स्थित हो।

प्राप्तो मया पावनतत्त्वबोधो
येषां प्रसादान्मुनिपुङ्गवान् तान् ।
परोपकारे निरतांश्च नत्वा
ब्रवीमि सारं समयस्य भक्त्या ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिन मुनीश्वरो की कृपा से मैंने पवित्र तत्वज्ञान प्राप्त किया है। उन मुनीश्वरो को जो कि परोपकार में संलग्न रहते हैं, भक्ति से नमस्कार करके शुद्धात्मतत्व का वर्णन करता हूँ।

स्वा० निजानन्द (क्षुल्लक)
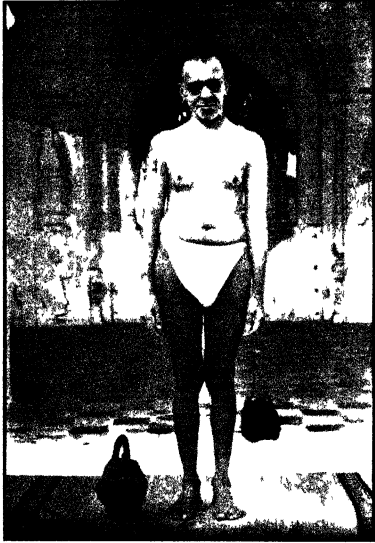
श्री १०५ क्षुल्लक निजानन्द जी

समयसारः

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः ।

समयसारः ।

निजानन्दीयटीकासहितः

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गईं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियम् ॥ १ ॥

नत्वा सिद्धान् गतिं प्राप्ता ननौपम्यां च शाश्वतीम् ।
समयप्राभृतं वक्ष्ये केवलिकथितं यथा ॥ १ ॥

भावार्थ—श्री भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि— ध्रुव, अचल तथा अनुपम गति को प्राप्त सर्व सिद्धों को नमस्कार करके, मैं श्रुत केवली द्वारा कथित इस समय प्राभृत (१) अर्थात् प्रकरण— को कहता हूं।

विशेषार्थ—समयसारः-यद्यपि समय शब्द शपथ, आचार सिद्धान्त और काल वाचक प्रसिद्ध है।यथा—'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्त- संविदः" (अमरकोप)। "क्रियाकारे च निर्देशे संकेते काल भाषयोः" (मेदिनी) परन्तु इस अध्यात्म ग्रन्थ में समय शब्द का अर्थ आत्मा है, और सार शब्द का अर्थ शुद्ध है, अतः समय सार का अर्थ हुआ आत्मा की शुद्धावस्था, इस ग्रन्थ मे शुद्धात्म तत्त्व का वर्णन किया गया है अतः इस ग्रन्थ का नाम "समयसार" सार्थक हुआ।

नोट— (१) समयप्राभृतम्— समयः सम्यक् अयः, बोधो यस्य सभवति स समय आत्मा। अथवा सम्, एकीभावेनायन गमन समयः। प्राभृत सार, सार शुद्धावस्था। समयस्यात्मन. प्राभृत समयप्राभृतम्। अथवा समय एव प्राभृत समयप्राभृतम्॥

अथवा

सम=य, समय। सम याति, प्राप्नोतीति समयः। अर्थात् समत्व (साम्यभाव) को जो प्राप्त हो उसे समय कहते हैं। साम्यभाव के विषय मे श्री आचार्य पद्मनन्दि कहते हैं कि—

"नाकृतिर्नाक्षर वर्णो नो विकल्पश्च कश्चन। शुद्धचैतन्यमेवैक यत्र तत्साम्यमुच्यते"॥ ६५॥

अर्थ— जिस मे न कोई आकार है और न कोई अक्षर है और न कोई नीलादि वर्ण है और न जिस मे गुणादिक की भेद कल्पना है, किन्तु जिस में केवल एक चैतन्य है वही साम्य है।

इस प्रकार निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य को 'समय' कहते हैं। तथा प्रकरण का नाम "प्राभृत" है और प्राभृत को ही 'सार' कहते हैं। अतः जिस ग्रन्थ मे समय (शुद्धैकत्व) का वर्णन हो उसे "समयसार" कहते हैं।

सिद्ध— जैन दर्शन में आत्मा की तीन अवस्थायें बतलाई गई है (१) बहिरात्मा— उस संसारी जीव को कहते हैं जो आत्मपरामुख होकर ससार को ही अपना ध्येय मानता है और शरीरादि को ही आत्मा मान कर उसी मे मग्न रहता है। (२) अन्तरात्मा— जिस के हृदय में आत्म रुचि, श्रद्धा, प्रेम उत्पन्न हो चुका हो तथा ससार से विरक्ति उत्पन्न हो गई हो।

(३) परमात्मा— परमात्मा के दो भेद हैं एक सकल और दूसरा निष्कल।

सकल परमात्मा— आत्मगुणों के घातक, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय आदि चार कर्मों का नाश करके जिन्होंने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तसुख प्राप्त कर लिया हो ऐसे जीवनमुक्तो को जैन परिभाषा मे "सकल परमात्मा" तीर्थङ्करादि कहते है।

निष्कल परमात्मा—जिन के सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होगया हो उनको "निष्कल परमात्मा" तथा "सिद्ध" कहा जाता है।*

परमात्मा द्विविधः सकलः तथा निष्कलः इति ज्ञातव्यः। सकलः अर्हत्स्वरूपः, सिद्धः-पुनः निष्कलो भणितः॥

तीर्थङ्कर ही धर्ममार्ग के प्रवर्तक होते हैं, अतः कुन्दकुन्दाचार्य ने सिद्धो को नमस्कार **करके केवलियों के कथनानुसार** ही ' समयसार" की रचना की है।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयम्॥ २॥

दर्शनज्ञानवृत्तेषु स्थित स्वसमयं विदुः।
स्थितःपुद्गलपर्याये यः सोऽन्य समयो मतः॥ २॥

भावार्थ—जो दर्शन ज्ञान तथा चरित्र मे स्थित आत्मा है उसे स्वसमय" कहते हैं, तथा जो ज्ञान दर्शनादि आत्मीय गुणो से भिन्न पुद्गलादि पर पदार्थों मे स्थित हैं, उनको ' परसमय" कहते है।

विशेषार्थ—जैन शास्त्र में द्रव्य को अनन्त गुणात्मक माना जाता है। अतः आत्मद्रव्य भी अनन्त गुणात्मक है उनमे से तीन गुणों का विशेष महत्व है (१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक् चारित्र। ये तीनो गुण, रत्नत्रय के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इन तीनो गुणों का वर्णन श्रीपद्मनन्दि मुनि ने निम्न क्रम से दिया है—

---

* श्रीपूज्यपाद स्वामी जी ने आत्मा की तीन अवस्थाओं का वर्णन समाधितन्त्र नामक ग्रन्थ म निम्न क्रम से दिया है—

"बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु" (४)

इसी प्रकार माण्डूक्योपनिषद् में भी आत्मा की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया हैं यथा—

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्त प्रज्ञस्तु तैजसः। घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः॥

अर्थात्—

विभु=विश्व, बहि.प्रज्ञ (बहिरात्मा) है। तैजस, अन्त प्रज्ञ (अन्तरात्मा) है और प्राज्ञ, घनप्रज्ञ (परमात्मा) है। इस प्रकार एक ही आत्मा तीन प्रकार से कहा गया है।

(इस विषय का विस्तार पूर्वक विवेचन हमने ईश्वर मीमांसा नामक ग्रन्थ में किया है)

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते ।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ॥

अर्थ— शुद्धात्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्मा मे स्थिति सम्यक् चारित्र है । तीनों की एकता ही मोक्ष का मार्ग है। यह रत्नत्रय निश्चय और व्यवहार भेद से दो प्रकार का है, जिस का वर्णन स्वय आचार्य इसी शास्त्र में आगे करेगे।

सारॉश यह है कि जो मुक्त (अर्थात् सकल और निकल) परमात्मा हैं उनको यहाँ "स्वसमय" कहा गया है, तथा जो पर पदार्थों मे स्थित है अर्थात् जो मुक्त नही हुए हैं, उनको "परसमय" कहा गया है । स्वयं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने "रयणसार" में स्वसमय और परसमय का निर्देश निम्न प्रकार से किया है—

बहिरन्तरात्मभेदः परसमयः भण्यते जिनेन्द्रैः ।
परमात्मा स्वकसमयः तद्भेदं जानीहि गुणस्थाने ॥

अर्थात्— अन्तरात्मा और बहिरात्मा ये दोनो परसमय हैं और परमात्मा स्वसमय कहलाते है।

एव पञ्चास्तिकाय गाथा १५४, १५५ की व्याख्या करते हुए श्री जयसेनाचार्य जी लिखते हैं कि—

"शुद्धात्माश्रितः स्वसमयो मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामाश्रितः परसमय इति" तथा च, जीवो निश्चयेन स्वभावनियतोऽपि अनियतगुणपर्यायः सन्नथ परसमयो भवति तथाहि— जीवः, शुद्धनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्तावत् पश्चाद् व्यवहारेण निर्मोहः शुद्धात्मोपलब्धि-प्रतिपक्षभूतेनेनादिमोहादयवशेन मतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायपरिणतः सन् परसमयरत.-परचरितो भवति, यदातु निर्मलविवेकज्योतिः समुत्पादकेन परमात्मानुभूति-लक्षणन=परमकलानुभवेन शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मान भावयति तदा स्वसमयः स्वचरितरतो भवति।

अर्थात् जो मिथ्यात्वादि विभाव, भाव मे परिणत हैं उनको परसमय कहा गया है और जो निर्मल ज्योतिःस्वरूप स्वशुद्धात्मभाव में रत हैं उनको स्वसमय कहा गया है। परसमय को परचरित तथा स्वसमय को स्वचरितरत भी कहा जाता है। इन गाथाओं का यही भाव श्रीअमृतचन्द्राचार्य ने भी व्यक्त किया है।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र दो प्रकार के हैं, एक व्यवहार दूसरा निश्चय। इस गाथा में निश्चय रत्नत्रय मे स्थित आत्मा को ही स्वसमय कहा है तथा व्यवहारिक सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि को परसमय कहा गया है ।

स्वशुद्धस्वरूप आत्मा ही उपादेय है और परसमय हेय है इसी को अग्रिम गाथा मे आचार्य कहते है।

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थसुन्दरो लोए ।
बंधकहाएयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

शुद्धैकत्वं गतश्चात्मा सर्वत्र सुन्दरो भवेत् ।
कथाबन्धस्य चैकत्वे सा विसंवादिनी मता ॥ ३ ॥

भावार्थ— नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव जो स्वसमय अर्थात् आत्मा है सर्वत्र वही सुन्दर अर्थात् उपादेय है उस शुद्ध आत्मा मे जो बन्धादिकी आरोप करने वाली कथा है वह विसवादिनी अर्थात् मिथ्या है क्योकि वह संकरत्वादि दोष उत्पन्न करने वाली है।

विशेषार्थ— संसार मे जितने भी द्रव्य है वे सभी स्वाश्रित और अपने ही गुणपर्यायों मे परिणमन करते है, उनका दूसरे के गुणपर्याय से समिश्रण नही हो सकता। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के गुण पर्याय मे परिणत होने लगजाय तो सकरत्वादि दोषो के सद्भाव से सम्पूर्ण द्रव्यों का ही उच्छेद होजाय, इसलिये आचार्य कहते हैं कि निश्चयनय से सम्पूर्ण आत्माये शुद्धबुद्ध-नित्यमुक्तस्वभाव हैं। आत्मा का एक भी प्रदेश पुद्गलरूप न हुआ है, न होसकता है, इसलिये निश्चयनय से आत्मा मे बन्ध कथा का प्रश्न ही असंगत है, अतः इस आत्मसम्बन्धी बन्ध कथादि को विसंवादिनी मिथ्या तथा हेय कहा गया है। तथा शुद्ध आत्मतत्त्व को ही एक मात्र उपादेय बताया गया है। परन्तु यह शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धि अत्यन्त उपादेय होते हुए भी सब के लिये सुलभ नही है आचार्य इसी का वर्णन आगे करते है।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ ४ ॥

या कामभोगबन्धस्य सर्वेषां सुलभा कथा।
दृष्टा श्रुतानुभूता सा विभक्तैकत्वयोर्नवा ॥ ४ ॥

भावार्थ— सम्पूर्ण सासारिक प्राणियो के लिये काम भोग सम्बन्धी कथाये तो सुलभ हैं, क्योकि उन्होने अनादिकाल से अनन्तबार इनको सुना है इनसे परिचय प्राप्त किया है अर्थात् इनको जाना है तथा इनका अनुभव भी किया है। परन्तु रागादि से रहित सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की ऐक्य रूप परिणति निर्विकल्प समाधिगम्य होने से दुर्लभ है, क्योकि यह न सुना हुआ है न अनुभूत है।

विशेषार्थ— वास्तव मे आत्मरुचि आत्मज्ञान वा आत्मसयम, कोई हँसी खेल नहीं है। जिनको कभी भी आत्मचर्चा का अवसर प्राप्त नहीं हुआ उनकी तो बात ही क्या है, अपितु जो बराबर शास्त्र आदि सुनते है, सत्सग करते है, और स्वाध्याय आदि भी करते है, उनको भी आत्मरुचि व आत्मज्ञान अथवा आत्मसयम नहीं होता अपितु वे आयुभर सांसारिक भोगो की अनुभूति मे ही समय नष्ट कर देते है। बडे बडे शास्त्रज्ञ भी कषायो की मूर्ति ही बने रहते हैं। तथा स्त्री पुत्र व शरीरादि के मोह मे फसे हुए रात दिन ईर्षा द्वेष की अग्नि मे जलते रहते हैं। उनका शास्त्र, दर्पण की तरह दूसरो को ही मुखावलोकन कराने के लिये होता है। तथः च— अनेक त्यागी व मुनिगण भी भोजन वस्त्रादि की कथाओ मे ही समय नष्ट कर देते है तथा गृहस्थ अवस्थाओं की कथाओ के कहने मे एव उनके चिन्तन मे ही मग्न रहते हैं। साराश यह है कि अनादि काल से यह आत्मा, मोह जाल मे फँसे होने के कारण सांसारिक भोग विलास की कथा मे ही मग्न रहता है *इसी लिये इसको आत्मरुचि, आत्मचर्चा तक नही सुहाती जैसा कि कहा है—

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयस्नेहः स्थिरो वर्तते,
तावन्नश्यति दुःखदानकुशलः कर्मप्रपंचः कथम्।
आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटाः शुष्यंति किं पादपाः,
भृज्जत्तापनिपातरोधनपराः शाखोपशाखान्विताः ॥

*यहाँ पर रसना और त्वगिन्द्रिय के विषयों को काम, तथा चक्षु, श्रोत्र और घ्राणेन्द्रिय के विषयों को भोग शब्द से वर्णन किया गया है।

अर्थ— जबतक बाह्यवस्तुओं में आसक्ति स्थिर हो तबतक किस तरह दुःखदाई कर्म प्रपंचों का नाश हो सकता है, जब जमीन पानी से भीगी हुई हो तब उसके ऊपर सूर्यताप को रोकने वाले, अनेक शाखाओ से मंडित जटाधारी वृक्ष कैसे सूख सकते हैं।

तथा च—

जननमृत्युजरानलदीपितं जगदिदं सकलोऽपि विलोकते ।
तदपि धर्ममतिं विदधाति नो रतमना विषयाकुलितो जनः ॥

अर्थ—समस्त जगत को जन्ममृत्यु रूपी तीव्र अग्नि से तपते हुए देखकर भी विषय लोलुप प्राणी धर्म में चित्त को नहीं लगाता है।

अतः दुर्लभ आत्मतत्व का वर्णन करने के लिये आचार्य आगे कहते हैं—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वम् ॥ ५ ॥

दर्शयामि विभक्तं तं स्वात्मनो विभवेन वै ।
यद्यत्र स्खलनं भूयान्नैव ग्राह्यं छलं बुधैः ॥ ५ ॥

भावार्थ— मैं उस दुर्लभतर आत्मैकत्व का कथन करता हूं। यद्यपि मैं आगम, तर्क, परम-गुरूपदेश, स्वानुभूति आदि सम्पूर्ण साधनो द्वारा इस शुद्धात्म-तत्त्वावलोकन कराने का यत्न करूंगा, फिर भी यदि कहीं स्खलन हो जाये, तो विद्वानो को चाहिये कि उसको ठीक करले, किन्तु उसमें छलादि का प्रयोग न करे।

विशेषार्थ— यद्यपि इस विषय मे कुन्दकुन्दाचार्य का वैभव अपार है जिसको हमने निम्नलिखित श्लोक मे संगृहीत किया है—

गुरोः प्रसादात्सकलागमाद्वा,
प्रकृष्टतर्केण परीक्ष्य बुद्ध्या ।
समाहितान्तः करणेन बोधा-
च्छुद्धं विभुं स्वानुभवेन वक्ष्ये ॥

अर्थात्— श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने इस विषय का आचार्य परम्परा से श्रवण और मनन किया है तथा सम्पूर्ण अध्यात्मशास्त्रों का दीर्घकाल पर्यन्त अध्ययन करके आत्मज्ञान प्राप्त किया है, और प्रकृष्ट तर्कों से बुद्धि की कसौटी पर कसकर इसका निर्णय किया है। इतना ही नहीं अपितु स्वयं निर्विकल्प समाधि मे लीन होकर आत्मसाक्षात्कार किया है। उपर्युक्त सभी साधनो के आधार पर ही इस शुद्धात्मतत्त्व का वर्णन करने लगे हैं। इतना होने पर भी यह शुद्ध आत्मतत्व एक तो अश्रुतपूर्व है, दूसरी बात यह है कि सर्वसाधारण की रुचि का यह विषय नही है तथा यह तत्व अनिर्वचनीय और अज्ञेय है अर्थात् मन और बुद्धि आदि की पहुंच से परे है। इसीलिये—

नेति नेति वदन्तीदं निश्चयादात्मदर्शिनः ।
योगिभिर्ध्यानगम्यं वा केवलज्ञानगोचरम् ॥
(मदीयम्)

इस पर भी कथन करने का जो साधन है वह इतना अपर्याप्त है कि उससे अचिन्त्य

निर्विकल्प आत्मतत्त्व की तो बात ही क्या है, साधारण से साधारण विषय का भी समीचीन वर्णन करना असम्भव है। क्योंकि संसार मे आजतक कोई भी भाषा इस प्रकार की उपलब्ध नहीं है. जो किसी भी तत्व का संपूर्ण रूप से अविकल वर्णन कर सके। इसीलिये शास्त्रकारों ने लिखा है कि—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्योः न मेधया न बहुनाश्रुतेन"

अर्थात्— यह आत्मा न बहुत बोलने से प्राप्त हो सकती है, न प्रज्ञा से, और न अधिक शास्त्रश्रवण से ही। इसी बात को योगेन्द्राचार्य ने परमात्मप्रकाश मे कहा है कि—

"वेदैः शास्त्रैरिन्द्रियैर्यो जीवो गन्तुं न याति।
निर्मलध्यानस्य यो विषयः स परमात्मा, अनादिः॥"

अर्थात्— परमात्मा वेद से शास्त्रों से प्राप्त नहीं हो सकता, अपितु विशुद्ध ध्यान से ही प्राप्त हो सकता है। अभिप्राय यह है कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य उस अचिन्त्य अज्ञेय अमेय तत्व का वर्णन करने लगे हैं जिसका वाणी से वर्णन करना असम्भव है। क्योंकि वह वाणी का विषय ही नहीं है। फिर भी संसार के उपकारार्थ उसका वर्णन अपनी सम्पूर्ण शक्ति से करते हैं। अतः उसमें कहीं भूल प्रतीत होने लगे तो उस में छल ग्रहण न करें क्योंकि यह विषय ही महान कठिन एवं अश्रुतपूर्व है।

शुद्धात्मतत्व का वर्णन आचार्य प्रारम्भ करते है—

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओउ जो भावो।
एवं भणंति शुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव॥ ६॥

प्रमत्तो नाप्रमत्तोऽयं यो भावो ज्ञायको मतः।
एव वदन्ति शुद्धं त ज्ञातो यश्च स एव सः॥ ६॥

भावार्थ— शुद्धात्मा क्या है? यह प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि शुद्ध निश्चयनय से जीव मे शुभाशुभ परिणाम का अभाव होने से न वह प्रमत्त है, न अप्रमत्त है। किन्तु ज्ञानस्वरूप वह आत्मा जैसा है वैसा ही है, अर्थात् वह ज्ञाता ही है।

विशेषार्थ— जैनशास्त्र मे चौदह गुणस्थान अर्थात संसारी जीव की चौदह श्रेणियाँ मानी गई हैं। जैसे—

मिथ्यादृक् सासनो मिश्रोऽसंयतोऽणुव्रतस्ततः,
सप्रमादेतराऽपूर्वानिवृत्तिकरणास्तथा।
सूक्ष्मलोभोपशांताख्यौ निर्मोहौ योग्ययोगिनौ,
गुणाश्चतुदशेत्येते मुक्तामुक्तगुणाः परे॥

(अनगार धर्मामृते)

अर्थात्— १- मिथ्यात्व २- सासादन ३- मिश्र ४- असंयत सम्यग्दृष्टि ५- अणुव्रत ६- प्रमत्तसयत ७- अप्रमत्त ८- अपूर्वकरण ९- अनिवृत्तिकरण १०- सूक्ष्मसांपराय ११- उपशांत-मोह १२- क्षीणमोह १३- सयोग केवली और १४- अयोगकेवली।

इन मे से आदि के ६ गुणस्थानों की प्रमत्त संज्ञा है, और अन्त के आठ गुणस्थानों की अप्रमत्त संज्ञा है। आचार्य महाराज कहते हैं कि यह सम्पूर्ण प्रमत्ताप्रमत्तादि भेद, कर्मों की औदायिक तारतम्य अवस्था के हैं। निश्चयनय से आत्मा कर्मों से निर्लिप्त है। अतः ये गुणस्थानादि निश्चयनय से आत्मा के नहीं हो सकते। शुद्ध दृष्टि से तो आत्मा शुद्धबुद्धैकस्वभाव है।

इन चौदह गुणस्थानों का जैन दर्शन में बहुत ही तात्विक व सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। इस विषय का पूर्ण विवरण देने वाला एक "करणानुयोग" नामक विभाग ही जैनशास्त्र में पृथक् रूप से है। इस विभाग में सैकड़ों ग्रन्थ हैं। "षट्खण्डागम" और गोम्मटसारादि विशेष प्रसिद्ध हैं।

योगवासिष्ठ आदि में भी इन गुणस्थानो का वर्णन भूमिका के नाम से किया गया है, जिनकी सख्या सात है। अर्थात् उन्होने चतुर्थगुणस्थान से प्रथम भूमिका प्रारम्भ की है और नवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानत क की चर्चा ही नहीं की। इतने पर भी यह वर्णन अधूरा सा है, क्योंकि इन गुणस्थानो मे भी जीव के क्या क्या भाव होते हैं, इसका कोई क्रम से तात्विक विवेचन नहीं किया है। न जैन शास्त्र की तरह कर्मों की प्रकृतियों का उदय अथवा उनका उपशम, क्षयोपशम, या क्षयादि का ही वर्णन किया है।

अतः जो विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहें उनको चाहिये कि वे जैन शास्त्र का स्वाध्याय करें। योगवासिष्ठ मे निम्न क्रम से इन गुणस्थानो का भूमिका के रूप मे संक्षिप्त वर्णन दिया है यथा—

सप्तभूमिकायें।

"शास्त्रसज्जनसंपर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत् ।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता योगस्यैव च योगिनः ॥ १ ॥
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीयाऽसङ्गभावना ।
विलापिनी चतुर्थी स्याद्वासना विलयात्मिका ॥ २ ॥
शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी ।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति ॥ ३ ॥
स्वसंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका ।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशस्थितिः ॥ ४ ॥
तुर्यावस्थोपशान्ता च मुक्तिरेवेह केवलम् ।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत्" ॥ ५ ॥

अर्थ— योगवासिष्ठ में मुक्तिकी सात भूमिकायें अर्थात् श्रेणियाँ मानी गई हैं। यथा—

१— आत्मरुचि पूर्वक सद्गुरुओं से अध्यात्मशास्त्र का श्रवण करना।
२— विचारणा अर्थात् श्रुतार्थ का मनन।
३— विरक्तिपूर्वक अद्वितीयात्मभावना (निदिध्यासन)
४— विलापिनी- अर्थात् तत्व "आत्म" साक्षात्कार द्वारा अज्ञानादि के नाश करने वाली।

५— शुद्धज्ञानानन्दरूपा, इस भूमिका में अर्धसुप्त और अर्धजागृत की सी दशा रहती है।
६— स्वसंवेदनरूपा, इस भूमिका में आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तावस्था की सी दशा रहती है।
७— मुक्तिरूपा, इस भूमिका में आत्मा अपने अत्यन्त शान्त निज शुद्धबुद्धैक स्वभाव में स्थित होजाता है।

आगे आचार्य कहते हैं कि गुणस्थानो की तरह सम्यग्दर्शन आदि भेद भी आत्माके नहीं हैं:-

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

चारित्रं दर्शनं ज्ञानं ज्ञानिनो व्यवहारतः।
निश्चयाज्ज्ञायकः शुद्धो दृग्ज्ञानचरणं कुतः ॥ ७ ॥

भाषार्थ— ज्ञानी के शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि विकल्प भी नहीं है, ज्ञानी तो ज्ञायक मात्र ही हैं। इसीलिये शुद्ध कहा गया है। ज्ञानी की दृष्टि मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र आदि की कल्पना भी व्यवहार दृष्टि से ही है।

विशेषार्थ— जैनदर्शन में दो प्रकार के नय अर्थात् दृष्टिकोण माने गये हैं। एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय।

निश्चयनय— जो आत्मा को सब अवस्थाओ मे शुद्ध निर्लिप्त, गुणपर्यायादि भेद शून्य तथा निरपेक्ष दृष्टि से वर्णन करता है, उसको निश्चयनय कहते हैं। अर्थात् इसकी दृष्टि मे द्रव्य मे अस्ति नास्ति गुण पर्यायादि की चर्चा भी उपेक्षणीय होती है। अत॰ आचार्य महाराज ने इस गाथा मे कहा है कि साधक को दर्शन ज्ञानादि, जोकि जीव के स्वाभाविक गुण हैं, उनको भी उपेक्षणीय दृष्टि से देखकर निर्विकल्प समाधि मे लीन होना चाहिये। क्योंकि यदि साधक इन गुणों तथा इनके आवरक कर्मों के विवादो में ही रत रहेगा, तो वह शुद्धात्मानुभूति नहीं प्राप्त कर सकेगा। इस दृष्टिकोण से ही आचार्य महाराज ने ज्ञानियो की दृष्टि मे ज्ञानादि को भी व्यावहारिक बनाया है, और शुद्ध निश्चयनय से उसका निषेध किया है। व्यवहारनय का वर्णन आचार्य आगे करेगे। जिसमे भेद विवक्षा से द्रव्य को शुद्ध अशुद्धादि अनेक भेदात्मक बताया गया है।

शका— यदि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं है, तो इनका वर्णन क्यों किया जाता है।

उत्तर—

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कम् ॥ ८ ॥

म्लेच्छभाषां विना म्लेच्छः शक्यो बोधयितुं नहि।
विना भेदेन तद्वन्न शुद्धतत्वस्य वर्णनम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ— जिस प्रकार म्लेच्छो को बिना म्लेच्छ भाषा के समझाना असम्भव होता है, उसी प्रकार व्यावहारिक जनो को व्यवहारनय के बिना आत्मतत्व का समझाना दुस्तर है। अतः व्यवहारनय से अभेदात्मक तत्व मे भेद कल्पना करके वर्णन किया गया है।

विशेषार्थ— आचार्य कहते हैं, कि आत्मा का जितना भी भेदात्मक वर्णन है, वह सब

साधारण व्यक्तियों को समझाने के लिये है। "बृहद्द्रव्यसंग्रह" की टीका में गाथा नं० १४ में श्री ब्रह्मदेव सूरि ने इस विषय को निम्नप्रकार स्पष्ट किया है—

मध्यमरुचिशिष्यापेक्षया सम्यक्त्वादि गुणाष्टक भणितम्। मध्यमरुचिशिष्यं प्रति पुनर्विशेषभेदनयेन निर्गतित्वं, निरिन्द्रियत्व, निष्कायत्वं, निर्योगत्वं, निर्वेदत्वं, निष्कषायत्वं निर्नामत्वं, निर्गोत्रत्वं, निरायुषत्वमित्यादि विशेषगुणास्तथैवास्तित्ववस्तुत्वप्रमेयत्वादिसामान्यगुणाः स्वागमाविरोधेनानन्ता ज्ञातव्याः। संक्षेपरुचिशिष्यं प्रति पुनर्विवक्षिताभेदनयेनानन्तज्ञानादिचतुष्टयम्, अनन्तज्ञानदर्शनसुखत्रयम्, केवलज्ञानदर्शनद्वयम्, साक्षादभेदनयेन शुद्धचैतन्यमेवैको गुण इति। अर्थात्—

मध्यमरुचि शिष्य के लिये सिद्धों के सम्यक्त्वादि आठ गुणों का वर्णन सामान्यतः किया गया है। उन्हीं के लिये पुनः विशेष भेदनय से निर्गतित्व, निरिन्द्रियत्व, निष्कायत्व निर्योगत्व आदि विशेष गुण तथा अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य गुणों का वर्णन स्वागमाविरोधेन किया गया है। और संक्षेपरुचि शिष्य के लिये विवक्षित अभेदनय से क्रमशः अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तसुख ये चार गुण, तथा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख ये तीन गुण या अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन ये दो गुण कहे गये हैं और साक्षात् अभेदनय से तो शुद्धचैतन्य यह एक ही गुण बताया गया है।

साराश यह हुआ कि भेद कल्पना से जितना भी विस्तार पूर्वक वर्णन है वह सब साधारण मनुष्यों को दुर्गम आत्मतत्व समझाने के लिये है।

इसी बात को श्रीपद्मनन्दि मुनि ने निश्चयपंचाशत् में कहा है—

"व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रितः किंचित्॥"

अर्थ— व्यवहारनय अज्ञानी को समझाने के लिये है, और शुद्धनय तो कर्मों के क्षय के लिये है। इसलिये मैं मोक्ष का इच्छुक होकर अपने आत्मा के कल्याण के लिये उस शुद्ध निश्चयनय के आश्रित होकर ही कुछ कहूंगा।

व्यवहारनय किस प्रकार परमार्थ का प्रतिपादक है इसे आगे वर्णन करते हैं।

जो हिसुएणाहि गच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुय केवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा॥ ९॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा॥ १०॥

आत्मानं केवलं शुद्धं विजानाति श्रुतेन यः।
श्रुतकेवलिनं तं तु प्रवदन्ति जिनेश्वराः॥ ९॥
सकलं यः श्रुतं वेत्ति सोऽपि स्याच्छ्रुत केवली।
सर्वज्ञानमयश्चित् त भेदाद् वदन्त्यतो जिनाः॥ १०॥

भावार्थ— जो जीव निश्चयकर श्रुतज्ञान से इस अनुभव गोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को संमुख हुआ जानता है, उसे लोक को प्रत्यक्ष देखने वाले ऋषीश्वर, श्रुतकेवली कहते हैं॥ ९॥

जो जीव सब श्रुतज्ञान को जानता है उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि सब ज्ञान आत्मा ही है। इस कारण आत्मा को ही जानने से श्रुतकेवली कहा जाता है॥ १०॥

उपर्युक्त दो गाथाओं में निश्चय श्रुतकेवली तथा व्यवहार श्रुतकेवलियों का वर्णन किया गया है। श्रुतकेवलियों को समझने के लिये पहले श्रुतज्ञान का ज्ञान लेना आवश्यक है।

जैनशास्त्र में पाँच प्रकार का ज्ञान माना जाता है। १— मतिज्ञान २— श्रुतज्ञान ३— अवधिज्ञान ४— मनःपर्ययज्ञान और ५— केवलज्ञान।

(१) मतिज्ञान— पाँच इन्द्रिय तथा मन के द्वारा सीधा किसी पदार्थ का जानना 'मतिज्ञान" है। जैसे स्पर्शनेन्द्रियादि से शीत, उष्ण, रूखा, चिकना आदि का जानना। तथा मनके द्वारा दूर से किसी अपूर्व बातको एकाएक जान लेना।

(२) श्रुतज्ञान— मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ द्वारा दूसरे पदार्थ या विषय का जानना "श्रुतज्ञान" है। जैसे=कान से "आत्मा" शब्द सुना यह मतिज्ञान है. और "आत्मा" शब्द से आत्मा के गुण पर्याय आदि का बोध करना, यह श्रुतज्ञान है।

(३) अवधिज्ञान— अवधि नाम मर्यादा या सीमा का है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए पुद्गलो का या पुद्गल सहित अशुद्ध जीवो का जानना इसका काम है।

(४) मनः पर्ययज्ञान— दूसरो के मन मे पुद्गल व अशुद्ध जीवो के सम्बन्ध मे क्या विचार चल रहा है व विचार हो चुका है व विचार होवेगा, उस सर्व को जो आत्मा के द्वारा जान सके वह 'मनः पर्ययज्ञान" है।

(५) केवलज्ञान— सर्व ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से अनन्तज्ञान का प्रकाश होना केवलज्ञान है।

श्रुतज्ञान— इन पूर्वोक्त पाँचो ज्ञानो में श्रुतज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है। क्योकि श्रुतज्ञान से ही शास्त्रज्ञान होकर आत्मा का भेदविज्ञान होता है, कि यह आत्मा भावकर्म रागादि और द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि व नोकर्म शरीरादि से भिन्न है, शुद्धबुद्धैकस्वभाव है। जिसको यह आत्मानुभव होजाता है वही भावश्रुतज्ञान को पा लेता है। यही निश्चयश्रुतकेवली कहलाता है। यही आत्मानुभूति उसके केवल ज्ञान को प्रकाशित कर देती है। यदि किसी योगी को अवधि-ज्ञान व मनःपर्ययज्ञान न भी हो, तो भी श्रुतज्ञान के बल से केवलज्ञान हो सकता है। अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान का विषय ही शुद्ध आत्मा नहीं है। ये तो रूपी पदार्थ को ही जानते है। जबकि श्रुतज्ञान अरूपी पदार्थ को भी जान सकता है। इसीलिये श्रुतज्ञान प्रधान है। यह श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है। एक निश्चयश्रुतज्ञान, दूसरा व्यवहारश्रुतज्ञान।

निश्चयश्रुतज्ञान के सम्बन्ध में "नागसेन मुनि" जी कहते है कि—

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः।
ततः स्थिरं मनोध्यानं श्रुतज्ञानं हि तात्त्विकम्॥

अर्थ— योगी जन मन द्वारा श्रुतज्ञान के बल से ध्यान करते हैं, इसलिये स्थिर मन ही ध्यान है यही निश्चय (तत्त्वरूप) श्रुतज्ञान है।

व्यवहार श्रुतज्ञान— शास्त्र द्वारा तथा अनुमानादि के द्वारा जो आत्मज्ञान होता है उसे व्यवहार श्रुतज्ञान कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं, जिनका वर्णन आगे करेंगे।

सारांश यह है कि जिन योगियों को समाधि द्वारा आत्मा की मानसिक अनुभूति होगई है, उनको निश्चयश्रुत केवली कहते है और जिन को केवल शास्त्र और अनुमानादि द्वारा ही

आत्मज्ञान प्राप्त है, उनको व्यवहारश्रुत केवली कहते हैं।

अथवा—

जैनशास्त्र में चार प्रकार के ध्यान माने गये हैं। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें से आर्त, रौद्र तो शोक, भय, चिन्ता आदि के कारण हैं, और पाप मूलक हैं। तथा धर्मध्यान पुण्य रूप हैं। एवं शुक्लध्यान मोक्ष का कारण है। शुक्लध्यान का लक्षण ज्ञानार्णव में निम्न प्रकार से दिया है।

"निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते॥"

अर्थ— जो निष्क्रिय अर्थात् क्रिया रहित है, इन्द्रियातीत है, और ध्यान की धारणा से रहित है अर्थात् "मैं इसका ध्यान करूँ" ऐसी इच्छा से रहित है और जिस में चित्त अन्तर्मुख अर्थात् अपने स्वरूप ही के सन्मुख है उसको शुक्लध्यान कहते हैं।

शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा।
वैडूर्यमणिशिखा इव सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च॥

अर्थ— आत्मा के शुचिगुण के सम्बन्ध से इसका नाम शुक्ल पड़ा है। कषाय रूपी रज के क्षय होने से अथवा उपशम होने से जो आत्मा के निर्मल परिणाम होते हैं, वही शुचिगुण का योग है, और वह शुक्लध्यान वैडूर्यमणि की शिखा के समान निर्मल और निष्कंप अर्थात् कपन से रहित है।

"छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्तिते।
द्वे त्वन्त्ये क्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम्॥"

अर्थ— शुक्लध्यान के पृथकत्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरत-क्रियानिवृत्ति ऐसे चार भेद हैं। उनमे से पहिले के दो भेद अर्थात् पृथकत्ववितर्क और एकत्ववितर्क तो छद्मस्थ योगी अर्थात् बारहवें गुणस्थान पर्यन्त अल्पज्ञानियो के होते हैं। और अन्त के दो रागादि दोषो से सर्वथा रहित केवलज्ञानियों के होते हैं।

"श्रुतज्ञानार्थसम्बन्धाच्छ्रुतालम्बनपूर्वके।
पूर्वे परे जिनेन्द्रस्य निःशेषालम्बनच्युते॥"

अर्थ— प्रथम के दो शुक्लध्यान जोकि छद्मस्थो के होते हैं, वे श्रुतज्ञान के अर्थ के सम्बन्ध से श्रुतज्ञान के आलम्बन पूर्वक है अर्थात् उनमे श्रुतज्ञान पूर्वक पदार्थ का आलम्बन होता है। और अन्त के दो शुक्लध्यान जो कि जिनेन्द्रदेव के होते हैं वे समस्त आलम्बन रहित होते है।

इनमे से पृथकत्ववितर्क और एकत्ववितर्करूप दो शुक्ल ध्यानों द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करने वालो को निश्चय श्रुतकेवली कहते हैं।

और जिसने सम्पूर्ण द्वादशाङ्ग वाणी का यथार्थज्ञान प्राप्त किया है, किन्तु निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मा का साक्षात्कार नही किया है उनको व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं। क्योंकि ज्ञान और आत्मा के अभिन्न होने से उनका ज्ञान भी आत्मज्ञान ही है। इसलिये उनको भी श्रुतकेवली कह दिया है।

आगे आचार्य अभूतार्थनय का वर्णन करते हैं:—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिओ उ सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिओ खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥ ११॥

व्यवहारस्त्वसत्यार्थः सत्यं शुद्धनयःस्मृतः।
शुद्धनयाश्रितो जीवः सम्यग्दृष्टिर्भवेद्ध्रुवम् ॥ ११ ॥

भावार्थ— व्यवहारनय असत्यार्थ है, और शुद्धनय भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ है ऐसा शास्त्रकारो ने कहा है। अतः जो शुद्धनयाश्रित जीव हैं वह निश्चय सम्यग्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ— शुद्धनय का वर्णन, आचार्य पहले कर चुके हैं। शुद्धनय के अनुसार आत्मा निर्विकल्प, निरपेक्ष तथा अनिर्वचनीय है, जैसे पद्मनन्दि ने "पचविंशतिका" में कहा है कि—

"तत्व वागतिवर्ति व्यवहृतिमासाद्य जायते वाच्यम्।
गुणपर्यायादि निवृतेः प्रसरति तचापि शतशाखम् ॥"

अर्थ— निश्चयनय से तो तत्व, वाणी के अगोचर है अर्थात् वचन से उसके स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकते, किन्तु वही तत्व व्यवहारनय की अपेक्षा से वाच्य है अर्थात वचन से उसको कुछ कह सकते हैं। और पीछे वह तत्वगुण पर्याय आदि के विवरण से सैकडो शाखा स्वरूप में परिणत हो जाता है। इस स्थान पर आचार्य ने व्यवहार और निश्चयनय का सुन्दर विवेचन कर दिया है। शुद्धनय का विषय शुद्ध आत्ममात्र है। और व्यवहारनय उसी शुद्धतत्व में गुणपर्यायादि अनेक कल्पना करके उसको अनेक शाखायुक्त कर देता है। अतः जब तक जीव व्यवहार ही में रत रहेगा, उस समय तक वह मोक्ष का अधिकारी नही बन सकता।

शुद्धनय के विषय में आचार्य स्वय इसी ग्रन्थ की गाथा १४ मे कहते हैं कि—

"जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेस। ·
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासण सव्वं ॥"

अर्थात्—

जो नय आत्मा को बन्ध रहित, परके स्पर्श से रहित अन्यत्व रहित, चलाचलता रहित विशेष रहित ऐसे पॉच भावस्वरूप अवलोकन करता (देखता) है, हे शिष्य! तू उसे शुद्धनय जान।

तथा च—

पंचाध्यायीकार कहते हैं कि—

"न द्रव्यं नापि गुणो न च पर्यायो निरंशदेशत्वात्।
व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमतेत् ॥"

अ–१–७५४

अर्थ— न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है और न कोई विकल्प ही है, इस प्रकार "नेत्येतावन्मात्रम्" जो निश्चयनय का लक्षण कहा है तदनुसार यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है।

तथा च—

"द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्वं स्वरूपतोऽपिततः।
न च नास्ति परस्वरूपात् सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु ॥"

अ–१–७५८

अर्थ— शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से "तत्व" न अस्तिरूप है और न पररूप से नास्तिरूप ही है। क्योकि इस नय की अपेक्षा से वस्तु निर्विकल्पात्मक मानी गई है।

तथा च—

पद्मनन्दि पंचविंशतिका ४५–४६–४८

"अहमेकाक्यद्वैतं द्वैतमहं कर्मकलित इति बुद्धेः ।
आद्यमनपायि मुक्तेरद्विविकल्पं भवस्य परम् ॥"

अर्थ— मैं अकेला हूं यह अद्वैत बुद्धि है और मैं कर्मों से युक्त हूं यह बुद्धि द्वैत बुद्धि है इन दोनों बुद्धियों में प्रथम बुद्धि, मोक्ष का कारण है द्वितीय, संसार का कारण है।

बद्धो मुक्तोऽहमथद्वैते सति जायते ननुद्वैतम् ।
मोक्षायेत्युभयमनो विकल्परहितो भवति मुक्तः ॥

अर्थ— मैं बधा हुआ हूँ तथा मै मुक्त हू इस प्रकार के द्वैत निश्चय से द्वैत होता है और इन दोनों प्रकार के विकल्पों से रहित जीव, मुक्त होता है।

संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत् ।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्चविकृती तदाश्रिते ॥

अर्थ— शुद्ध परमात्मा की भावना शुद्धपद का कारण है अशुद्ध आत्मा की भावना अशुद्धपद का कारण है । जैसे सुवर्ण से सुवर्ण के पात्र बनते हैं और लोहे से लोहे के पात्र बनते हैं।

इसीलिये आचार्य कहते हैं कि व्यवहारनय को छोड़कर शुद्धनय का आश्रय करने पर ही जीव मोक्ष, का अधिकारी होता है ।

तो क्या व्यवहारनय सर्वथा त्याज्य है ? इसका उत्तर आचार्य आगे देते हैं।

सुद्धो सुद्धाएसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जेउ अपरमे ट्ठिया भावे ॥ १२ ॥

शुद्धादेशश्च ज्ञातव्यः, शुद्धः शुद्धात्मदर्शिभिः ।
भावेऽशुद्धेस्थितानां तु, व्यवहारनयः स्मृतः ॥ १२ ॥

भावार्थ— जो साधक निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मसाक्षात्कार में तत्पर हैं, उनके लिये शुद्धनय का उपदेश उपयोगी है, और साधारण पुरुषों के लिये व्यवहारनय भी हस्तावलम्बन की तरह उपयोगी है।

विशेषार्थ— शुद्धद्रव्य का जो कथन है वह अभेद रत्नत्रयरूप समाधिकाल में उपयोगी होता है, परन्तु उससे पहले अवस्था के जो मुमुक्षु हैं, उनके लिये तो व्यवहारनय भी उपयोगी है। इसी बात को पद्मनन्दि मुनि ने निम्न क्रम से स्पष्ट किया है।

"मुख्योपचारविवृतिं व्यवहारोपायतो यतः संतः ।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्वमिति व्यवहृतिः पूज्या ॥"

अर्थ— मुख्य जो शुद्धनय और उपचार जो व्यवहारनय इन दोनों के स्वरूप को व्यवहारनय की सहायता से जानकर भव्यजन, शुद्धतत्व का आश्रय करते हैं इसलिये व्यवहारनय भी पूज्य ही है हेय नहीं है। तथा च पंडित आशाधर जी अनगारधर्मामृत में लिखते हैं कि—

"व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति ।
बीजादिना विना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति ॥
भूतार्थं रज्जुवत्स्वैरं विहर्तुंवंशवन्मुहुः ।
श्रेयो धीरैरभूतार्थो हेयस्तद्विहृतीश्वरैः ॥"

अर्थात्—

व्यवहारनय से विमुख होकर जो पुरुष शुद्धआत्मतत्व को प्राप्त करना चाहता है उसका यह प्रयत्न ऐसा ही है जैसे बिना बीज के वृक्ष उगाने का प्रयत्न करना ।

तथा च—

जिस प्रकार नट रस्सी पर स्वच्छन्दता से चलने के लिये बाँस या छाता आदि का आश्रय लेता है, और पूर्ण अभ्यास होने के बाद छोड़ देता है इसी प्रकार साधक का कर्तव्य है कि निश्चयनय में अबाधरूप से गति प्राप्त करने के लिये व्यवहारनय का आश्रय ले और जब निश्चयनय मे निर्बाध गति होजाय तो व्यवहारनय को त्याग दे। अथवा नदी से पार होने के लिये जैसे नौका आदि का आश्रय लेना आवश्यक है और पार पहुंचने पर उसका त्याग भी आवश्यक है, इसी प्रकार शुद्धनय को प्राप्त करने के लिये व्यवहारनय का आश्रय आवश्यक है और शुद्धनय की प्राप्ति होने पर उसका त्याग भी आवश्यक है । इसी भाव को आचार्य महाराज ने इस गाथा में स्पष्ट किया है। अभिप्राय यह है कि समयसार मे व्यवहारनय को भी प्राथमिक अवस्था मे उपादेय ही माना गया है।

आगे व्यवहार समयक्त्व का लक्षण कहते हैं—

भूयत्थेणाहिगया जीवाजीवाय पुण्यपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

जीवादिनवतत्वानि गृहीतानि यथार्थतः ।
सम्यक्त्वं हि भवन्तीति कथितं शास्त्रवेदिभिः ॥ १३ ॥

भावार्थ— निश्चयनय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बध, सवर, निर्जर, मोक्ष ये नव तत्व सम्यक्त्व हैं।

विशेषार्थ— जैन दर्शन में मोक्ष के लिये प्रयोजनभूत सात, या नव तत्व माने गये हैं। मोक्ष प्राप्त करने के लिये इनको जानना परमावश्यक है, इन नवतत्वों को यथार्थ रूप से जानकर इन पर दृढ़ श्रद्धान करने को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन तत्वो में प्रथम आत्मतत्व है।

(१) "आत्मा" शुद्ध निश्चयनय से, नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ज्ञाताद्रष्टा मात्र है, परन्तु व्यवहारनय से कर्ता, भोक्ता, शरीराकार, रागद्वेषादियुक्त है।

(२) "अजीव द्रव्य" पाँच हैं (१) पुद्गल (२) धर्म (३) अधर्म (४) काल (५) आकाश।

पुद्गल— रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणो से युक्त अचेतन द्रव्य को 'पुद्गल" कहते हैं। पुद्गल शब्द का यौगिक अर्थ है जिसमे पूर्ति और गलन हो। अर्थात जो परमाणु से द्वयणुकादि क्रमेण स्थूल स्कंधादि रूप मे परिणत होता हो और स्थूल से सूक्ष्म रूप में परिणत होता हो उस मूर्तिक द्रव्य को 'पुद्गल' कहते हैं। इसी को दूसरे लोग, प्रकृति, माद्दा, अथवा मेटर आदि के नाम से पुकारते है। शब्द, तम, छाया, उद्योत और आतप आदि भी इसीं पुद्गल की पर्याय मानी जाती हैं।

संसार में चार चीजें देखी जाती हैं। गति, स्थिति, अवकाश और परिणमन। इन चारों के निमित्तकारणभूत चार द्रव्य जैन शास्त्र में माने गये हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य।

धर्मद्रव्य— जीवादि पदार्थों की गति में जो सहायक होता है उसे 'धर्मद्रव्य' कहते हैं।

अधर्मद्रव्य— जो जीवादि पदार्थों की स्थिति में सहायक होता है। उसे "अधर्मद्रव्य" कहते हैं।

आकाशद्रव्य— जो जीवादि पदार्थों को अवकाश देता है उसे "आकाशद्रव्य" कहते हैं।

कालद्रव्य— जो जीवादि पदार्थों के परिणमन मे सहायक होता है उसे "कालद्रव्य" कहते हैं। इसके दो भेद हैं। एक द्रव्यकाल दूसरा व्यवहारकाल। द्रव्यकाल परमाणु रूप से संसार में फैला हुआ है और व्यवहार काल समय को कहते हैं, जिसके घड़ी, पल आदि अनेक भेद होते हैं। दोनों प्रकार के काल पदार्थों के परिणमन में सहायक होते हैं।

(३) पुण्य— शुभ कर्मों को अर्थात् दया, दान, पूजन आदि को "पुण्य" कहा जाता है।

(४) पाप— अहिंसा, झूठ, चोरी आदि दुष्कृत्यों को पाप कहते हैं।

(५) आस्रव— भावास्रव जीव के उन परिणामों को कहते हैं जिनके द्वारा आत्मा कर्मरूप पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करता है। इसके पाँच भेद हैं। मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, योग और कषाय।

द्रव्यास्रव— द्रव्यास्रव उन पुद्गल कर्म वर्गणाओं को कहते हैं, जिन का जीवने आस्रव किया है अर्थात् अपनाया है। यह द्रव्यास्रव ज्ञानावरणादि भेद से आठ प्रकार का है, जिसका वर्णन आगे होगा।

(६) बन्ध— भी दो प्रकार का है, एक भाव बन्ध दूसरा द्रव्यबन्ध।

(१) भावबन्ध— आत्मा के जिस चेतन भाव से कर्म बन्धता है उसे भावबन्ध कहते हैं।

(२) द्रव्यबन्ध— कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर संश्लेष अर्थात् दूध और पानी की तरह एक रूप होजाने को द्रव्यबन्ध कहते हैं। यह बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश भेद से चार प्रकार का है। प्रकृति और प्रदेश बन्धयोग अर्थात् आत्मा के हलन चलन आदि क्रिया से होते हैं। स्थिति और अनुभागबन्ध, कषाय द्वारा होते हैं। इन सब कर्मों का तात्विक व सूक्ष्म विश्लेषण गोम्मटसारादि ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक किया गया है।

(७) संवर— पूर्वोक्त कर्मों के आस्रव को रोकने का नाम सवर है। भाव और द्रव्य भेद से यह भी दो प्रकार का है।

(१) भावसंवर— आत्मा के स्वभाव से ही उत्पन्न होने वाले शुद्ध चेतन परिणाम को "भावसंवर" कहते हैं। क्योंकि— आस्रव को रोकने मे कारण है।

(२) द्रव्यसवर— उस कारणभूत भावसंवर से द्रव्य कर्मरूप आस्रव के रुक जाने को "द्रव्यसवर" कहते हैं।

(८) निर्जरा— यह भी भाव और द्रव्य भेद से दो प्रकार की है।

(१) भावनिर्जरा— आत्मा के जिन भावों से कर्मरूपी पुद्गल फल देकर या बिना फल दिये नष्ट हो जाते हैं उसको भावनिर्जरा कहते हैं।

(२) द्रव्यनिर्जरा— समय आने पर अथवा तप आदि से जो कर्मरूप पुद्गल आत्मा से खिर जाते हैं उनको द्रव्यनिर्जरा कहते हैं।

(९) मोक्ष— यह भी द्रव्य व भाव भेद से दो प्रकार का है। सदा के लिये बीज सहित सम्पूर्ण कर्मों के नष्ट होजाने को द्रव्यमोक्ष कहते हैं।

(१) भावमोक्ष— द्रव्यमोक्ष से आत्मीय शुद्ध गुणों की उपलब्धि को भावमोक्ष कहते हैं।*

उपर्युक्त नवतत्वो पर अथवा पुण्य पाप को आस्रव और बन्ध में गिनने से सात तत्वों पर चलमलिन अगाढ़ादिदोषरहित तथा विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान को "सम्यक्त्व" अर्थात् सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह अनादि मिथ्यादृष्टियों के पांच प्रकृतियों के उपशम से तथा सादि मिथ्यादृष्टियों के सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम, तथा क्षय से उत्पन्न होता है। इसके आज्ञा आदि दश भेद भी शास्त्रों में कहे गये हैं तथा सराग और वीतराग व्यवहार और निश्चय भेद से भी यह दो प्रकार का कहा गया है। उपर्युक्त गाथा की टीका करते हुए श्री जयसेनाचार्य लिखते हैं कि—

त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्व विषयत्वात्कारणत्वात्सम्यक्त्व भवन्ति। निश्चयेन परिणाम एव सम्यक्त्वमिति। नव पदार्थाः, भूतार्थेन ज्ञाताः संतः सम्यक्त्वं भवन्तीत्युक्तं भवद्भिस्तत्कीदृश भूतार्थपरिज्ञानमिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह। यद्यपि नव पदार्थाः तीर्थवर्तनानिमित्तं प्राथमिकशिष्या-पेक्षया भूतार्था भण्यन्ते तथाप्यभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले अभूतार्था असत्यार्था शुद्धात्म-स्वरूप न भवन्ति। तस्मिन् परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतने, प्रकाशते, प्रतीयते, अनुभूयत इति। या चानुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मोपलब्धिः सा चैव निश्चयसम्यक्त्वमिति।

अर्थात्—

उपर्युक्त नवतत्व ही अभेदोपचार से सम्यक्त्व का विषय होने के कारण और सम्यक्त्व का कारण होने से सम्यक्त्व होते हैं। परन्तु निश्चयनय से तो आत्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है। नव पदार्थ शुद्धनय से जाने हुए सम्यक्त्व होते हैं यह आपने कहा, किन्तु वह भूतार्थ ज्ञान किस प्रकार का है? इस प्रश्न का आचार्य उत्तर देते हैं कि धर्म के प्रचार के लिये प्राथमिक शिष्यों के लिये नवपदार्थ भूतार्थ कहे जाते हैं, किन्तु अभेदरत्नत्रय लक्षणरूप निर्विकल्प समाधि की

*चेतना लक्षणो जीवोऽभूतोऽनाद्यविनाशकः,
अजीव· पचधा ज्ञेय पुद्गलादिप्रभेदत·।
भावास्रवो भवेज्जीवो मिथ्यात्वादि चतुष्टयात्,
ततो द्रव्यास्रवो योऽसौ कर्माष्टकसमाश्रय·।
वेद्यते कर्मभावेन येन तद्भावबन्धनम्,
जीवकर्मप्रदेशानामाश्लेषो द्रव्यबन्धनम।
स प्रकृतिप्रदेशाख्यस्थित्यनुभागभेदभाक्,
योगैर्द्वावादिमौ स्याता कषायैर्द्वौतदुत्तरौ।
कर्मास्रवनिरोधात्मा चिद्भावो भावसवर·,
क्षत्याद्यैः कर्मसरोध· स भवेद् द्रव्यसवरः।
हठात्कारस्वभावाभ्या जायते कर्मनिर्जरा,
अविपाका स्वपाकेति द्विविधा सा यथाक्रमम्।
कर्मक्षयाय यो भावो भवमोक्षो भवत्यसौ,
जायते द्रव्यमोक्षस्तु जीवकर्म पृथक्क्रिया॥

अवस्था में यह नवपदार्थ अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ हैं। क्योंकि ये शुद्धात्मरूप नहीं होते हैं। उस परमसमाधि अवस्था में शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही प्रकाशित होता है और उसी की अनुभूति होती है। वही अनुभूति-प्रतीति, शुद्धात्मोपलब्धि निश्चयसम्यक्त्व है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी उपर्युक्त गाथा की टीका में यही भाव प्रदर्शित किया है।

इन तत्वों का विशेष वर्णन यथा स्थान आचार्य स्वयं आगे करेंगे।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविशेषमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४ ॥

"अविशेषमसंयुक्तं वेत्त्यस्पृष्टमनन्यकम्।
अबद्धं नियतं जीवं य स्तं शुद्धनयं विदुः" ॥ १४ ॥

भावार्थ— जो नय, इस आत्मा को बन्धरहित, दूसरे के स्पर्श से रहित, अनन्य, निश्चल, विशेषतारहित तथा दूसरे के संयोग से रहित देखता है, उसे ही "शुद्धनय" कहते हैं।

विशेषार्थ— अबद्ध, अस्पृष्ट तथा अनन्यादिरूप से आत्मा का अनुभव करना ही शुद्धनय है। इस प्रकार की शुद्धात्मानुभूति भी आत्मा ही है। और आत्मा में बद्धस्पष्टादि पाँच भावों की कल्पना असत्यार्थ है यथा— कमलपत्र जल में स्थित होने पर भी जैसे सूक्ष्म विचार से देखने पर जल से वास्तव में असंस्पृष्ट स्वभाव है और कमलपत्र को तत्वतः जल से संस्पृष्ट स्वभाव समझना असत्यार्थ है, अवास्तविक है उसी प्रकार आत्मा पुद्गलकर्म में स्थित होने पर भी शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से उससे बिल्कुल असंस्पृष्टस्वभाव है (पृथक् है) और उस शुद्ध आत्मा को बद्धसंस्पृष्टस्वभाव समझना असत्यार्थ अर्थात् अवास्तविक है।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥ १५ ॥

जीव वेत्त्यविशेषं योऽबद्धस्पष्टमनन्यकम्।
सूत्रापदेशमध्यं स जानाति जिनशासनम् ॥ १५ ॥

भावार्थ— जो पुरुष, आत्मा को अबद्ध, स्पृष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षण से नियत असंयुक्त रूप देखता है, (अनुभव करता है) वह द्रव्यश्रुत द्वारा जानने योग्य सर्व जिन-शासन को जानता है।

विशेषार्थ— जो अबद्ध, स्पृष्ट, अनन्य नियत, अविशेष, असंयुक्त ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही निश्चय से सब जिनशासन की अनुभूति है। क्योंकि श्रुतज्ञान स्वय आत्मा ही है। यथा— लवण एक रस होते हुए भी फल, पत्रशाकादि भिन्न भिन्न द्रव्य के संयोग से भिन्न भिन्न प्रकार के स्वाद वाला है ऐसा अज्ञानियों को मालूम होता है, किन्तु समझदारों के लिये वह एकरस ही रहता है, इसी प्रकार आत्मा भी अखण्डज्ञान स्वभाव होते हुये भी स्पर्श, रस, गन्धादिज्ञेयपदार्थ के भेद से अज्ञानियों को भिन्न भिन्न मालूम होता है। किन्तु ज्ञानियों के लिये अखण्डज्ञानस्वरूप ही है। इस तरह के दृष्टान्त से प्रकृत में यह सिद्ध होगया, कि श्रुतज्ञान भी आत्मरूप ही है। इसलिये जिसने आत्मा को जाना है, उसने सब कुछ जान लिया, ऐसा शास्त्रकारों

ने कहा है— "आत्मनि विज्ञाते सर्वं विज्ञात भवति" अपि च "तत्र ज्ञाते, न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्"।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ १६ ॥

साधुना सेवितव्यानि दृग्ज्ञानचरणानि वै।
आत्मानमेव जानीहि तानि त्रीण्यपि निश्चयात् ॥ १६ ॥

भावार्थ— मुमुक्षुओं को दर्शन, ज्ञान, चारित्र का निरन्तर सेवन करना चाहिये। और निश्चयनय से इन तीनों को आत्मा ही समझना चाहिये।

विशेषार्थ— (१) सम्यग्दर्शन = आत्मविकास में प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्वों का विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान करने को "सम्यग्दर्शन" कहते हैं।

(२) सम्यग्ज्ञान = संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरहित उन्ही प्रयोजनभूत सात तत्वों के ज्ञान को "सम्यग्ज्ञान" कहते हैं।

(३) सम्यक्चारित्र = आत्मविकास के लिये साधनभूत, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पॉच महाव्रतों के याथातथ्य प्रमादरहित पालन करने को "सम्यक्चारित्र" कहते हैं। इन्हीं का नाम व्यवहाररत्नत्रय है। रत्नत्रय को पालन करने वाले साधकों को चाहिये की निश्चयनय से इन तीनों को आत्मा ही समझें और उसी मे लीन रहे। यह रत्नत्रय साधन है और आत्मप्राप्ति साध्य है।

जह णाम कोई पुरिसो रायाणं जाइऊण सद्दहइ।
तो तं अणुचरइ पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥ १७ ॥
एवं हि जीवराया णायव्वो तह य सुद्दहेयव्वो।
अणुचररियव्वो य पुणो सो येव दु मोक्खकामेण ॥ १८ ॥

विज्ञाय कोऽपि राजानं श्रद्दधाति जनो यथा।
ततश्चानुचरत्यर्थी प्रयत्नेन निरन्तरम् ॥ १७ ॥
तथैव जीवराजापि, ज्ञातव्यो वै मुमुक्षुभिः।
श्रद्धातव्यश्च नित्यं हि, सेवितव्यः पुनः पुनः ॥ १८ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार धन को चाहने वाला कोई पुरुष राजा को जानने पर उसकी श्रद्धा और निरन्तर सेवा करता है, उसी प्रकार मोक्ष चाहने वाले को चाहिये, कि वह जीवरूप राजा को जानकर उसका श्रद्धान करे और सेवा करे अर्थात् अनुभव करके फिर उस मे तल्लीन होजाय।

विशेषार्थ— संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं, परन्तु साँसारिक भोग विलास मे ही सुख जानकर उसी मे रत रहते हैं और परिणाम में दुःख ही भोगते रहते हैं, अतः सुख चाहने वालो को आचार्य उपदेश देते हैं— कि जिस प्रकार धन का इच्छुक धनी के पास जाता है, और न्याय का इच्छुक राजा के पास जाता है, उसी प्रकार सुख के अभिलाषियो को चाहिये कि वे सुख का एकमात्र केन्द्र अपनी आत्मा का ही आश्रय ग्रहण करें, क्योंकि—

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत्।
निराकुलतया शुद्ध, चिद्रूपानुभवे सुखम् ॥
स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते।
येन लोकत्रयैश्वर्य मप्यचिन्त्यं, तृणायते ॥

अर्थात्—

इन्द्रियो के विषयों के भोगने में प्राणियों को वास्तव में आकुलता होने के कारण से दुःख ही होता है। परन्तु शुद्ध आत्मा के अनुभव करने से निराकुलता होती है। तब ही सच्चा सुख प्राप्त होता है।

उस आत्मदर्शी को ऐसा अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, कि उसको तीन लोक की सम्पदा भी तृण के समान हेय प्रतीत होती है।

आत्मा कब तक अज्ञानी रहता है इसका उत्तर अग्रिमगाथा से आचार्य देते हैं—

कम्मे णो कम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवहिताव ॥ १९ ॥

नोकर्म कर्मणोश्चाहमहं नोकर्म कर्म च।
मतिरेषाभवेद्यस्याप्रतिबुद्धः स ईरितः ॥ १९ ॥

भावार्थ— जब तक इस आत्मा के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीर आदि नोकर्म में "मैं, कर्म, नोकर्म हूं और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं" इस कार की बुद्धि रहती है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी रहता है।

विशेषार्थ— जैन दर्शन में दो प्रकार के कर्म माने गये है— एक "कर्म" दूसरा "नोकर्म" अर्थात् ईषत् कर्म।

(१) कर्म के आठ भेद किये गये हैं १— ज्ञानावरणी २— दर्शनावरणी ३— अन्तराय ४— वेदनीय ५— मोहनीय ६— आयु ७— नाम ८— गोत्र।

इन आठ कर्मों में से दर्शनावरणी, अन्तराय, मोहनीय ये चार "घातिया" कहलाते है। अर्थात ये आत्मा के आत्मीय गुणो का घात करते हैं और वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र ये चार कर्म "अघातिया" कहलाते हैं। ये स्वयं आत्मीय गुणो का घात न करते हुए घातिया कर्मों के सहायक होते हैं।

(१) ज्ञानावरणी— यह आत्मा के ज्ञान गुण को विकसित नहीं होने देता।

(२) दर्शनावरणी— यह आत्मा के दर्शन गुण को विकसित नहीं होने देता।

(३) अन्तराय— यह आत्मा की अनन्त शक्ति को कुंठित करता है तथा दानादि धर्म-कार्यों मे भी अन्तराय करता है।

(४) मोहनीय— इसके दो भेद हैं १- दर्शनमोहनीय और २- चारित्रमोहनीय।

(१) दर्शन मोहनीय यह आत्मरुचि तथा आत्मप्रतीति नहीं होने देता।

(२) चारित्रमोहनीय— यह व्रत, तप, संयम आदि नहीं होने देता।

५— वेदनीय— यह मोहनीय कर्म की सहायता से सांसारिक सुख दुःखो का अनुभव कराता है।

६— आयु— यह आयु निर्धारित करता है अर्थात् आत्मा को नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव शरीर में समय विशेष तक रोके रखता है। यह आत्मा के अवगाह गुण को भी घातता है।

७— नाम— यह जीवको देव शरीरादि अनेक रूप मे परिणत करता है, और आत्मा के सूक्ष्मत्व गुण को घातता है।

८— गोत्र— जिस कर्म के उदय से सन्तान क्रम से चले आये जीव के आचरणरूप ऊँच नीच गोत्र में जन्म हो, उसको गोत्र कर्म कहते हैं। इन आठ कर्मों की १४८ उत्तर प्रकृतियाँ अर्थात् उपभेद होते हैं। इन सब को द्रव्यकर्म या पुद्गलकर्म कहते हैं। राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारी भावों को "भावकर्म" या चेतनकर्म कहते हैं।

(२) नोकर्म— औदारिक शरीर, वैक्रयिक शरीर, तेजस और आहारक शरीर इन चार शरीर और आहारशरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, इन छः पर्याप्तियो के रूप मे परिणत हुए पुद्गलपिंड को "नोकर्म" कहते हैं।

आचार्य महाराज का आशय यह है कि उपर्युक्त कर्म और नोकर्मों को जब तक आत्मा निजस्वरूप समझता है अथवा इनमें ममत्वबुद्धि रखता है उस समय तक आत्मा अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी कहलाता है। और जब इस का यह अज्ञान नष्ट होजाता है, तब यही आत्मा सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) कहलाता है।

इसी ज्ञानी व अज्ञानी का भेद आचार्य आगे कहते हैं—

अहमेयं एयमहं अहमेयस्स हि अत्थि मम एयं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥ २० ॥
आसि मम पुव्वमेयं एयस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होई पुणो ममेयं एदस्स अहं पि होस्सामि ॥ २१ ॥
एयत्तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदिदुतं असंमूढो ॥ २२ ॥

शरीराणि च मित्राणि गृहाणि च धनानि वा।
सचित्ताचित्तमिश्राणि परद्रव्याणि यानि वा ॥ २० ॥
पूर्वमासन् भविष्यन्ति सन्तितानीह निश्चितम्।
तेषामहं ममैतानि ब्रूते देहात्मधीरिति ॥ २१ ॥
अज्ञानमोहावृतमानसेन, द्रव्यं मदीयं ननु पुद्गलस्तत्।
वदन्ति मूढा, नहि ज्ञानिनश्च, भूतार्थज्ञाने निरता विशुद्धाः ॥ २१ ॥

भावार्थ— जो पुरुष अपने से भिन्न परद्रव्य, सचित्त-स्त्रीपुत्रादिक, अचित्त-धन,

धान्यादिक, मिश्र-ग्राम नगरादिक, इनको ऐसा समझें कि मैं यह हूँ, ये द्रव्य मुझ स्वरूप हैं, मैं इनका हूं, ये मेरे हैं, ये मेरे पूर्व थे, मैं भी इनका पहले था तथा ये मेरे आगामी होंगे, मैं भी इनका आगामी होऊँगा, ऐसा झूठ आत्मविकल्प करता है वह मूढ़ है, मोही है, अज्ञानी है, और जो पुरुष परमार्थ वस्तुस्वरूप को जानता हुआ ऐसा झूठविकल्प नहीं करता है वह असंमूढ़ है, ज्ञानी है।

विशेषार्थ— इस प्रसङ्ग में श्री अमितगति आचार्य योगसार में लिखते हैं कि—

आसमस्मि भविष्यामि स्वामी देहादिवस्तुनः।
मिथ्यादृष्टेरियं बुद्धिः, कर्मागमनकारिणी ॥

अर्थात्—

पित्त के ज्वर वाले मनुष्य को मीठा भी दूध जिस प्रकार कड़वा लगता है, उसी प्रकार जो जीव मिथ्यादृष्टि है, उसे भी वास्तविक तत्वों का श्रद्धान नहीं होता, सर्वदृष्टा सर्वज्ञ ने जो जीव अजीव का स्वरूप बतलाया है उसे वह मिथ्या व विपरीत समझता है, इसलिये आत्मा और शरीर आदि का भेद न समझकर जो उसकी यह भावना रहती है कि मैं शरीर आदि द्रव्यों का पहले भी स्वामी था, अब भी हूं और आगे भी रहूँगा उस से कर्मों का आस्रव होता है। इसलिये यह त्याज्य है।

क्योंकि—

अण्णाणमोहियमइ मज्झमिणं भणई पुग्गलं दव्व।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥ २३ ॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उपओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पुग्गलदव्वीभूऊ जीवत्तमागयं इयर ॥ २४ ॥
जइ सो पुग्गलदव्वीभूउं जीवत्तभागयं इयरं।
तो सक्का वुत्तुंजे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥ २५ ॥ त्रिकलं

ममेदं पुद्गलं द्रव्यं वदन्त्यज्ञानिनो जनाः।
तथा बद्धमबद्धं वा बहुभावयुताश्च ये ॥ २३ ॥
जीवः केवलिना दृष्टो नित्योपयोगलक्षणः।
न पुद्गलमयीभूतो ममेदं भण्यते कथम् ॥ २४ ॥
जड़त्वमाप्नुयाज्जीवो जीवत्व च जड़ो यदि।
ममेदं पुद्गलद्रव्यं तदात्वं वक्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

भावार्थ— जो अज्ञान से मोहित जीव है, वह कहता है कि यह शरीरादि बद्धद्रव्य, धनधान्यादि अबद्धद्रव्य मेरा है क्योंकि वह जीव मोह, राग, द्वेषादि बहुत भावों से युक्त रहता है। आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ की दृष्टि से तो जीव नित्य उपयोग लक्षण वाला है, वह पुद्गल द्रव्य-रूप कैसे हो सकता है? अतः यह पुद्गल द्रव्य मेरा है, यह तुम कैसे कहते हो। हाँ! यदि जीव, जड़ अर्थात् पुद्गल द्रव्यरूप होजाय और पुद्गल द्रव्य भी जीवपने को प्राप्त होजाय, तो तुम कह सकते हो कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है, किन्तु ऐसा नहीं है।

विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि—

"नान्यद्रव्यपरीणाममन्यद्रव्यं प्रपद्यते।
स्वान्यद्रव्यव्यवस्थेष परस्य घटते कथम् ॥"
"कषाया नोपयोगेभ्यो नोपयोगाः कषायतः।
न मूर्तामूर्तयोरस्ति संभवो हि परस्परम् ॥"

योगसार अ० ३–१६–२१

अर्थात्—

जो परिणाम एक द्रव्य का है वह दूसरे द्रव्य का परिणाम नहीं हो सकता, क्योंकि मूल में पदार्थों के दो भेद हैं एक चेतन, दूसरा अचेतन। चेतन के परिणाम ज्ञान, दर्शन आदि हैं। अचेतन अर्थात् जड़ के परिणाम राग, द्वेष आदि हैं। यहाँ पर यह कभी नहीं हो सकता कि चेतन के परिणाम ज्ञान दर्शन आदि जड़ कर्मों के परिणाम होजायँ, और जड़ कर्मों के परिणाम राग, द्वेष आदि चेतन के होजायँ, क्योंकि यदि ऐसा होजाय तो संकर दोष के उपस्थित हो जाने से चेतन अचेतन दोनों एक होजायँगे। एवं सम्यग्ज्ञान आदि निज हैं और रागद्वेषादि पर हैं यह व्यवस्था भी न बन सकेगी। इसलिये मुक्त अवस्था में कभी चैतन्यस्वरूप शुद्धात्मा रागादि जड़ कर्मस्वरूप परिणत नहीं हो सकता, यह निःसन्देह जान लेना चाहिये।

अपि च—

न तो उपयोगों से कषायों की उत्पत्ति होती है और न कषायों से उपयोगों की। क्योंकि मूर्तिक और अमूर्तिक पदार्थों का आपस में जन्यजनक भाव सम्बन्ध नहीं होता, अर्थात् मूर्तिक से अमूर्तिक की उत्पत्ति और अमूर्तिक से मूर्तिक की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये उपयोगों से कषायों की उत्पत्ति और कषायों से उपयोगों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि कषाय मूर्तिक हैं और उपयोग अमूर्तिक। अतः यह सिद्ध होगया कि पुद्गल द्रव्य को यह मेरा है, था, या रहेगा इत्यादि समझना अज्ञान का ही फल है।

आगे अज्ञानी के प्रश्नरूप, गाथा कहते हैं—

जइ जीवो ण शरीरं तित्थयरायरियसंथुई चेव।
सव्वावि हवइ मिच्छा तेण दु आदा हवइ देहो ॥ २६॥

शरीरादन्य आत्मा चेत्तदा स्तुत्यादिकं वृथा।
अतो देहात्मनोरैक्यमिति मे निश्चिता मतिः ॥ २६ ॥

भावार्थ— अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी कहता है कि यदि जीव, शरीर नहीं हो, तो फिर तीर्थंकर और आचार्यों की स्तुति सब व्यर्थ ही होजाय, अतः हम समझते हैं कि यह देह ही आत्मा है।

विशेषार्थ— आशय यह है कि—

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये,
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥

(समयसार कलश)

अर्थात्—

जो तीर्थंकर भगवान् अपने शरीर की कान्ति से दशों दिशाओं को निर्मल करते हैं और अपने प्रखर तेज से उत्कृष्ट तेज सम्पन्न सूर्य को भी नीचा दिखाते हैं तथा अपने सौम्य स्वरूप से लोगों के मन को हर लेते हैं एवं जो भव्य जनों के कानों में अपनी दिव्यध्वनि अर्थात् वाणीरूप अमृतवर्षा करते हैं तथा एक हजार आठ गुणों को धारण करते हैं, वे तीर्थंकर वन्दनीय अर्थात् पूजनीय हैं। इस प्रकार की स्तुतियाँ यदि शरीर से भिन्न जीव हो तो मिथ्या ठहरेगी। अतः हमारा यही निश्चित मत है कि पुद्गलद्रव्य शरीरादि ही आत्मा है ऐसा अप्रतिबद्ध के प्रश्न होने पर आचार्य अग्रिम गाथा से उत्तर देते हैं—

विवहारणओ भासदि जीवो देहो य हवइ खलु इक्को ।
ण उ णिच्छयस्स जीवो देहो य कया वि एकट्ठो ॥ २७ ॥

शरीरजीवयोरैक्यं, व्यवहारेण भण्यते ।
देहात्मनोश्च पार्थक्यं, वस्तुतो वर्तते ध्रुवम् ॥ २७ ॥

भावार्थ— शरीर और आत्मा की एकता व्यवहारनय से कही जाती है, किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाय तो शरीर और आत्मा बिल्कुल भिन्न हैं और कभी एक नहीं हो सकते।

विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जैसे लोक में सुवर्ण और चाँदी को गलाकर एक करने से एक पिंड का व्यवहार होता है किन्तु निश्चयनय से देखा जाय तो पीले और सफेद स्वभाव वाला सोना और चाँदी भिन्न भिन्न ही हैं। इसी तरह व्यवहारनय से शरीर और आत्मा की एकता रहने पर भी उपयोगानुपयोग स्वभाव वाले आत्मा और शरीर परस्पर अत्यन्त भिन्न २ ही हैं। अतः शरीर स्तुति से केवलियों की स्तुति व्यवहारनय से ही मानी जाती है। निश्चयनय से तो दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। तथाहि—

इममण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णइ हु संथुदो वंदिदो मए केवली भगवं ॥ २८ ॥

जीवादन्यदिदं देहं जडं स्तुत्वा मुनि मैया ।
मन्यते व्यवहारेण संस्तुतो वन्दितो जिनः ॥ २८ ॥

भावार्थ— आत्मा से नितान्त भिन्न इस इस जड़ देह की स्तुति करके व्यवहारनय से साधु ऐसा मानता है कि मैंने भगवान् की वन्दना की है।

विशेषार्थ— आशय यह है कि जैसे चाँदी के श्वेत गुण से सुवर्ण में भी श्वेतादि व्यवहार होता है, किन्तु परमार्थदृष्टि से सुवर्ण सफेद नहीं है। इसी प्रकार शरीरस्तुति से तीर्थंकरों की स्तुति व्यवहारदृष्टि से मानी जाती है। परमार्थदृष्टि में शुक्लपना आदि तीर्थंकरों का स्वभाव नहीं है। अतः निश्चयनय से शरीरस्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं बन सकता। यहाँ प्रश्न यह होता है कि व्यवहारनय तो असत्यार्थ कहा गया है तब व्यवहारनय से जड़ शरीर की स्तुति आदि का क्या फल है ? इसका उत्तर यह है कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, निश्चयनय को प्रधान मानकर ही व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा गया है। अल्पज्ञानी को अपनी या दूसरे की आत्मा साक्षात् नहीं दीखती है। केवल शरीर ही दीखता है। उसकी शान्त मुद्रा

को देखकर अपने में भी शान्त भाव आजाता है यही शरीरस्तुति का फल है।
तथाच—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलि गुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणहि ॥ २६ ॥

देहाश्रिता गुणाः सर्वे न ते केवलिनो मताः।
केवलिनो गुणान्स्तौति यस्तं स्तौति स तत्वतः ॥ २९ ॥

भावार्थ— किन्तु निश्चयनय से यह ठीक नहीं है। क्योंकि शारीरिक गुणों का केवली के गुण होना असम्भव है। अतः जो केवली की अर्थात् शुद्ध आत्मा की स्तुति करता है वही निश्चयनय से केवली की स्तुति करता है।

विशेषार्थ— जैसे सुवर्ण में चाँदी के सफेद गुणका अभाव है, इसलिये निश्चय से सफेदपने के नाम से सुवर्ण का नाम नहीं बनता किन्तु सोने के जो पीतपना आदि गुण हैं, उन्ही के नाम से सुवर्ण का नाम होता है। उसी प्रकार तीर्थंकर केवली पुरुषो में शरीर के शुक्लपना आदि गुणों का अभाव है, इसलिये निश्चय से शरीर के गुणों के स्तवन से तीर्थंकर का स्तवन नहीं होता। किन्तु शुद्ध आत्मीय गुणों के स्तवन से ही केवली का स्तवन होता है।

आगे प्रश्न यह होता है कि आत्मा तो शरीर के ही आश्रित है फिर निश्चयनय से शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति क्यों ठीक नहीं है? इसका उत्तर अग्रिम गाथा से देते हैं—

णयरम्मि वण्णिये जह ण वि रण्णो वण्णणा कया होई॥
देहगुणेथुव्वंते ण केवलिगुणा थुया होंति ॥३०॥

नगरे वर्णिते यद्वन्नृपस्य वर्णनं न हि।
स्तुते देहगुणे तद्वन्न जिनस्य गुणाः स्तुताः ॥ ३० ॥

भावार्थ— जिस प्रकार नगर का वर्णन किये जाने पर राजा का वर्णन नहीं होता, उसी प्रकार देहाश्रित गुणो का वर्णन करने से, शुद्धात्मरूप केवली के गुणों का वर्णन नहीं हो सकता।

विशेषार्थ— जैसे राजा के नगराधिपति होने पर भी नगर की शोभा आदि के वर्णन से राजा का वर्णन नहीं होता, इसी प्रकार दैहिक गुणो के वर्णन से देहाधिपति आत्मा का वर्णन नहीं हो सकता।

यदि देह गुण के स्तवन से आत्मा की स्तुति नहीं होती, तो आत्मा की स्तुति कैसी होती है? उसको आगे गाथा से दिखाते हैं—

जो इंदिये जिणत्ता णाणसहावाहिअं मुणइ अप्पं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्चया साहू ॥ ३१ ॥

जित्वेन्द्रियाणि स्वात्मानं ज्ञानरूपं च वेत्ति यः।
निश्चिताः साधवस्तं तु प्रवदन्ति जितेन्द्रियम् ॥ ३१ ॥

भावार्थ— जो द्रव्येन्द्रिय व भावेन्द्रिय और पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जीतकर ज्ञान-स्वभाव से परिपूर्ण आत्मा को जानता है, अनुभव करता है उसको साधुजन जितेन्द्रिय कहते हैं।

विशेषार्थ— इन्द्र शब्द आत्मा का वाचक है, इसलिये इन्द्र अर्थात् आत्मा का जो चिन्ह है उसको इन्द्रिय कहते हैं। अथवा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने का जो साधन हो उसको भी इन्द्रिय कहते हैं। अभिप्राय यह है कि—

"प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः".

अर्थात्—

जिस तरह रथ की गति देखकर उसके सारथी का अनुमान होता है उसी प्रकार इन्द्रियों की प्रवृत्ति देखकर उनके प्रेरक आत्मा का अनुमान किया जाता है। जैन शास्त्र में इन इन्द्रियो के दो भेद किये हैं, एक द्रव्येन्द्रिय, दूसरा भावेन्द्रिय।

(१) द्रव्येन्द्रिय के चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक् ये पाँच भेद हैं। इन पाँचों के भी दो दो भेद हैं एक निर्वृत्ति और दूसरा उपकरण। निर्वृत्ति रचना को कहते हैं, ये निर्वृत्ति भी दो प्रकार की है, एक बाह्यनिर्वृत्ति और दूसरी आन्तरनिर्वृत्ति। इन्द्रियाकार धारण करने वाले अन्तरंग इन्द्रिय नामक आत्मप्रदेशो के साथ उन आत्मप्रदेशो को अवलम्बन देने वाले जो शरीरावयव इकट्ठे होते हैं उसे बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। और जो कुछ आत्मप्रदेशों की रचना नेत्रादि इन्द्रियो के आकार को धारण करके उत्पन्न होती है उसे आन्तरनिर्वृत्ति कहते हैं।
उपकरण— उस निर्वृत्ति अर्थात् इन्द्रिय रचना की मुख्यांश की रक्षा करने वाले अवयव को उपकरण कहते हैं। उपकरण भी बाह्य और आन्तर भेद से दो प्रकार का है। बाह्यउपकरण यथा— आँख की पलकें आदि। आन्तर उपकरण यथा— आँख का काला भाग और श्वेत भाग।

(२) भावेन्द्रिय— लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम के लाभ को लब्धि और आत्मा के चैतन्य परिणाम को उपयोग कहते हैं। जिस के होने से आत्मा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम द्वारा द्रव्यनिर्वृत्ति-नामक इन्द्रिय मे प्रवृत्ति करने लगता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की इन्द्रियो को जीतने वाला जितेन्द्रिय कहलाता है। इसी का नाम सच्ची स्तुति है।

आगे आचार्य जितमोह का लक्षण कहते हैं—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहवाहियं मुणइ आयं।
तं जियमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥ ३२ ॥

ज्ञानस्वभावमात्मानं जित्वा मोहं च वेत्ति यः।
परमार्थविदस्साधुं जितमोहं वदन्ति तम् ॥ ३२ ॥

भावार्थ— जो पुरुष उदयागत मोह को, (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एकाग्ररूप निर्विकल्प समाधि द्वारा) जीतकर शुद्धज्ञान गुण से आत्मा को जानता है अनुभव करता है उस साधु को परमार्थ के जानने वाले, जितमोह अर्थात् मोहरहित कहते हैं।

विशेषार्थ— उदयरूप मोहकर्म और रागरूप आत्मपरणति, इन दोनों का त्याग

उसके होता है जो मोह को जीत लेता है। क्योंकि उपशान्त मोह ग्यारवें गुणस्थानवर्ती साधु के न तो कोई राग परणति है और न किसी भी मोह की प्रकृति का उदय है। इसी प्रकार से मोह पद को पलटकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, बचन, काय, ऐसे ११ शब्द बीच मे जोड़कर ११ सूत्र कर लेना तथा श्रोत्र, चक्षु घ्राण, रस, स्पर्शन इन पाँचो पदों को देकर पाँच सूत्र और कर लेना। इसी प्रकार से और भी जो असंख्यात विभाव परिणाम हैं उनको सूत्र में लगाकर व्याख्यान कर लेना चाहिए। जैसे जो राग को जीते वह "जितराग", जो द्वेष को जीते वह "जितद्वेष" आदि आदि।

साराँश यह है कि यहाँ शुद्धात्मानुभूति करना उद्देश्य है। अतः विभाव परिणामों को स्मरण कर उनसे मैं पृथक् हूं, ऐसी भावना करना आत्मानुभूति का कारण है। इसी लिये इस स्तुति को आचार्य महाराज ने निश्चयस्तुति कहा है।

आगे आचार्य क्षीणमोह का लक्षण कहते हैं—

जिदमोहस्स दुजइया खीणो मोहो हविज्जसाहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णहि सो णिच्छय विदूहिं॥ ३३॥

यदा तु जितमोहस्य क्षीणो मोहो भवेद् ध्रुवम्।
तदा तु क्षीणमोहःस भण्यते मुनिपुङ्गवैः॥ ३३॥

भावार्थ— पूर्वोक्त क्रम से जितमोह साधु का जब निर्विकल्प समाधिकाल मे मोह, क्षीण हो जाता है, तब निश्चयनय को जानने वाले मुनीश्वर उसको "क्षीणमोह" कहते है।

विशेषार्थ— उपशमश्रेणि प्राप्तकर, जिस समय साधु, क्षपकश्रेणि को प्रारम्भ करता है, उस निर्विकल्प समाधि अवस्था मे मोह का क्षय हो जाता है। उस साधु को "क्षीणमोह" कहते हैं। यह तीसरी निश्चयस्तुति है। क्योंकि इन्होने मोह को क्षीण करके रागादि को मूलतः नष्ट कर दिया है।

आगे कहते हैं कि इस तरह यह अज्ञानी जीव अनादि मोह सन्तान से निरूपित आत्मा और शरीर के एकपने के संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, किन्तु अब तत्वज्ञानरूप ज्योति के उदय होने से प्रतिबुद्ध होते हुए अपने से अपने को जानकर श्रद्धान करते हुए उसके आचरण करने का इच्छुक होकर पूछता है, कि आत्मा के अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्याग) क्या है? उसका समाधान आचार्य उत्तर गाथा से करते हैं।

सव्वे भावे जम्हा पचक्खाइ परेत्ति णाऊणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णियमा मुणेयव्वं॥ ३४॥

प्रत्याख्याति यतः सर्वान् भावान् ज्ञात्वा परानिति।
प्रत्याख्यानं ततो ज्ञानं ज्ञातव्यं निश्चयादिह॥ ३४॥

भावार्थ— ज्ञानी यह जानकर कि आत्मा के सिवाय सभी पदार्थ पर हैं उनको त्याग देता है। इसलिये आत्मातिरिक्त पदार्थों में ये पर हैं, इस प्रकार का ज्ञान ही वास्तविक प्रत्याख्यान है, अर्थात् ज्ञान में त्यागरूप अवस्था का होना ही निश्चय से प्रत्याख्यान है।

विशेषार्थ— आगामी पाप की त्यागभावना को प्रत्याख्यान कहते हैं। इसके छः भेद हैं यथा—

"तन्नाम स्थापनां तां तद्द्रव्यं तत्क्षेत्रमंजसा ।
तं कालं तं च भावं न श्रेयस्क श्रेयसेऽस्ति यत् ॥"

अर्थात्—

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र काल और भावभेद से प्रत्याख्यान छः प्रकार के हैं ।

(१) नामप्रत्याख्यान— पाप के कारण अयोग्य नामों का कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग को, नाम प्रत्याख्यान कहते हैं ।

(२) स्थापनाप्रत्याख्यान— पाप के कारण मिथ्यात्वादि प्रवर्तक हिंसक देवादि की स्थापना नहीं करना ।

(३) द्रव्यप्रत्याख्यान— तप के लिये जिस द्रव्य का त्याग किया हो उसको किसी अवस्था में भी ग्रहण नहीं करना ।

(४) क्षेत्रप्रत्याख्यान— असंयम के कारणभूत स्थान का त्याग ।

(५) कालप्रत्याख्यान— असंयमादि जनक काल का त्याग ।

(६) भावप्रत्याख्यान— मिथ्यात्वादि का मन, वचन शरीर से त्याग ।
इन छवों के कृत, कारित अनुमोदना भेद से १८ भेद होते हैं । ये सब व्यवहार प्रत्याख्यान हैं ।

समयसार शुद्धनिश्चयनय का वर्णन करने वाला ग्रन्थ है, इसलिये शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से प्रत्याख्यान का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं— कि जिस ज्ञान के द्वारा उपर्युक्त पाप क्रियाओं की त्याग की भावना होती है निश्चयनय से वे ज्ञान ही निश्चयप्रत्याख्यान हैं । इसलिये साधक को ज्ञान का ही आश्रय करना चाहिये ।

आगे आचार्य प्रत्याख्यान को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणंत्ति जाणिदुं चयइ ।
तह सव्वे परभावे णाउण विमुँचए णाणी ॥ ३५ ॥

परद्रव्यमिति ज्ञात्वा, यथा त्यजति पुरुषः ।
मिथ्यात्वादि परान् भावां स्तथा ज्ञानी विमुंचति ॥ ३५ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार कोई पुरुष किसी वस्तु को दूसरे की समझकर त्याग देता है, इसी प्रकार ज्ञानी सम्पूर्ण पर भावों को, "ये मेरे नहीं हैं" ऐसा जान कर त्याग देता है ।

विशेषार्थ— जिस प्रकार कोई पुरुष भ्रम से, धोबी के घर से किसी दूसरे का वस्त्र अपना समझकर ले आता है और उसे पहिनकर निश्चिततापूर्वक सो जाता है, उसे यह ज्ञान नहीं रहता है कि मैं दूसरे का वस्त्र पहिने हुये हूं । किन्तु जब उस कपड़े का मालिक आकर कपड़े के पल्ले खींचता हुआ यह कहने लगता है कि उठो ! यह पहिने हुए मेरे वस्त्र मुझे दे दो । तब वह अच्छी तरह पहचान कर, यह अपना वस्त्र नहीं है ऐसा जानकर दूसरे के कपड़े को जैसे शीघ्र ही त्याग देता है । उसी तरह ज्ञानी भी भ्रम से परकीय भावों को आत्मीय समझकर ग्रहण करके निश्चिंत रहता है, किन्तु जब सद्गुरु के उपदेश से आत्मा को शुद्ध समझते हुए आत्मातिरिक्त सभी भावों को, "ये पर हैं" ऐसा समझता है तब शीघ्र त्याग देता है ।

अब आचार्य मोहादि के त्याग की विधि बतलाते हैं—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झई उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति॥ ३६॥

स्वयमहमयमेकः केवलश्चोपयोगो
नहि भवति च मोहः कोऽपि वै मामकीनः।
धियमिति खलु विज्ञाश्चिच्चमत्कारमात्रं
समयविहितबोधाः केवलं त वदन्ति॥ ३६॥

भावार्थ— जो ऐसा जानता है कि मेरा मोह से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। मैं केवल चिच्चमत्कारमात्र उपयोगरूप ही हू, ऐसा जानने को ही आत्मदर्शी महापुरुप मोह से निर्ममत्वपना कहते हैं।

विशेषार्थ— मोहकर्म जड़पुद्गलद्रव्य रूप है, इसका उदय मलिन भावरूप है। सो इसका भाव भी पुद्गल का विकार है, यही भावक का भाव है। जब यह चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है, तब उपयोग भी विकारी हुआ रागादिरूप मलिन दीखता है, और जब इसका भेदज्ञान होता है कि चैतन्य व्यक्ति तो ज्ञानदर्शनोपयोगमात्र हैं और राग, द्वेप, मोहादि जडकर्मरूप पुद्गलद्रव्य का है तब जीव का मोहादि के साथ एकपने का भाव नहीं रहता है, और आत्मा भी अपने चैतन्य के अनुभव रूप में स्थित हो जाता है। इसी अभिप्राय से यह कलश कहा गया है कि—

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धश्चिद्घनमहोनिधि रस्मि॥

अर्थात्—

मैं स्वयं आप ही से अपने स्वरूप को अनुभव करता हूं, मेरा स्वरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण है, अतः मोह से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं। मैं तो शुद्धचैतन्यरूप तेजःपुज का निधि हूँ, यह भावक का भाव है।

आगे आचार्य कहते हैं, कि धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थ भी आत्मा का स्वरूप नहीं है—

णत्थि मम धम्म आई बुज्झइ उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति॥ ३७॥

न मे धर्मादयः सन्ति दृग्ज्ञानोऽहं च वेत्ति यः।
तद् धर्म्मनिर्ममत्वं वै प्रवदन्ति विपश्चितः॥ ३७॥

भावार्थ— धर्मादि छवो द्रव्य निश्चय ही मेरे नहीं हैं, मैं तो केवल उपयोगरूप हूँ ऐसा जानने को ही शुद्धात्मदर्शी लोग धर्मनिर्ममत्वपना कहते हैं।

विशेषार्थ— धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, अन्यजीव ये छवो भाव आत्मा में प्रकाशमान होते हुए भी आत्मा से भिन्न हैं। और मैं तो शुद्धात्मस्वरूप हूं इन सबों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, ऐसा जानना ही धर्मादि से निर्ममत्वपना है।

आगे निश्चयरत्नत्रय में परिणत जीव का स्वरूप बताते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धा दंसणणाणमइयो सया रूवी।
णवि अत्थि मम किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥ ३८॥

अहमेकः सदा शुद्धो ज्ञानदर्शनसंयुतः।
अन्यन्नैवाणुमात्रं मे वर्तते तु कदाचन॥ ३८॥

भावार्थ— आत्मदर्शी ज्ञानी ऐसा समझता है, कि मैं एक हूँ, सदा शुद्धस्वरूप और ज्ञानदर्शनमय हूँ, अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं लगता।

विशेषार्थ— आत्मा अनादिकाल से मोहावृत होने के कारण अज्ञानावस्था में था, किन्तु गुरु के उपदेश तथा काल लब्धि से ज्ञानावस्था में आकर अपने स्वरूप को जाना, कि मैं एक हूं, शुद्ध हूं अरूपी हूँ, ज्ञानदर्शनमय हूं, ऐसा जानने पर मोह का समूल नाश होगया। भावकभाव और ज्ञेयभाव से भेदज्ञान हुआ। जब अपनी स्वरूपसत्ता अनुभव में आगई तो फिर मोह कैसे उत्पन्न हो। इस आत्मानुभव की महिमा को प्रेरणात्मक कलश में कहा गया है कि—

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छ्वलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीभरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः॥

आशय यह है कि जैसे समुद्र की आड़ मे कुछ आजाने से जल नहीं दीखता है, और जब आड़ दूर हो जाती है तब जल दिखाई देने लगता है, और लोगों को स्नान करने की प्रेरणा मिलती है। उसी तरह यह आत्मा विभ्रम से आच्छादित था, इसका रूप नहीं दीखता था किन्तु भ्रम दूर होने पर यथास्वरूप प्रतिभासित हुआ (ज्ञात हुआ) इस प्रगट हुए विज्ञानरूप शान्तिरस में सभी प्राणी एक साथ मग्न होवें, यही आचार्य की प्रेरणा है।

पूर्वोक्त श्लोक का दूसरा आशय यह है कि अज्ञान नष्ट होने पर जब केवलज्ञान प्रगट होता है, तब समस्त पदार्थ एक ही समय उस ज्ञानालोक में झलकने लगते हैं, उनका सभी अवलोकन करें।

इस तरह यह पूर्वरङ्ग की व्याख्या समाप्त हुई।

॥ इति पूर्वरङ्गः ॥

अथ जीवाजीव अधिकारः (१)

अब भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य जीव, अजीव का भेद बतलाने के लिये प्रथम अधिकार प्रारम्भ करते हैं।

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवाइणो केई।
जीवमज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥ ३६ ॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥ ४० ॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छन्ति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवइ जीवो ॥ ४१ ॥
जीवो कम्मं उभयं देण्णिवि खलु केइ जीवमिच्छन्ति।
अवरे संजोगेणउ कम्माणं जीवमिच्छन्ति ॥ ४२ ॥
एवं विहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
तेण परमट्ठवाइहिं णिच्छयवाइहिं णिदिट्ठा ॥ ४३ ॥

य आत्मानमजानन्तो मूढा मिथ्यात्मवादिनः।
ते कर्माध्यवसानं च जीवं प्ररूपयन्ति वै ॥ ३९ ॥
केचिदध्यवसानेषु तीव्रमन्दानुभागगम्।
जीवमन्ये च मन्यन्ते नोकर्म जीव इत्यहो ॥ ४० ॥
कर्मानुभागमिच्छन्ति जीवमन्ये च केचन।
कर्मणामुदयं जीवं तीव्रमन्दादिभिर्गुणैः ॥ ४१ ॥
जीवकर्मोभयं चैव चेतनोऽस्तीति चापरे।
कर्मणां चैव योगेन जीवमेके वदन्ति हि ॥ ४२ ॥
एवं बहुविधा बाला मिथ्याज्ञानपरायणाः।
प्रजल्पन्ति मृषा सर्वे न ते परात्मवादिनः ॥ ४३ ॥

भावार्थ— आत्मा को नहीं जानने वाले, पर को ही आत्मा कहने वाले, कोई मूढ़ तो अध्यवसान को और कोई कर्म को ही जीव कहते हैं। अन्य कोई अध्यवसानों में तीव्र मन्द अनुभागगत को जीव मानते हैं। और अन्य कोई नोकर्म को जीव मानते हैं, तो कोई कर्म के उदय को ही जीव मानते हैं। कोई कहते हैं कि जीव कर्म दोनों मिले हुये ही हैं, और कोई कर्मों

के योग से ही जीव को मानते हैं। इस प्रकार के तथा अन्य प्रकार के भी बहुत अल्पज्ञानी पर को ही आत्मा कहते हैं, किन्तु वे परमार्थवादी नहीं हैं, ऐसा निश्चयवादियों ने कहा है।

विशेषार्थ— जीव अजीव का भेद दिखलाने के लिये आचार्य दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हुए लिखते हैं कि जो लोग पुद्गल (प्रकृति) को और पुद्गल के कार्य कर्म, नोकर्म अथवा कर्म के अनुभागादि बन्ध को जीव मानते हैं, वे सब भ्रम में हैं। क्योंकि ये सब जीव नहीं हैं। यद्यपि ये सब साँसारिक जीव के साथ एकाकार प्रतीत होते हैं, किन्तु निश्चयनय से ये आत्मा से नितान्त भिन्न हैं। इसी विषय को योगसार में आचार्य स्फुट करते हुए कहते हैं कि—

आत्मव्यवस्थिता यान्ति नात्मत्वं कर्मवर्गणाः।
व्योमरूपत्वमायाँति व्योमस्थाः किमु पुद्गलाः॥

अर्थात्—

जिस प्रकार आकाश में स्थित पुद्गल परमाणु आकाश स्वरूप नहीं होते, उसी प्रकार जो कर्मवर्गणायें आत्मा मे स्थित हैं, वे भी आत्मस्वरूप परिणत नहीं होती। आशय यह है कि, भिन्न स्वरूप के पदार्थ चाहे किसी प्रकार भी आपस में संबद्ध हो जायं, किन्तु वे कभी भी अपने अपने स्वभाव को छोड़कर दूसरे के स्वभावरूप नहीं होते। देखिये— जिस प्रकार पुद्गल के परमाणु मूर्तिक हैं, और आकाश अमूर्तिक पदार्थ है, इसलिये आधाराधेयभाव से संबद्ध होने पर भी वे आकाशरूप अमूर्तिक नहीं होते। उसी प्रकार यद्यपि बहुत से कर्म आत्मा के साथ संबद्ध हैं, परन्तु वे आत्मस्वरूप परिणत नहीं होते, अर्थात् आत्मा का जैसा चैतन्य और अमूर्तिक स्वभाव है, ~~जैसा कर्मों का चैतन्य और अमूर्तिक स्वभाव है~~, वैसा कर्मों का चैतन्य और अमूर्तिक स्वभाव नहीं होता, वे तो प्रत्येक अवस्था में जड़ और मूर्तिक ही रहते हैं।

अपि च—

जिस प्रकार कर्म आत्मा का स्वरूप नहीं है, उसी प्रकार उस कर्म का जो सुख दुःख आदि, कार्यकल्पनासमूह आदि हैं वे भी आत्मा के स्वरूपभूत नहीं हैं। इसलिये जो उन सबो में आत्मबुद्धि नहीं रखता है, वह जीव संसार में सुखी होता है। देखिये—

कर्म न यथा स्वरूपं न तथा तत्कार्यकल्पनाजालम्।
तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति॥

(पद्मनन्दि पंचविंशतिका श्लोक २९)

उपर्युक्त विचार वाले परमार्थवादी क्यों नहीं, आगे यह बताते हैं—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति वुच्चंति॥ ४४॥

एते कर्मोद्भवा भावा विभावाः सन्ति नो निजाः।
जिनेन्द्रैर्भणिताः सर्वे जीव इत्युच्यते कथम्॥ ४४॥

भावार्थ— पूर्वोक्त अध्यवसानादि सभी भाव, पुद्गलपरिणाम होने के कारण आत्मा के नहीं हैं, ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है। फिर उन सबों को जीव कैसे कह सकते हैं।

*विशेषार्थ— पूर्वोक्त कर्मादिभाव जीव क्यों नहीं हैं? इसका समाधान आचार्य करते

हैं— कि पूर्वोक्त अध्यावसानादिक भावों को अरहन्त देव ने पुद्गलद्रव्य परिणाममय चैतन्य-शून्य कहा है, अतः वे चैतन्य स्वभावमय जीव द्रव्य नहीं हो सकते । अतः जो अध्यवसानादि भावों को जीव कहते हैं वे परमार्थवादी नहीं हैं । क्योंकि उनका पक्ष आगम, युक्ति तथा स्वानुभव बाधित है । यहाँ "पुद्गल और तत्कार्य जीव नहीं हैं" ऐसा जो सर्वज्ञ का वचन है वही आगम है । स्वानुभवगर्भित युक्ति यह है कि स्वाभाविक रागद्वेषादि से मलिन जो अध्यावसानादि हैं वह जीव नहीं हो सकते क्योंकि जैसे सुवर्ण, कालिमा से भिन्न रूप में विज्ञ पुरुषों को उपलब्ध होता है, उसी प्रकार अध्यवसान से भिन्न चिदेकस्वभाव जीव का भी ज्ञानियों को प्रत्यक्ष अनुभव होता है । एव कर्मादि से भी भिन्न जीव का अनुभव ज्ञानियों को है । अतः कर्मादिस्वरूपता भी जीव मे सम्भव नहीं हो सकती । अब पुद्गल को ही आत्मा जानने वाले अज्ञानियो के लिये समभाव से आचार्य उपदेश करते हैं कि—

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः ॥

(कलश)

अर्थ— हे भव्य ! तुम्हें व्यर्थ कोलाहल से क्या लाभ है, उस कोलाहल से तू विरक्त होकर एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल और लीन होकर देख ! इस प्रकार ६ महीने अभ्यास करके देख, कि हृदय सरोवर में पुद्गल से भिन्न, तेजःपुजरूप आत्मा की उपलब्धि होती है कि नहीं ? आचार्य का आशय है कि साँसारिक प्रपञ्च को त्यागकर कुछ काल तक अन्तर्मुखीवृत्ति बनाने से आत्मतत्व की स्वय उपलब्धि होगी । इसमें सशय नहीं है ।

अध्यवसानादि पौद्गलिक भावो को आगम मे जीव के भाव क्यो कहा है, अब इसका उसका उत्तर देते हैं—

अट्ठविहं पियकम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति ।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं निविपच्च माणस्स ॥ ४५ ॥

सर्वमष्टविधं कर्म पुद्गलमयमस्ति तद् ।
दुःखं विपच्यमानस्य कर्मणः फलमुच्यते ॥ ४५ ॥

भावार्थ— जैन धर्म मे ज्ञानावरणादि आठ कर्म माने गये हैं । वे सभी पौद्गलिक अर्थात् प्राकृतिक हैं ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है । उन आठों कर्मों का विपाक दुःखदायी है ।

विशेषार्थ— यद्यपि ज्ञानावरणादि आठ कर्म अपने अपने गुणों को घातने मे प्रसिद्ध हैं किन्तु आचार्य कहते हैं कि सामान्यतः आठों ही कर्म आत्मा को आकुलित कर, दुःख पहुंचाते हैं । पञ्चाध्यायीकार ने इस विषय को निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—

सामान्याख्या यथा कृत्स्नकर्मणामेकलक्षणात् ।
जीवस्याकुलतायाः स्याद्धेतुः पाकागतो रसः ॥ २-१११२

न चैतदप्रसिद्धं स्याद् दृष्टान्ताद्विषभक्षणात् ।
दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात् ॥ २–१११३
कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च ।
अस्ति किंचिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक् ॥ २–१११४

अर्थात्—

सब कर्मों में दो प्रकार की शक्ति है, एक सामान्य दूसरी विशेष । सामान्यतः सब कर्मों का उदय जीव की आकुलता का हेतु होता है । यही कर्मों की सामान्यशक्ति है । प्रत्येक कर्म का अपने अपने गुणों को घातना यह विशेषशक्ति है । जैसे दर्शनावरणी कर्म का आत्मा के दर्शन गुण को घातना तथा ज्ञानावरणी कर्म का ज्ञान गुण को घातना एक ही कर्म के दो कार्य अप्रसिद्ध नहीं हैं । क्योंकि देखा जाता है कि एक ही विषभक्षणरूप कर्म, सामान्य दुःख तथा प्राणघातरूप, विशेष दुःख को देता है । अतः यह प्रसिद्ध है कि आठों ही कर्मों का विपाक दुःखदायी है । ज्ञानावरणादि की तरह कोई एक कर्म सुख का घातक नहीं माना गया है ।

आगे आचार्य व्यवहारनय की आवश्यकता बताते हैं—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिओ जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥ ४६ ॥

जीवा रागादयो भावा व्यवहारेण वर्णिताः ।
जिनैः पौद्गलिकाः सर्वे न ते जीवाः सुनिश्चयात् ॥ ४६ ॥

भावार्थ— ये अध्यावसानादि भाव अर्थात् रागादि भाव जीव हैं । ऐसा उपदेश व्यवहारनय से जिनदेव ने किया है । किन्तु वे वस्तुतः जीव नहीं हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

विशेषार्थ— आशय यह हुआ, कि ये अध्यवसानादि भाव जीव हैं ऐसा जो जिन देव ने कहा है, वह (असत्यार्थ) व्यवहारनय का मत है । किन्तु जैसे म्लेच्छों को म्लेच्छ भाषा से ही वस्तु का ज्ञान हो सकता है, उसी प्रकार व्यवहारी जीवों के लिये व्यवहारनय के अनुसार ही पहले उपदेश देना धर्म प्रवृत्ति के लिये सार्थक है—

इसी व्यवहारनय का दृष्टान्त द्वारा आगे कथन करते हैं—

राया हु णिग्गओ त्ति य एसो वलसमुदयस्स आएसो ।
ववहारेण दु उच्चइ तत्थेक्को णिग्गओ राया ॥ ४७ ॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणाइअण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीओ ॥ ४८ ॥

सैन्येन सार्धं च नृपे गते सति, एकोऽत्र राजेति गतो निगद्यते ।
आदेश एवं व्यवहारतः स्फुटं सम्पूर्णसेना नियमेन नो नृपः ॥ ४७ ॥
एवं रागादिभावान्वै व्यवहारान्मनीषिभिः ।
आत्मेति भणितः सूत्रे चिदेकस्तत्र निश्चयात् ॥ ४८ ॥

भावार्थ— जैसे, सेना सहित राजा के निकलने पर यह राजा निकला, इस प्रकार का कथन व्यवहार मात्र है। वास्तव में उस सेना में राजा तो एक ही है, सम्पूर्ण सेना तो राजा निश्चय से नहीं है।

इसी प्रकार अध्यवसानादि परभावो को शास्त्र में ये जीव हैं, ऐसा व्यवहारनय से कहा है, किन्तु निश्चयनय से ये जीव नहीं है। क्योंकि निश्चयनय से तो जीव एक ही है।

विशेषार्थ— जैसे यह कहते हैं— कि यह राजा पाँच योजन के विस्तार से निकल रहा है, वहाँ विचार से देखा जाय, तो एक राजा का पाँच योजन में फैलकर जाना असम्भव ही है। फिर भी व्यवहारी जनों का सेना के समुदाय मे राजा कहने का व्यवहार है। परमार्थ से तो राजा एक ही है, सेना राजा नहीं। उसी तरह यह जीव, समस्त रागादि स्थानों को व्याप्त करके प्रवर्त रहा है। परन्तु वस्तुतः विचारा जाय, तो एक जीव का समस्त रागादि मे फैलकर रहना असम्भव है। तो भी व्यवहारी लोगों का अध्यवसानादिक परभावो मे ये जीव हैं, ऐसा व्यवहार, व्यवहारनय से ही है। परमार्थ से तो जीव एक ही है। अध्यवसानादिकभाव जीव नहीं हैं।

यदि अध्यवसानादिक. जीव नही हैं तो परमार्थतः जीव कैसा है ? उसका क्या लक्षण है ? इसका उत्तर आगे देते हैं—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ४६ ॥

अशब्दमस्पर्शमगन्धमेव योऽचिन्त्यमव्यक्तमनामयतम्।
सस्थानहीन पुरुष पुराणं जानीहि जीवं खलु चित्स्वरूपम् ॥ ४९ ॥

भावार्थ— हे मुमुक्षु ! तुम जीव को ऐसा जानो, कि वह शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध रहित होने से इन्द्रियो के गोचर नहीं हैं, अनिर्दिष्ट संस्थान है, अर्थात् उसका आकारादि जाना नहीं जा सकता, और न किसी चिन्ह से पहचाना जा सकता है। वह अव्यक्त है, अनामय अर्थात् कर्मादि से रहित शुद्धस्वरूप है, अतः वह केवल चित्स्वरूप मात्र है।

विशेषार्थ— जीव, पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण तथा पुद्‌गलद्रव्य के गुणो से भी भिन्न होने के कारण रस, रूप, गन्ध आदि गुणो से रहित है। यह आत्मा द्रव्यान्तर से रचित संस्थान अर्थात् साकार है, ऐसा नहीं कहा जा सकता तथा अपने नियत स्वभाव से अनियत अनन्त सस्थानयुक्त शरीर में वर्तता है, इसलिये भी उसका एक सस्थान नहीं कहा जा सकता। छहो व्यक्त द्रव्यो से भिन्न है, अतः जीव व्यक्त नही है, अव्यक्त है। कषाय समूह, जो भावक भाव है वह व्यक्त है, जीव उन से भिन्न है। इस हेतु से भी अव्यक्त है। चित्सामान्य में चैतन्य की सभी व्यक्तियाँ अन्तर्भूत हैं, इसलिये भी जीव को अव्यक्तकहते हैं। स्वसवेदन बल से आत्मा नित्य प्रत्यक्ष है, इसलिये अनुमानमात्र गम्य न होने के कारण अलिग ग्रहण है। अपने अनुभव में आने वाले चेतना गुण से नित्य अन्तः प्रकाशमान है, इसलिये चेतनागुण-चित्स्वरूप है। ऐसे निर्मल ज्योतिः स्वरूप आत्मा के स्वरूप को वर्णन करते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि—

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इदमुपरिचरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥

अर्थ— हे भव्य आत्माओ ! अपनी आत्मा का आत्मा में ही अनुभव करो । ऐसा अनुभव करो, कि आत्मा चिद्भिन्न सब भावों को सर्वथा छोड़कर अच्छी तरह अपनी चिच्छक्तिमात्र को अवगाहन कर समस्त लोक के ऊपर बिचर रहा है, वह अनन्त और अविनाशी है।

उपर्युक्त भावों का व्याख्यान ६ गाथाओं मे आगे करते हैं—

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूपं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ॥ ५० ॥
जीवस्स णत्थि राओ ण वि दोसो णेव विज्जए मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५१ ॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥ ५२ ॥

जीवस्य देहो न रसो न गन्धो रूप तथा संहननं न तस्य ।
संस्थानमद्धा नहि विद्यते वा श्रोत्र न नेत्रं न मुखं न पादौ ॥ ५० ॥
न द्वेषरागौ न च कामक्रोधौ न प्रत्यया नैव च कर्मबन्धः ।
नोकर्म तस्यास्ति न चास्ति मोहो द्वन्द्वैर्विमुक्तः सकलैश्च संगैः ॥ ५१ ॥
गुणस्थानानि नो तस्य न वर्गो वर्गणा तथा ।
अनुभागो न जीवस्य स्पर्द्धकानि न मार्गणा ॥ ५२ ॥

भावार्थ— जीव मे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि नहीं हैं, तथा शरीर, संस्थान, संहनन आदि भी नही हैं और राग, द्वेष, मोह आदि भी नहीं हैं, एव कर्म, नोकर्म तथा इनका आश्रव भी नही है । अनुभाग व गुण स्थानादि भी नहीं हैं । इसी प्रकार वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक आदि भी नहीं हैं ।

आगे इसी विषय को स्पष्ट करते हैं—

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५३ ॥
णो ठियबधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
जेण विसोहीट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥ ५४ ॥

णेव य जीवाठ्ठणा ण गुणणट्ठाणा व अत्थि जीवस्स।
जेण उ एए सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ५५ ॥

बन्धस्थानं न जीवस्य नोदयस्थानमेव च।
योगमार्गणयोः स्थाने नैव तस्यात्मनो ध्रुवम् ॥ ५३ ॥
बन्धस्थानं स्थितिस्थानं संक्लेशस्थानमात्मनः।
शुद्धस्थानानि नो सन्ति संयमलब्धिरस्य न ॥ ५४ ॥
जीवस्थानानि नो तस्य गुणस्थानानि वा तथा।
जड़स्य परिणामास्ते न जीवस्य कदाचन ॥ ५५ ॥

भाषार्थ— जीव के योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, नहीं हैं, न मार्गणास्थान है। न स्थितिबन्धस्थान हैं अथवा न संक्लेश स्थान हैं। विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी नही हैं। तथा जीवस्थान, गुणस्थानादि भी नही हैं, क्योकि ये सभी जड पुद्गल के परिणाम हैं, अतः जीव के कभी नहीं हो सकते।

विशेषार्थ— उपर्युक्त गाथाओ के अर्थ को समझने के लिये कुछ पारिभाषिक शब्दो का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। अतः उनका हम क्रमशः सक्षेप मे अर्थ लिखते हैं—

(१) वर्ग— समान अविभागी प्रतिच्छेदो के धारक प्रत्येक कर्मपरमाणु को "वर्ग" कहते हैं।

(२) वर्गणा— वर्गों के समूह को "वर्गणा" कहते हैं।

(३) स्पर्द्धक— वर्गणाओ के समूह को "स्पर्द्धक" कहते हैं।

(४) सस्थान— शरीर की विशेष प्रकार की रचना या आकृति को "सस्थान" कहते हैं।

(५) संहनन— शारीरिक अस्थियो के बन्धनविशेष को "सहनन" कहते हैं।

(६) स्थान— न्यूनाधिक अवस्थाओ को अर्थात् श्रेणियो को "स्थान" कहते हैं।

(७) प्रत्यय (आश्रव)— कर्मों के आने का द्वार।

(८) मार्गणा— जिन जिन गुण विशेषों से आत्मा का अन्वेषण किया जाता है उन गुणविशेषो को "मार्गणा" कहते हैं।

मार्गणायें चौदह हैं। इसलिये समस्त संसारी जीवो का समावेश इन चौदह भेदो में होजाता है।

चौदह भेद— १— गति, २— इन्द्रिय, ३— काय, ४— योग, ५— वेद,, ६— कषाय, ७— ज्ञान, ८— सयम, ९— दर्शन, १०— लेश्या ११— भव्यत्व, १२— सम्यक्त्व, १३— संज्ञित्व और १४— आहारमार्गणा।

(९) जीवस्थान— जीवस्थान ४२ हैं। सांसारिक जीवो की अवस्थाविशेष अर्थात् श्रेणियो को "जीवस्थान" कहते हैं।

(१०) योगस्थान— योगशक्ति के परिणमन के दर्जों को "योगस्थान" कहते हैं। योग दो प्रकार का है एक द्रव्ययोग, दूसरा भावयोग।

द्रव्ययोग— मन, वचन, काय के निमित्त से आत्मस्पन्द को "द्रव्ययोग" कहते हैं।

भावयोग— कर्म, नोकर्म के आकर्षण करने वाली आत्मा की योग-शक्ति को "भावयोग" कहते हैं।

(११) संयमलब्धि— सम्यक् प्रकार से यम, नियमों के पालन करने को "संयम" कहते हैं अर्थात् इन्द्रिय, शरीर, मन आदि को जीतना ही "संयम" है।

संयम की प्राप्ति को "संयमलब्धि" कहते हैं।

सयमलब्धि की श्रेणियों (दर्जों) को "संयमलब्धिस्थान" कहते हैं।

शेष पारिभाषिक शब्दों का वर्णन पहले कर चुके हैं।

भावार्थ— काला, पीला, हरा, लाल आदि वर्ण अथवा सुगन्ध, दुर्गंध आदि जीव के नहीं हैं, क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम को प्राप्त हुए ये सभी अनुभूति से भिन्न है अर्थात् पृथक् हैं। इसी प्रकार कड़ुआ, तीता, खट्टा, मीठा आदि रस, गर्म, ठंढा, कोमल, कठोर आदि स्पर्श, आहारक, तैजस, कार्मण आदि शरीर, समचतुरस्र, स्वातिक, कुब्जक आदि संस्थान। वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच आदि संहनन। प्रीतिरूप राग, अप्रीतिरूप द्वेष, यथार्थतत्व की अप्राप्तिरूप मोह। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि आश्रव, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय आदि आठ कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक आदि कुछ भी जीव के नहीं हैं। क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, और अनुभूति से भिन्न हैं। जीव तो वस्तुतः चैतन्यशक्ति मात्र है।

इसी भाव को आचार्य संक्षेप में कहते हैं कि—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुँसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परंस्यात् ॥
(कलश)

अर्थात्—

परमार्थ से तो अभेद ही है, अतः निश्चयनय से देखने पर चैतन्यमय पुरुष में वर्णादिक तथा रागादिक कुछ भी नहीं हैं। क्योकि वह तो एक ही है।

अब आचार्य उत्तररूप गाथा कहते हैं—

विवहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमाईया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्चयणयस्स ॥ ५६ ॥

जीवस्य व्यवहारेण वर्णाद्या व्यपदेशिताः।
गुणस्थानान्तभावाश्चतस्य शुद्धनयेन न ॥ ५६ ॥

भाषार्थ— वर्णादि से गुणस्थानपर्यन्त, जितने भाव हैं, वे व्यवहारनय से तो जीव के कहे गये हैं, किन्तु निश्चयनय से इनमें से कोई भी जीव के नहीं होते हैं।

विशेषार्थ— व्यवहारनय पर्यायाश्रित है, अतः पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से जिसकी बन्धपर्याय प्रसिद्ध है, ऐसे जीव के "कुसुम्भ" पुष्प के रंग से रंगे हुए सफेद वस्त्र की

तरह औपाधिक वर्णादि भावों को अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है, इसलिये दूसरे के भावों को दूसरे में कहता है, और निश्चयनय शुद्धद्रव्याश्रित होने से केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव को अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है। अतः दूसरे के भावों को दूसरे में नहीं कहता है, प्रत्युत निषेध करता है। अतः व्यवहारनय से वर्णादिकगुणस्थानपर्यन्त भावों को जीव मे कहा गया है, और शुद्धनय से जीव में उन भावों का निषेध किया गया है।

जीव मे निश्चयनय से वर्णादि क्यों नहीं है ? इसका उत्तर अग्रिम गाथा से कहते हैं—

एएहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणदव्वो ।
ण य हुंति तस्सताणि दु उव ओग गुणाधिगो जम्हा ॥ ५७ ॥

जीवस्यैतैश्च सम्बन्धः पयोवारिवदेव हि ।
उपयोगगुणाधिक्यात्तानि जीवस्य नैव च ॥ ५७ ॥

भावार्थ— वर्णादिभावों के साथ जीव का सम्बन्ध जल और दूध के एक क्षेत्रावगाह-रूप सम्बन्ध के सदृश ही जानना चाहिये। वे जीव के नहीं हैं, क्योंकि जीव, उपयोगरूप अधिक गुण वाला है।

विशेषार्थ— जैसे, जल से मिले हुए दूध का जल के साथ परस्परावगाहरूप सम्बन्ध रहने पर भी दूध स्वलक्षणभूत दुग्धगुण से व्याप्त होने के कारण जल से अधिक गुण वाला होता है, अग्नि और उष्णता के सदृश तादात्म्यापन्न नहीं होता है, उसी तरह वर्णादिक पुद्गल-द्रव्य के परिणामों से मिला हुआ आत्मा पुद्गलद्रव्य के साथ परस्परावगाहरूप सम्बन्ध रखता हुआ भी उपयोगरूप गुण से अधिक गुणवान होने के कारण पुद्गल से पृथक् है, भिन्न है, अतः वर्णादिकभाव पुद्गल के ही हैं, जीव के नहीं।

आगे निश्चयनय और व्यवहारनय का "विरोधपरिहार" तीन गाथाओं से करते हैं—

पंथे मुस्संतं पस्सिऊण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सइ एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥ ५८ ॥
तह जीवो कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिऊ वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तं ॥ ५९ ॥
एवं गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥ ६० ॥

पथिके मुष्यमाणे वै वदन्ति व्यवहारिणः ।
मुष्यते खलु मार्गोऽयं न पन्था मुष्यते क्वचित् ॥ ५८ ॥
नोकर्मकर्मणोर्वर्णं दृष्ट्वा जीवे तथैव च ।
वर्णोऽयमात्मनः प्रोक्तो जिनेन्द्रैर्व्यवहारतः ॥ ५९ ॥

स्पर्शगन्धरसादि र्वा संस्थानादिस्तथैव च ।
भेदनयेन वै प्रोक्ताः शुद्धविद्भिर्जिनेश्वरैः ॥ ६० ॥

भावार्थ— जैसे, रास्ते में चलते हुए आदमी को लुटा हुआ देखकर व्यवहारी जन कहते हैं, कि यह रास्ता लुटता है, किन्तु परमार्थ से विचारा जाय तो वहाँ रास्ता नहीं लुटता है । जाते हुए लोग ही लुटते हैं । उसी तरह जीव में आश्रित कर्म और नोकर्मों का वर्ण देखकर जीव का यह वर्ण है, ऐसा जिनदेव ने व्यवहार से कहा है ।

विशेषार्थ— आशय यह है, कि जैसे पूर्वोक्तस्थान में रास्ता लुटता है, यह प्रयोग वास्तविक नहीं है किन्तु औपचारिक है । उसी तरह जीव में वर्णादि का व्यवहार वास्तविक नहीं है, किन्तु औपचारिक ही है, ऐसा समझना चाहिये । निश्चयनय से गन्ध, रस, संस्थान आदि भी जीव के औपचारिक ही समझने चाहियें ।

वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य क्यों नहीं है ? सो कहते हैं—

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाम होंति वण्णाई ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥ ६१ ॥

तत्र संसारिजीवानां वर्णाद्याश्च भवन्ति वै ।
सन्ति वर्णादयो नैव विमुक्तानां कदाचन ॥ ६१ ॥

भावार्थ— संसारी जीवों के ही वर्णादिक होते हैं जो संसार से मुक्त होगये हैं, उनके तो निश्चयनय से वर्णादिक कुछ भी नही होते ।

विशेषार्थ— जिन भावो के साथ जिसका सम्बन्ध कभी नहीं छूटता है, उसका उसके साथ तादात्म्य अर्थात् अभेद होता है । जीव का ससारावस्था में वर्णादिक भावो से सम्बन्ध रहते पर भी मुक्तावस्था मे वर्णादिक भावों से बिल्कुल ही सम्बन्ध नहीं रहता है । अतः वर्णादिक भावो का और जीव का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है ।

जीव का वर्णादिक भावों से तादात्म्य माननें पर क्या दोष होता है ? उसे दिखाते हैं—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावात्ति मण्णसे जहि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दुहे कोई ॥ ६२ ॥

जीवस्यैवाखिलान् भावान् मन्यसे यदि निश्चयात् ।
जड़चेतनयोर्भेदो भवेन्नैव कथञ्चन ॥ ६२ ॥

भावार्थ— वर्णादिक सभी भाव यदि जीव के ही हैं, ऐसा तुम मानोगे, तो जीव अजीव का कुछ भी भेद नहीं रहेगा ।

विशेषार्थ— तात्पर्य यह है, कि यदि जीव का वर्णादिक भावों से तादात्म्य मानोगे, तो जीव भी पुद्गलद्रव्य ही होजायगा । पुद्गल और जीव में कुछ भी भेद नहीं रहेगा । फलतः जीव की कोई स्वतन्त्रसत्ता ही नहीं सिद्ध हो सकेगी । इस तरह जीव का अभाव ही होजायगा । यह बड़ा भारी दोष उपस्थित होगा ।

संसारावस्था मे भी जीव का वर्णादिक भावो से तादात्म्य मानने पर यही दोष होगा इसे दिखाते हैं—

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णाई ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥ ६३ ॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमई ।
णिव्वाणमुवगओ वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥ ६४ ॥

मते ते भुवि जीवानां वर्णाद्याश्च भवन्ति चेत् ।
संसारस्थास्तदा जीवा रूपत्वमाप्नुयुर्ध्रुवम् ॥ ६३ ॥
एवं च पुद्गल द्रव्यं जीवस्तल्लक्षणेन वै ।
मोक्षमुपगतो वापि जीवत्वं पुद्गलो यतः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ— यदि ससारी जीव का वर्णादि के साथ तुम तादात्म्य अर्थात् अभेद मानोगे, तो तुम्हारे मत में संसारी जीव, रूपवान् होजायगा ।

और ऐसा होने से पुद्गलद्रव्य ही जीव होगा। केवल संसारावस्था में ही पुद्गल जीवत्व को प्राप्त करेगा, सो नहीं। किन्तु मोक्ष को प्राप्त हुआ भी पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त हो जावेगा न कि कोई दूसरा चित्स्वरूप। फलतः चित्स्वरूप किसी जीव विशेष का अस्तित्व ही नहीं बन सकेगा, अतः पूर्वोक्त दोष से जीव का अभाव ही सिद्ध होजायगा । अतः वर्णादिक भावों का जीव के साथ तादात्म्य नहीं मानना चाहिये।

विशेषार्थ— अभिप्राय यह है, कि यदि ससार अवस्था में भी निश्चय से वर्णादिकों का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध माना जावेगा, तो मोक्ष की ही सिद्धि न हो सकेगी। क्योंकि मोक्ष तो वर्णादिक पौद्गलिक (प्राकृतिक) विभावों से छूटने का नाम ही है। और वर्णादि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने से उनसे छूटना असम्भव है।

दूसरी बात यह है कि वर्णादि का जीव के साथ तादात्म्य मानने पर जीव और पुद्गल में कोई भेद न रह सकेगा, ऐसी परिस्थिति में जीव की कोई पृथक् सत्ता ही न रहेगी, पुनः मोक्ष किसका, इत्यादि अनेक दोष उपस्थित होगे। अतः जीव के साथ वर्णादि का संयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है।

इसी विषय को अग्रिम गाथा मे और पुष्ट करते हैं—

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा ।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥ ६५ ॥
एदेहिं य णिव्वुता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पुग्गलमइहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो ॥ ६६ ॥

एकं द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्चेन्द्रियाणि प्राणिनः ।
ते पर्याप्तेतराः स्थूलाः प्रकृतयो हि कर्मणः ॥ ६५ ॥

प्रकृतिभिर्निर्वृत्तानि जीवस्थानानि यानि वै ।
ताभिः पुद्गलरूपाभिर्जीवः स भण्यते कथम् ॥ ६६ ॥

भावार्थ— एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तथा स्थूल, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त ये सभी जीव नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं।

इन कारणभूत प्रकृतियों से ही जीव समास रचे गये हैं। उन पुद्गलमय प्रकृतियों से रचे हुए को "जीव" कैसे कह सकते हैं।

विशेषार्थ— निश्चयनय से कर्म और करण में अभेद माना गया है। अतः जिस से जो किया जाता है, वह वही होता है, अन्य नहीं, यह सिद्ध हुआ। जैसे सुवर्ण से बनाये गये कुण्डलादि सुवर्ण ही होते हैं, अन्य द्रव्य नहीं। इसी प्रकार बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त आदि जितने जीवस्थान हैं वे सभी पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं, अतः वे सभी पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं। क्योंकि जो पुद्गलमयी प्रकृतियों से बने हैं, वे जीव कैसे कहे जा सकते हैं? इसी अर्थ के आचार्य "कलश" कहते हैं—

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्तदेव तत्स्यान्न कथं च नान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यंति रुक्मं न कथञ्चनासिम् ॥
वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥

अर्थ— जिस द्रव्य से जो वस्तु रची जाती है, वह वही द्रव्य होता है। दूसरा कुछ भी नहीं। क्योंकि सुवर्ण से बने हुए तलवार के कोश को लोग सुवर्ण ही देखते हैं, अन्य द्रव्य नहीं। इसी तरह हे भव्य जनो! वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त सभी भाव, जो कि पुद्गल से रचे गये हैं, उनको पुद्गल ही समझो, न कि आत्मा। क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघनस्वरूप है, अतः वह इन भावों से भिन्न ही है।

अब पर्याप्तापर्याप्तादि को जीव संज्ञा क्यों दी गई यह बतलाते हैं—

पज्जत्तापज्जत्तय जे सुहुमा वायराय जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ६७ ॥

अपर्याप्ताश्च पर्याप्ताः सूक्ष्मा वा बादरास्तथा ।
देहस्य जीवसंज्ञा वै प्रोक्ताः सूत्रे विकल्पतः ॥ ६७ ॥

भावार्थ— सूत्र में पर्याप्त, अपर्याप्त और सूक्ष्म, बादर आदि जितनी भी देह आदि की जीव संज्ञाएं कही गई हैं, वे सभी व्यवहारनय को मान कर ही कही गई हैं।

विशेषार्थ— पर्याप्त— जिसके पर्याप्ति हो उसको "पर्याप्त" अर्थात पूर्ण कहते हैं। पर्याप्ति छः हैं— (१) आहार (२) शरीर (३) इन्द्रियें (४) श्वासोच्छ्वास (५) भाषा और (६) मन जिन में ये यथायोग्य पूर्ण होती है उन जीवों को पर्याप्त अर्थात् पूर्ण कहते हैं। और जो इन से रहित हैं उनको अपर्याप्त अर्थात् अपूर्ण कहते हैं। जिस प्रकार घटादि पदार्थ सम्पूर्ण बन जाने पर पूर्ण और उससे पहले अपूर्ण कहे जाते हैं, उसी प्रकार ये जीव भी पर्याप्तियों के पूर्ण निर्माण होने पर पर्याप्त अर्थात् पूर्ण कहलाते हैं, और उससे पूर्व अपर्याप्त, अर्थात् अपूर्ण कहलाते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के दो भेद हैं, एक "बादर" अर्थात् स्थूल दूसरा "सूक्ष्म"।

जीव में वर्णादि का व्यवहार होने पर भी जीव वर्णादिमान् नहीं है, इस अर्थ मे दृष्टान्त देते हैं—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भोघृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः॥

(कलश)

अर्थ— जैसे घृत का कुम्भ है, ऐसा कहने पर भी कुम्भ घृतमय नहीं होता। मृत्तिकामय ही रहता है। उसी तरह जीव वर्णादिमान है ऐसा व्यवहार रहने पर भी जीव मे वर्णादि नहीं हैं। जीव केवलज्ञानघन ही है।

वर्णादि की तरह रागादि भाव भी जीव के नहीं हैं, इसको अग्रिम गाथा से कहते हैं—

मोहणकम्मस्सुदया दु वणिणया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता॥ ६८॥

गुणस्थानानि यानीह चोदयान्मोहकर्मणः।
अचेतनानि चोक्तानि जीवास्तानि भवन्ति किम्॥ ६८॥

भाषार्थ— जितने गुणस्थान हैं, वे सभी मोहकर्म के उदय से होते हैं। ऐसा सर्वज्ञ के आगम में कहा गया है। वे जीव कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते। क्योंकि वे सदा अचेतन हैं ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ— पुद्गलकर्म के उदय से हुए चैतन्य के विकार भी पुद्गल ही हैं क्योंकि शुद्धद्रव्यार्थिक दृष्टि से चैतन्य अभेदरूप है, और इसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्धज्ञानदर्शनरूप हैं। अतः अन्य निमित्त से जो विकार चैतन्य सदृश दीखते हैं वे, चैतन्य की सब अवस्थाओं में व्यापक न होने के कारण चैतन्यरूप नहीं हैं, किन्तु जड़ ही हैं।

यदि वर्णादिक भाव और रागादिक भाव जीव नहीं हैं, तो जीव कौन है? इसका उत्तर आचार्य "कलश" मे कहते हैं—

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते॥

अर्थ— जीव अनादि तथा अनन्त है, अर्थात् उत्पत्ति व विनाश रहित है स्वं संवेद्य है, अर्थात्— अपने से ही जानने योग्य है, स्वय प्रकाश है।

"वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्त्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्त्यतिव्याप्ति वा
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम्॥

(कलश)

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम् ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं *
मोहस्तु यत्कथमहो बत नानटीति ॥

(कलश)

अर्थ— यदि जीव का लक्षण अमूर्तिकत्व करें, तो अजीव धर्माधर्म, आकाश, काल आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति होजायगी। रागादिमत्व लक्षण करें, तो जीव मे सर्वदा रागादिमत्व न होने के कारण अव्याप्ति होजायगी, अतः अव्याप्ति व अतिव्याप्ति दोष रहित चैतन्य मात्र जीव का लक्षण जानना चाहिये।

चैतन्य लक्षण से जीव के प्रगट होने पर अज्ञानियों को निरन्तर मोह होता रहता है यह एक आश्चर्य तथा खेदजनक है, किन्तु इस प्रकार मोहोदय होने पर भी—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥

(कलश)

अर्थ— अविवेक की अनादिकालिक नाट्यशाला मे पुद्गल ही वर्णादिरूप से अनेक प्रकार के नृत्य करता रहता है। अन्य कोई नहीं, क्योंकि जीव तो रागादि पौद्गलिक विकारों से रहित शुद्धचैतन्यस्वरूप है।

ज्ञेय आत्मा स्वयं प्रगट होता है इसको कलश से कहते हैं—

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद् व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥

भावार्थ— यह है, कि भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा जीवाजीव के पूर्ण पृथग्भाव को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होने के पूर्व ही ज्ञाताद्रव्य अपनी विश्वव्यापिनी व्यक्तज्ञानशक्ति द्वारा ज्ञानरूपी करोंत (आरी) की कलना को नचाता हुआ प्रगट होता है अर्थात् रंग मच पर अवतरित होता है।

तत्वज्ञान तरंगिणी में कहा है कि—

---

* जीव और अजीव लक्षण भिन्न होने से सर्वथा भिन्न २ हैं। इस बात को ज्ञानीजन स्वय स्पष्टरूप से अनुभव करता है। परन्तु तिस पर भी खेद है, कि अत्यन्त बढा हुआ यह महामोह अज्ञानियों को व्यर्थ ही अनेक प्रकार से नाच नचाता है। अर्थात् उन्हें शुद्धात्मानुभूति से विमुख रखता है।

भेदज्ञानप्रदीपोऽस्ति शुद्धचिद्रूपदर्शने-
अनादिजमहामोहतामसच्छेदनेऽपि च।
भेदज्ञाननेत्रेण योगी साक्षादवेक्षते
सिद्धस्थाने शरीरे वा चिद्रूपं कर्मणोज्झितम्॥

अर्थात्—

शुद्ध चैतन्य के स्वरूप को देखने के लिये भेदज्ञान "दीपक" के समान है, और यही भेदज्ञान अनादि काल के महामोहरूप अन्धकार को भी नाश करता है। योगी भेदज्ञानरूप नेत्र से सिद्धस्थानरूप शरीर में कर्मबन्ध से रहित अपने चैतन्यरूप को देखते हैं।

इति जीवाजीवाधिकारः ॥ १ ॥

अथ कर्तृकर्माधिकारः (२)

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदाऽऽस्रवाण दोह्लं पि ।
अण्णाणी तावदु सो कोहाइसु वट्टए जीवो ॥ ६९ ॥
कोहाइसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचऊ होइ ।
जीवस्सेवं बंधो भणिऊ खलु सव्वदरसीहिं ॥ ७० ॥

भेदं जानाति नो यावद् य आत्माश्रवयोर्जनः ।
क्रोधादौ वर्तते ताव दज्ञानी स भवेद्‌ध्रुवम् ॥ ६९ ॥
क्रोधादौ वर्तमानस्य कर्मणस्तस्य संचयः ।
तस्माच्च भणितो बन्धो जीवस्य सर्वदर्शिभिः ॥ ७० ॥

भावार्थ— यह जीव जब तक आत्मा और आश्रव इन दोनों का भेद नहीं जानता है, तब तक अज्ञानी रहता है । और क्रोधादिक कषाय भावो मे प्रवृत्त होता रहता है ।

क्रोधादिको मे वर्तते हुए उसके कर्मों का संचय होता है । इस प्रकार जीवों के कर्मों का बन्ध सर्वज्ञदेवों ने निश्चय से कहा है ।

विशेषार्थ— यह आत्मा जैसे अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमन करता है, उसी तरह क्रोधादिरूप भी परिणमता है । इस परिणमन मे स्वयं तो कर्ता है और वे क्रोधादि कर्म हैं । इस प्रकार अनादि अज्ञान से कर्ता कर्म की प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से बन्ध तथा बन्ध सन्तान से अज्ञान होता है, सन्तान अनन्त है, अतः इतरेतराश्रय दोष नहीं होता ।

इस कर्ता कर्म की प्रवृत्ति का कब नाश होता है, इसे आगे दिखाते हैं—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णायं होइ विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥ ७१ ॥

यदात्माश्रवयोर्भेदो ज्ञातो जीवेन वै भवेत् ।
नैव बन्धस्तदा तस्य ह्यागमे कथितो जिनैः ॥ ७१ ॥

भावार्थ— जब इस जीव को अपना और आश्रवो का भेदज्ञान होजाता है, तब बन्ध नहीं होता । ऐसा आगम मे जिनदेवो ने निश्चय से कहा है ।

विशेषार्थ— आशय यह है कि, जब क्रोधादिक भाव और ज्ञान ये दोनो भिन्न हैं, ज्ञान में और क्रोधादि में एकपना नहीं है । जब ऐसा ज्ञान होजाता है, तब अनादिकाल की अज्ञानजन्य कर्तृकर्म प्रवृत्ति नष्ट होजाती है । और प्रवृत्ति के नाश से अज्ञान निमित्तक कर्मबन्ध भी निवृत्त हो जाता है । इस तरह ज्ञान से बन्ध की निवृत्ति होती है । यथा चोक्तम्—

कालुष्याभावतोऽकर्म कालुष्यं कर्मतः पुनः।
एकनाशे द्वयोर्नाशः स्याद्बीजांकुरयोरिव ॥
(योगसार, अ० ९-४१)

अर्थात्— कालुष्य के अभाव से कर्मों का अभाव होता है और कर्म से कालुष्य की उत्पत्ति होती है, और एक के नाश से दोनों का नाश, बीजांकुर की तरह होता है। आशय यह है— कि जिस प्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की उत्पत्ति होती है। तथा अंकुर के अभाव से बीज का अभाव और बीज के अभाव से अंकुर का अभाव होजाता है, उसी प्रकार कालुष्य से कर्म, कर्म से कालुष्य होता है और कालुष्य के अभाव से कर्मों का अभाव और कर्मों के अभाव से कालुष्य का अभाव होजाता है।

ज्ञान से बंध की निवृत्ति किस तरह होती है? इसे कहते हैं—

णाऊण आसवाणं असुइत्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणइ जीवो ॥ ७२ ॥

अशुचयो दुःखमूलाश्च सर्वे सन्त्याश्रवा इति।
तान् विपरीतभावांश्च ज्ञात्वा त्यजति पंडितः ॥ ७२ ॥

भावार्थ— सभी आश्रव अशुचि तथा विपरीत भाव के हैं और दुःख के कारण हैं। ऐसा जानकर जीव उन से निवृत्त होता है अर्थात् उनको त्याग देता है।

विशेषार्थ— आश्रव अशुचि है, जड है, दुःख के कारण हैं और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुखस्वरूप है। इस तरह भिन्न लक्षण से दोनो को भिन्न जानकर आत्मा (जीव) आश्रवो से निवृत्त होजाता है। और उसको कर्म का बन्ध नही होता। क्योकि यदि ऐसा जान लेने पर भी निवृत्ति न हो, तो वह ज्ञान ही न हुआ, प्रत्युत अज्ञान ही हुआ। ज्ञान होने पर कर्म बन्धादि नही होते, इस अर्थ में कलश कहते हैं—

परपरणतिमुज्झन् खंडयेद्भेदवादा-
निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥

अर्थात्—

अन्य द्रव्यरूप परिणमन को छोड़ते हुए तथा मतिज्ञानादि भेदों का नाश कर उदित हुए अखण्ड ज्ञान के प्रकाश होने पर कर्तृकर्म प्रवृत्ति और पौद्गलिक कर्मबन्ध कैसे हो सकते हैं? कथमपि नही हो सकते हैं।

किस प्रकार की भावना से आत्मा क्रोधादि आश्रवो से निवृत्त होता है, इसे आगे कहते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठियो तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥ ७३ ॥

सदा शुद्धैकरूपोऽहं ज्ञानदर्शनमंदिरम्।
आत्मस्थितमनाः सर्वान् क्षयमेतान्नयाम्यहम् ॥ ७३ ॥

भाषार्थ— ज्ञानी विचार करता है, कि मैं निश्चय से शुद्ध हूँ, ममता रहित हूं तथा ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ, आत्मा में स्थित और तन्मय होकर आत्मा से पृथक् इन काम-क्रोधादि आश्रवों को नाश करता हू।

विशेषार्थ— अर्थात् जब जीव को ऐसा अनुभव होता है कि मैं "अखण्ड ज्योतिस्वरूप चैतन्य मात्र हूं" पुद्गल द्रव्यरूप परिणमन से शून्य होने के कारण उन से निर्मम हूँ, ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण हूँ, अपने अज्ञान से आत्मा मे जो ये क्रोधादि भाव उत्पन्न हुए हैं उनका क्षय (नाश) करता हू, तो आश्रवो से निवृत्त होजाता है। जैसे बहुत काल से समुद्र के भवर से पकड़ा हुआ जहाज भंवर के पलटने पर भंवर से छूट जाता है।

जिस कालमे स्वानुभूत्यात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है उस कालमें रागादि आश्रव की निवृत्ति होती है, इसे आगे कहते हैं—

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफलत्ति य णाऊण णिवत्तए तेहिं ॥ ७४ ॥

एते जीवनिबद्धा वै, अनित्याशरणा इति।
दुःखफलाश्च दुःखानि ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते ॥ ७४ ॥

भाषार्थ— ये क्रोधादि आश्रव जीव मे निबद्ध हैं, अर्थात् औपाधिक हैं। अध्रुव, अनित्य, अशरण हैं, दुःखस्वरूप हैं, और इनका परिणाम भी दुःखस्वरूप ही है, ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष उन से निवृत्त होता है।

विशेषार्थ— ये आश्रव, लाख और वृक्ष की तरह बध्य घातक स्वभाव वाले हैं अर्थात् जैसे पिलखन आदि वृक्ष मे लाख उत्पन्न होता है और वृक्ष उस से बध जाता है। बाद मे लाख के निमित्त से वृक्ष का नाश होता है, इसी तरह आश्रव बध्य घातक स्वभावरूप हैं। अतः जीव मे औपाधिक हैं, वास्तविक नही हैं। क्योकि जीव तो अविरुद्ध स्वभाव है। इस से सिद्ध हुआ कि विरुद्ध स्वभाव वाले आश्रव, अविरुद्धस्वभाव वाला जो जीव है उससे भिन्न हैं। इसी प्रकार आश्रव, उन्माद मृगी रोग के वेग के समान बढता घटता है अतः अध्रुव है, जीव तो चैतन्य मात्र स्वभाव है अतः ध्रुव है, नित्य है। आश्रव क्रमशः उत्पन्न होता है, अतः अनित्य है, जीव विज्ञानघनस्वभाव होने के कारण नित्य है। आश्रव सदा ही आकुलता लिये रहता है अतः दुःखरूप है। जीव तो सदा निराकुल स्वभाव होने के कारण परम सुखरूप है, इस प्रकार अनेक तरह से जीव और आश्रवो का भेद ज्ञान होजाने से निर्मल चिच्छक्ति के उदय होने पर क्रमशः विज्ञानघनस्वभाव होता हुआ जीव आश्रवो से निवृत्त होता है।

इसी अर्थ का कलश कहते हैं—

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥

अर्थ— पूर्व कथितरूप से भेदज्ञान द्वारा आश्रवो से निवृत्त हुआ जीव, अपने विज्ञानघन-

स्वभाव को प्राप्त करता हुआ अज्ञान के कारण उत्पन्न हुए कर्तृकर्म की प्रवृत्ति से रहित सब क्लेशों से छूटकर शुद्धज्ञानस्वरूप से स्वयं प्रकाशमान होता है।

ज्ञानी आत्मा किस तरह पहचाना जा सकता है, इसे अग्रिम गाथा से कहते हैं—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेई एयमादा, णो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ ७५ ॥

कर्मनोकर्मणोर्वेत्ति परिणामं करोति न ।
आत्मानं भावयन्नेव ज्ञानी भवति चेतनः ॥ ७५ ॥

भावार्थ— जो जीव इस कर्म के परिणाम को तथा नोकर्म के परिणाम को नहीं करता है, किन्तु स्वसंवेदन ज्ञानसे शुद्धात्मा को जानता है, वह ज्ञानी होता है।

विशेषार्थ— जैसे घड़े का और मिट्टी का व्याप्य व्यापकभाव सम्बन्ध होने से कर्तृकर्म भाव होता है, उसी तरह पुद्गल का भी कर्म के रागद्वेषादि अन्तरंग परिणाम के साथ तथा नोकर्म के स्पर्श रसादि बहिरंग परिणाम के साथ व्याप्य व्यापकभाव सम्बन्ध होने के कारण कर्तृकर्म भाव होता है किन्तु आत्मा का पुद्गल या पुद्गल परिणाम के साथ, तत्स्वरूप न होने के कारण व्याप्य व्यापकभाव नहीं है, इसलिये उनका परस्पर कर्तृकर्म भाव नहीं हो सकता, ऐसा जो जानता है वही ज्ञानी होता है, और कर्तृकर्म भाव रहित होकर ज्ञाता, द्रष्टा जगत् का साक्षी मात्र होता है। इसी अर्थ का कलश कहते हैं—

"व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥

अर्थात्—

व्याप्य व्यापकभाव तत्स्वरूप में ही होता है। अतत्स्वरूपों में कभी नहीं होता। और व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध के बिना कर्तृकर्म भाव की सम्भावना ही कहाँ हो सकती है ? इस तरह विवेक से अज्ञानरूपतम का नाश करता हुआ ज्ञानी कर्तृत्व रहित शोभायमान होता है।

पौद्गलिक कर्म को जानने वाले जीवों का पुद्गल के साथ कर्तृकर्म भाव होता है, या नहीं ? इसको अग्रिम गाथा से कहते हैं—

ण वि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाये ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ७६ ॥

न परद्रव्यपर्याये तदाकारेण जायते ।
जानन्नपि न गृह्णाति पुद्गलकर्म चामितम् ॥ ७६ ॥

भावार्थ— ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गलद्रव्य पर्यायों को जानता हुआ भी, परद्रव्य पर्यायों मे न परिणमता है, न उनको ग्रहण करता है।

विशेषार्थ— पुद्गल कर्मको जीव जानता है, तो भी उसके साथ उसका कर्तृकर्मभाव नहीं है। क्योंकि कर्म तीन प्रकार का है–प्राप्य, विकार्य और उत्पाद्य। प्राप्य वह है जो परिणामरूप में स्वयं परिणमित हो। यथा "घट मृत्तिका"। विकार्य "दूध से दही"। निर्वर्त्य, यथा "तिल से तैल" जीव उन तीनों तरह से पुद्गलरूप परिणमन नहीं करता, अतः जीव का पुद्गलद्रव्य के साथ कर्तृकर्म भाव भी नहीं हो सकता। ऐसा जो जानता है उसका कर्तृकर्मभाव सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

अपने परिणाम को जो जीव जानता है उसका पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव होता है कि नहीं ? इसका उत्तर देते हैं—

णवि परिणमइ ण गिह्णइ उपज्जइ ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि दु सगपरिणामं अणेयविहं ॥ ७७ ॥

न परद्रव्यपर्याये न तद्रूपेऽपि जायते।
जानन्नपि न गृह्णाति, परिणामं निजात्मनः ॥ ७७ ॥

भावार्थ— ज्ञानी अपने अनेक प्रकार के परिणामों को जानता हुआ भी, परद्रव्य के पर्यायो मे न तो परिणमता है, न उनको ग्रहण करता है और न उत्पन्न होता है। इसलिये उसके साथ कर्ता कर्मभाव नहीं है।

विशेषार्थ— पूर्ववत् है।

पुद्गलकर्म के फल को जानते हुए जीव का पुद्गल के साथ कर्ता कर्मभाव है, या नही ? इसका उत्तर देते हैं—

ण वि परिणमइ ण जिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥ ७८ ॥

न परद्रव्यपर्याये तदाकारेण जायते।
जानन्नपि न गृह्णाति ज्ञानी कर्मफलानि वै ॥ ७८ ॥

भावार्थ— ज्ञानी अनन्त पुद्गलकर्म फलों को जानता हुआ भी परद्रव्य पर्यायों में न परिणत होता है, न कुछ ग्रहण करता है और न उत्पन्न होता है। इसलिये उसके साथ कर्ता कर्म-भाव नहीं है।

विशेषार्थ— पूर्ववत।

जीव के परिणाम को तथा अपने परिणाम को और परिणाम के फल को जो नहीं जानता ऐसे पुद्गल द्रव्य का जीव के साथ कर्तृकर्मभाव है, या नहीं ? इसका उत्तर देते हैं—

णवि परिणमदि ण गृह्णदि उप्पज्जदिण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ स एहिं भावेहिं ॥ ७९ ॥

न परद्रव्यपर्याये पुद्गलश्चापि जायते।
परिणमति वै नित्यं स्वकैर्भावैश्च निश्चयात् ॥ ७९ ॥

भावार्थ— पुद्गलद्रव्य भी इसी तरह परद्रव्य पर्यायों में न परिणमन करता है, न कुछ ग्रहण करता है और न उत्पन्न होता है, किन्तु अपने भावों से ही परिणत होता है। इस तरह पुद्गल का भी जीव के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं होता।

पूर्वोक्त अर्थों का संक्षिप्त वर्णन कलश द्वारा करते हैं—

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमंतः कलयितु मसहो नित्यमत्यंतभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावद्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥

अर्थात्—

ज्ञानी अपनी तथा दूसरे की परिणति को जानता हुआ परिणत होता है तथा पुद्गल नहीं जानता हुआ प्रवृत्त होता है ये दोनों परस्पर अन्तरंग व्याप्य व्यापक भाव को प्राप्त करने में असमर्थ हैं। क्योंकि दोनों परस्पर जड़ चेतनरूप होने से अत्यन्त भिन्न हैं। अज्ञान से इन दोनों की कर्तृकर्मबुद्धि तभी तक रहती है, जब तक भेदज्ञान को उत्पन्न करने वाला ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है।

निश्चयनय से जीव और पुद्गल का कर्तृकर्मभाव नहीं होता अब यह बताते हैं—

जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमई ॥ ८० ॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥ ८१ ॥
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८२ ॥

चित्परिणाम माश्रित्य कर्मत्वं यान्ति पुद्गलाः।
एवं कर्मनिमित्तेन परिणमति चेतनः ॥ ८० ॥
कुर्यात्कर्मगुणान् जीवः कर्मजीवगुणांश्च न।
अत्राऽन्योन्यनिमित्तेन परिणामो द्वयोरपि ॥ ८१ ॥
आत्मा स्वकेन भावेन कर्तास्मात्कारणादिह।
सर्वपुद्गलभावानां कर्ता भवति नैव सः ॥ ८२ ॥

भावार्थ— पुद्गल, जीव के परिणाम निमित्त से कर्मत्व को परिणत होता है और जीव भी पुद्गल कर्म के निमित्त से कर्मत्व को परिणत होता है।

यद्यपि जीव कर्म गुणों को नहीं करता (अर्थात् तद्रूप परिणमन नहीं करता) न कर्म ही जीव गुणों को करता है, किन्तु अन्योन्य अर्थात् परस्पर के निमित्त से ही दोनों का परिणमन जानना चाहिये।

इस प्रकार आत्मा अपने आत्मीय भावों (गुणो) की अपेक्षा से ही कर्ता कहा जाता है, पुद्गलकर्म के भावों की अपेक्षा से वह कर्ता नहीं होता है।

विशेषार्थ— तात्पर्य यह है, कि जीव परिणाम को निमित्त बनाकर पुद्गल, कर्मत्वरूप से परिणमन करता है और पुद्गल कर्म को निमित्त बनाकर जीव भी परिणमन करता है। इस लिये जीव परिणाम और पुद्गल परिणाम में परस्पर हेतुता है। किन्तु जीव और पुद्गल का परस्पर व्याप्य व्यापक भाव नहीं होने से कर्तृकर्मभाव नहीं बन सकता। हां! परस्पर निमित्तमात्र बन सकते हैं। मिट्टी जैसे घड़े को करती है, उसी तरह जीव अपने भावों का कर्ता है। किन्तु जैसे मिट्टी से कपड़ा नहीं बनता, उसी प्रकार आत्मा परभावों का कर्ता नहीं हो सकता। इन्हीं भावों को योगसार में निम्नरूप से कहा गया है—

सरागं जीवमाश्रित्य कर्मत्वं यान्ति पुद्गलाः।
कर्माण्याश्रित्य जीवोऽपि सरागत्वं प्रपद्यते ॥
कर्म चेत्कुरुते भावो जीवः कर्ता तदा कथम्।
न किंचित्कुरुते जीवो हित्वा भावं निजं परम् ॥
कोपादिभिः कृतं कर्म जीवेन कृतमुच्यते।
पदातिभिर्जितं युद्धं जितं भूपतिना यथा ॥

(योगसार अ० २-३१-३४)

अर्थात—

रागादि युक्त जीव को आधार बनाकर पुद्गल कर्मत्व को प्राप्त करता है और कर्मों का आश्रयण करते हुए जीव भी राग भाव को प्राप्त होता है।

यहाँ यदि रागद्वेषादि जीव के भाव ही कर्मों को करते हैं तो भाव ही कर्मों की उत्पत्ति में कारण हो सकते हैं। जीव कैसे कर्ता हो सकता है। क्योंकि जीव तो अपने भावों को छोड़कर दूसरे भावों को कभी नहीं करता है।

अतः क्रोधादि भाव से किया गया कर्म ही जीव से किया गया कहलाता है, जैसे सेना से जीता हुआ युद्ध राजा से जीता हुआ कहा जाता है। पूर्वोक्त प्रमाणों से यही सिद्ध हुआ कि जीव का अपने परिणाम के साथ ही कर्तृकर्मभाव व भोक्तृभोग्यभाव है अन्य के साथ नहीं है।

पूर्वोक्त विषय को पुनः स्पष्ट करते हैं—

णिच्छय णयस्य एवं आदा अप्पाणमेवहि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८३ ॥

करोत्यात्मा निजात्मानं तं च वेदयते पुनः।
कर्तृकर्मादिभावं तु चैवं जानीहि निश्चयात् ॥ ८३ ॥

भावार्थ— निश्चयनय से आत्मा अपने को ही करता है व अपने को ही अनुभव करता है (भोगता है) हे शिष्य ! तुम ऐसा जानो।

विशेषार्थ— जैसे समुद्र की तरंगों के उठने में तथा विलीन होने मे हवा का चलना और न चलना क्रमशः निमित्त होता है, किन्तु हवा के साथ समुद्र का व्याप्य व्यापकभाव नहीं होने के कारण समुद्र ही स्वय अन्तर्व्यापक होकर उत्तरंग निस्तरंगरूप अपनी अवस्थाओं का

कर्ता बना हुआ दीखता है, दूसरा नहीं । उसी प्रकार आत्मा की ससंसार और निः संसार अवस्था में पुद्गल कर्म के निमित्त होने पर भी पुद्गल कर्म के साथ आत्मा का व्याप्य व्यापक-भाव नहीं होने से आत्मा को ही स्वय अपना कर्ता भोक्ता मानना चाहिये दूसरे को नहीं।

आगे व्यवहार को दिखाते हैं—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्म करेइ णेयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ८४ ॥

करोति शतशः कर्म व्यवहारेण चेतनः ।
वेदयते पुनस्तच्च बहुपुद्गलकर्म सः ॥ ८४ ॥

भावार्थ— व्यवहारनय से आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को करता है तथा अनुभव करता है (भोगता है)

विशेषार्थ— जैसे घड़े का उपादान कारण वास्तव में मिट्टी ही है, तथापि अनादिकाल से लोक में व्यवहार है, कि कुम्हार घड़े को करता है और जल धारण या उसके मूल्य को भोगता है। इसी तरह कर्मवर्गणाओं का वास्तविक उपादान कारण पुद्गलद्रव्य ही है। किन्तु अनादिकाल से अज्ञानियो का ऐसा व्यवहार है कि जीव ही इन कर्मों का कर्ता व भोक्ता है।

आगे इस व्यवहार में दोष दिखलाते हैं—

जइ पुग्गलकम्ममिणं कुव्वइ तं चेव वेयई आदा ।
दो किरियाविदिरित्तो पसज्जए सो जिणावमयं ॥ ८५ ॥

आत्मा पुद्गलकर्मेद वेदयते करोति चेत् ।
द्विक्रियाव्यतिरिक्तोऽतो जिनावमत एव सः ॥ ८५ ॥

भावार्थ— यदि आत्मा इस पुद्गलकर्म को करे और अनुभव भी करे तो आत्मा उन दोनो क्रियाओ से अव्यतिरिक्त अर्थात् अभिन्न होजाय । किन्तु यह जिनदेव की मान्यता नही है ।

विशेषार्थ— तात्पर्य यह है, कि इस लोक में जितनी क्रियायें हैं, वे सभी परिणामरूप होने से परिणामी से अभिन्न हैं। कोई भिन्न वस्तु नहीं है। इस तरह क्रिया और क्रियावान के अभेद सिद्ध होने पर यदि आत्मा जैसे अपने भावों का कर्ता और भोक्ता है, उसी तरह पुद्गल कर्मों का भी कर्ता भोक्ता माना जाय, तो पुद्गल कर्मों के साथ भी उसका भेद नही रहेगा। इस स्थिति में एक ही जीव अनेक द्रव्यरूप से अपने को देखने के कारण अर्थात् अनुभव करने के कारण द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि होगा, किन्तु यह जिनदेव को अभिमत नहीं है।

दोनो क्रियाओं को अनुभव करने वाला मिथ्यादृष्टि कैसे है ? इसका आगे स्पष्ट वर्णन करते हैं—

जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दो किरियावादिणो हुंति ॥ ८६ ॥

जीवपुद्गलभावानां कर्तात्मेति वदन्ति ये ।
द्विक्रियावादिनस्तावत्ते मिथ्यादृष्टयो मताः ॥ ८६ ॥

भावार्थ— आत्मा, पुद्गल भावों का तथा आत्मभावों का दोनों का कर्ता है, ऐसा जो मानते हैं वे चेतनाचेतन क्रियाद्वयवादी होने के कारण मिथ्यादृष्टि हैं।

विशेषार्थ— द्विक्रियावादी को मिथ्यादृष्टि कहने में कारण यह है, कि जैसे कुम्हार अपने परिणाम को उपादानरूप से करता है, वैसे ही यदि घटको भी उपादानरूप से करे, तो परिणाम से परिणामी का अभेद होने के कारण कुम्हार अचेतन (जड़) घटरूपता को प्राप्त हो जायगा और पुद्गल (अचेतन घट आदि) जीवरूपत्व को प्राप्त होजायगा। जोकि परम असंगत है। अतः एक द्रव्य से दो भिन्न भिन्न परिणामको मानने वाले मिथ्यादृष्टि माने गये हैं । इन्हीं भावो को आगे छः कलशों मे स्पष्ट करते हैं—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥ १ ॥
एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥ २ ॥
नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणतिः स्यादनेकमनेकमेव सदा ॥ ३ ॥
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ४ ॥
आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैं
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥ ५ ॥
आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदापरः ।
आत्मैवह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥ ६ ॥

अर्थ— (१) जो परिणमता है वह कर्ता है और जो परिणाम है वह कर्म है और जो परिणति है, वह क्रिया है। अतः वस्तुतः तीनो भिन्न नहीं हैं।

(२) वस्तु अकेला ही परिणमता है, परिणाम भी एक का ही होता है परिणति क्रिया भी एक की ही है, क्योंकि अनेक पर्यायों को प्राप्त हुआ द्रव्य वस्तुतः भिन्न नहीं है, एक ही है।

(३) दो द्रव्य मिलकर नहीं परिणमते और दो द्रव्यों का एक परिणाम भी नहीं होता। तथा दो द्रव्यो की एक परिणति भी नही होती, अतः जो अनेक द्रव्य हैं वे अनेक ही हैं, एक नहीं होते।

(४) एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, न एक द्रव्य के दो कर्म होते हैं । इसी

तरह एक द्रव्य की दो क्रियायें भी नहीं होती। क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

(५) इस संसार में अज्ञानी जीवों का "मैं परद्रव्यों को करता हूं" ऐसा परद्रव्य के कर्तापने का महाहकाररूप अज्ञानान्धकार अनादिकाल से चला आरहा है। जोकि अत्यन्त दुर्निवार है, किन्तु वह यदि परमार्थतत्व की उपलब्धि से एकबार भी नष्ट होजाय, तो क्या फिर इस ज्ञानघन आत्मा का पुनः बंधन हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

(६) आत्मभावों को ही आत्मा करता है, परभावो को पर ही करता है। आत्मा ही आत्मा का भाव है, पर नहीं। इसी तरह परद्रव्य का भाव भी पर ही है, आत्मा नहीं।

क्रियावादी मिथ्यादृष्टि क्यों हैं, अब यह बताते हैं—

मिच्छंतं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरइ जोगो मोहो कोहाईया इमे भावा ॥ ८७ ॥

मिथ्यात्वं द्विविधं प्रोक्त जीवाजीवप्रभेदतः।
योगाविरतिमोहाद्यास्तेऽपि च द्विविधा मताः ॥ ८७ ॥

भावार्थ— मिथ्यात्व जो कहा गया था वह दो प्रकार का है। एक जीव मिथ्यात्व दूसरा अजीव मिथ्यात्व। इसी प्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह, क्रोधादि, कषायभाव ये सभी जीव और अजीव के भेद से दो दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ— मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जो भाव हैं वे प्रत्येक मयूर और दर्पण की तरह जीव और अजीव से भावित होने के कारण जीवरूप भी हैं और अजीवरूप भी हैं। जैसे मयूर के नीले, काले, हरे, पीले आदि वर्णरूप भाव हैं, वे मयूर के निजस्वभाव से भावित होने पर मयूर ही हैं। और दर्पण में जो उन वर्णों के प्रतिबिम्ब दीखते हैं, वे दर्पण की स्वच्छता निर्मलता के विकारमात्र से भावित होने पर दर्पण भी हैं। किन्तु मयूर और दर्पण की तो परस्पर अत्यन्त भिन्नता ही है। इसी तरह मिथ्यादर्शन अज्ञान आदि सभी भाव अजीव के द्रव्यस्वभाव अचेतनरूप से भावित होने पर अजीव हैं तथा चैतन्य के विकारमात्ररूप जीवपने से भावित होने पर जीव भी हैं।

आगे जीव और अजीव के भेद को स्पष्ट करते हैं—

पुग्गल कम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ॥ ८८ ॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्व योगोऽविरतिरित्यचित्।
उपयोगस्तथाज्ञानमिथ्यात्वमव्रतं च चित् ॥ ८८ ॥

भावार्थ— पुद्गलकर्मरूप मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग ये अजीव हैं। और उपयोगरूप मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति ये जीव हैं।

विशेषार्थ— जो मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति आदि अजीव हैं वे अमूर्त चैतन्य परिणाम से भिन्न मूर्तिक पुद्गलकर्म हैं, और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जीव हैं वे मूर्तिक पुद्गलकर्म से भिन्न चैतन्य परिणाम के विकार हैं।

मिथ्यादर्शनादि चैतन्य परिणाम के विकार कैसे हैं ? इसे कहते हैं—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरइभावो य णायव्वो ।। ८६ ।।

परिणामास्त्रयः सन्ति मोहयुक्तस्य चात्मनः ।
मिथ्यात्वं च तथाज्ञानं तृतीयाऽविरतिस्तथा ।। ८९ ।।

भावार्थ— मोहयुक्त आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति ये अनादि तीन परिणाम जानने चाहियें।

विशेषार्थ— यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा शुद्धबुद्धैकस्वभाव है, तथापि अनादि काल से मोहनीय आदि कर्मों के कारण इस जीव के मिथ्याश्रद्धान और अज्ञान तथा असयमरूप तीन परिणामों के विकार होने सम्भव हैं, अतः जीव का निजशुद्धरूप उपादेय है और मिथ्यात्वादि विकारीभाव हेय (त्यागने) योग्य है। क्योंकि इस जीव का हित अपने शुद्ध भावों के अनुभव करने मे ही है।

आगे आत्मा को मिथ्यात्वादि त्रिविध परिणाम का कर्ता बताते हैं—

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेइ भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ।। ६० ।।

एतेषु चोपयोगस्तु त्रिविधःस्यान्निरञ्जनः ।
यं यं करोति भावं सः कर्ता तस्यास्ति तत्वतः ।। ९० ।।

भावार्थ— उदयागत मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति इन तीनों निमित्तों के होने से उपयोग (आत्मा) शुद्धनय से एक शुद्ध निरञ्जन होने पर भी मिथ्यात्व अज्ञान अविरति इन तीन प्रकार के परिणाम वाला होता है। वह आत्मा इन तीनों में से जिस जिस भाव को स्वयं करता है, उसी का कर्ता होता है।

विशेषार्थ— पहली गाथा में कहे हुए जो उपयोग के तीन परिणाम विकार हैं, उनके निमित्त से उपयोग तीन प्रकार का होकर अज्ञानवश कर्तृत्व भाव से युक्त होकर इन मे से आत्मा जिस भाव को करता है वह उसी का कर्ता होता है, द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं होता।

आगे आत्मा के तीन प्रकार के परिणाम विकारों का कर्ता होने पर पुद्गलद्रव्य आप ही कर्मरूप होकर परिणमते हैं, इसको कहते हैं—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होई तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमए तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ।। ६१ ।।

तस्य भावस्य कर्ता स भावमात्मा करोति यम्।
कर्मत्वं पुद्गला यान्ति तस्मिन् कर्तरि वै स्वयम् ॥ ९१ ॥

भावार्थ— आत्मा जिस भाव को करता है, उस भाव का कर्ता होता है। आत्मा के कर्ता होने पर पुद्गल द्रव्य अपने आप कर्मरूप से परिणमते हैं।

विशेषार्थ— आत्मा शुद्धस्वभाव से च्युत होकर जिस मिथ्यात्वादि विकृत परिणाम को करता है (अर्थात् जिस भाव में परिणत होता है) उसी भाव का वह कर्ता होता है। कर्तृत्व युक्त आत्मा के निमित्त होने पर पुद्गल द्रव्य स्वयं ही (अपने आप) कर्मत्वेन परिणमन करता है। जैसे कि साँप के विष को उतारने वाले (गरुड़ के मन्त्र को जानने वाले) पुरुषों का मन्त्र ध्यान परिणत होने पर दूर देशस्थित सविष पुरुष का विष, स्वयमेव दूर होजाता है। आशय यह निकला, कि कर्ता आत्मा और कर्म पुद्गल द्रव्य में परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी कर्ता दोनों अपने अपने भाव के ही हैं।

अज्ञान से ही कर्म होता है इस तात्पर्य को कहते हैं—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥ ९२ ॥

आत्मानं च पर कुर्वन् परआत्मानमेव वा।
जीवोऽज्ञानमयः कर्ता भवति कर्मणां ध्रुवम् ॥ ९२ ॥

भावार्थ— अज्ञानी जीव आत्मा को पर और पर को आत्मा करता हुआ कर्मों का कारक होता है।

विशेषार्थ— यह आत्मा अज्ञान के कारण अपने और दूसरे का भेद न जानता हुआ पर को (अर्थात् पर द्रव्यादि को) आत्मा और आत्मा को पर करता हुआ अज्ञानी होकर कर्मों का कर्ता होता है। जैसे कोई पुरुष शीतोष्णरूप पुद्गल परिणामावस्था और शीतोष्णानुभव के एकत्वाध्यासवशात् दोनों के भेद को न जानता हुआ "मैं शीत हूं" "मैं उष्ण हूं" इस प्रकार शीतोष्ण परिणति का कर्ता होता है उसी तरह जीव भी अपने शुद्धात्मानुभूति से भिन्न उदयागत पुद्गल परिणामावस्था और तन्निमित्तक सुखदुःखानुभव को आरोपित एकत्वाध्यवसाय के कारण परद्रव्य और आत्मा के रागादि विकल्प शून्य स्वसंवेदन ज्ञान के न होने से आत्मा और परद्रव्य के भेद को न जानता हुआ "मैं सुखी हूँ" "मैं दुःखी हूँ" इस प्रकार परिणमता हुआ कर्मों का कर्ता होता है।

ज्ञान से कर्म नहीं होता है इसे आगे कहते हैं—

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वन्तो।
सो णाणमऊ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥ ९३ ॥

अकुर्वन्परमात्मानमात्मानं च परं तथा।
स च ज्ञानमयो जीवः कर्मणां नैव कारकः ॥ ९३ ॥

भावार्थ— जो जीव, परद्रव्य को आत्मा नहीं करता न आत्मा को पर ही करता है, वह ज्ञानी जीव कर्मों का कर्ता नहीं होता है।

विशेषार्थ— निर्मल अर्थात् शुद्ध आत्मानुभवरूप भेदविज्ञानी जीव, कर्मों का कर्ता नहीं होता। जैसे किसी पुरुष को, शीत, उष्णादि पुद्गल की परिणामावस्था है और तथा विध शीतोष्णानुभव इन दोनो से आत्मा भिन्न है ऐसा ज्ञान होजाता है, तब वह पुरुष "मैं शीत हूँ" मैं उष्ण हूँ" इस प्रकार की परिणति का कर्ता नहीं होता । उसी तरह जीव भी अपनी शुद्धात्मानुभूति से भिन्न पुद्गल की परिणामावस्था और तन्निमित्तक सुखदुःखानुभव से आत्मा को पृथक् जानकर इस प्रकार के ज्ञान के अभ्यास से आत्मा और पर का भेद विज्ञान प्राप्त कर लेने पर आत्मा, रागद्वेषमोहपरिणामों को नहीं करता हुआ कर्मों का भी कर्ता नहीं होता। अतः यह सिद्ध होगया, कि ज्ञान के होने पर कर्म नहीं होता और न कर्ता होता है।

सारॉंश— यह है कि रागद्वेषसुखदुःखादिक अवस्थाओ को ज्ञान से भिन्न जाने "कि जैसे पुद्गल की शीतोष्णादि अवस्थाएं हैं उसी प्रकार रागद्वेषादि भी पौद्गलिक हैं" ऐसा भेदविज्ञान होने पर अपने को ज्ञाता, दृष्टामात्र समझे, तथा रागादि व सुखदुःखादि को पुद्गल का विकार जाने। ऐसा होने पर आत्मा इनका कर्ता नहीं होता।

अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं ? इसका उत्तर आगे देते हैं—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोहं ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥ ६४ ॥

त्रिविधश्चोपयोगोऽयं करोत्यात्मविकल्पकम् ।
कर्ता तस्योपयोगस्य चात्मभावस्य तेन सः ॥ ९४ ॥

भावार्थ— यह तीन प्रकार का उपयोग "मैं क्रोधस्वरूप हूँ" ऐसा असद् आत्मविकल्प करता है इसलिये उस अपने क्रोधादि उपयोगभाव का कर्ता होता है।

विशेषार्थ— उपयोग लक्षण आत्मा, सामान्यतः एक ज्ञानरूप ही है। किन्तु विशेषतः सविकार चैतन्य परिणाम के भेद मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इन तीन रूपों को प्राप्त होकर अपने और पर के भेद को न जानने के कारण अपने निर्विकल्प स्वरूप से भ्रष्ट होकर "मैं क्रोधादि हूं" इस प्रकार के आत्मविकल्प को उत्पन्न करता है । और उसी अपने क्रोधादि लक्षण उपयोग भाव का कर्ता होता है। यहाँ क्रोध उपलक्षण है अतः लोभ मोह, राग, द्वेषादि भावों का भी कर्ता होता है ऐसा समझना चाहिये। इस तरह अज्ञानी जीव ही कर्ता होता है, और उसके कर्ता होने पर वे अज्ञानभाव उसके कर्म होते है अतः सिद्ध हुआ, कि अज्ञान से ही कर्म होता है।

उपयोग लक्षणात्मक जीव इसी तरह धर्मादि आत्मविकल्पो को भी करता है, इसे आगे दिखाते हैं—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ धम्माई ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होई सो अत्तभावस्स ॥ ६५ ॥

धर्माद्यात्मविकल्पं स उपयोगः करोति हि ।
कर्ता तस्यात्मभावस्य त्वात्मा भवति निश्चयात् ॥ ९५ ॥

भावार्थ— पूर्वोक्त तीनो प्रकार का उपयोग, धर्मद्रव्य आदि आत्मविकल्पो को करता है

और उस उपयोगरूप अपने भावो का कर्ता, आत्मा होता है।

विशेषार्थ— यह त्रिविध उपयोगरूप आत्मा, परद्रव्य और आत्मा के भेद को न जानता हुआ "मैं धर्म हूं" "मैं अधर्म हूं" "मैं आकाश हूं" इत्यादि अनेक आत्मविकल्पो को उत्पन्न करता है। "मैं धर्म हूँ" इस प्रकार की भ्रान्ति से सोपाधिक चैतन्य परिणामरूप आत्मभावों का कर्ता होता है। अतः यह सिद्ध हुआ, कि कर्तृत्व का कारण अज्ञान ही है।

पुनः इसी भाव को पुष्ट करते हैं—

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणइ मंदबुद्धीउ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥ ९६ ॥

एवं पराणि द्रव्याणि करोत्यज्ञो निजं सदा।
परं चैव तथात्मानं मूढभावेन चेतनः ॥ ९६ ॥

भावार्थ— पूर्वोक्त प्रकार से अज्ञानी जीव अज्ञानता के कारण ही परद्रव्यादिभावो मे आत्मबुद्धि और आत्मा मे परबुद्धि करता है।

विशेषार्थ— "मैं क्रोध हूँ", "मैं धर्म हूं" इत्यादिरूप से परद्रव्यो को आत्मा और आत्मा को परद्रव्य समझने वाला जीव, यद्यपि सर्वदा सर्वथा असंग और शुद्ध चैतन्यरूप है, किन्तु अज्ञान के कारण ही सविकार सोपाधि चैतन्य परिणामरूप से परिणमता हुआ तत्तत् परिणामरूप आत्मभावो का कर्ता मालूम होता है। जैसे कि भूताविष्ट (भौतिक उपद्रव युक्त) कोई पुरुष अपने शरीर मे प्रवेश किये हुए भूतों से अपने को एक समझता हुआ बड़े बडे पत्थरो को और खंभो को हिलाने डुलाने लगता है। और भी अनेक भयङ्कर क्रियाओ को करता हुआ उन उन क्रियाओ का कर्ता मालूम होता है, वस्तुतः वह उन अमानुषिक क्रियाओ का कर्ता नहीं होता। इसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान से ही भाव्य भावकरूप आत्मभिन्नद्रव्य और आत्मा को एक समझता हुआ दूसरे से अपना भेद नहीं जानता हुआ "मैं क्रोध हूँ" इत्यादि आत्मविकल्पो को उत्पन्न करता हुआ उन उन आत्मभावो का कर्ता मालूम पडता है।

अब यदि अज्ञान के कारण से ही कर्तृत्व हुआ, तो सिद्ध यह होगया कि ज्ञान से कर्तृत्व हट जाता है, इसे आगे कहते हैं—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥ ९७ ॥

कथितोऽनेन कर्तात्मा शुद्धविद्भिर्जिनेश्वरैः।
मुञ्चति सर्वकर्तृत्वं य एवं वेत्ति साधकः ॥ ९७ ॥

भावार्थ— पूर्वोक्त तीन गाथाओ के व्याख्यानरूप से निश्चयनय को जानने वाले सर्वज्ञो ने आत्मा, अज्ञानभाव के कारण कर्ता होता है, ऐसा कहा है। इस प्रकार जो जानता है वह सब कर्तापने को छोड़ देता है।

विशेषार्थ— यह आत्मा अज्ञानता के कारण ससार प्रसिद्ध जो पुद्गलकर्म और आत्मा का एकपना है उसका ही अनुभव करता हुआ निज और परके भेद को जानने की शक्ति से शून्य सा होजाता है। और "मैं क्रोध हूं" इत्यादि आत्मविकल्पों को करता है। अतः

निर्विकल्प नित्य विज्ञानघन आत्मा से च्युत होकर बारम्बार अनेक विकल्परूप मे परिणमता हुआ कर्ता मालूम होता है। और जब ज्ञान प्राप्त होता है तो अपने और परके भेद के जानने की शक्ति जागृत होजाती है। फिर यह अनादिनिधन आत्मस्वरूप का अनुभव करने लगता है और समझता है, कि आत्मा एक चैतन्यरसमात्र है, कषायादिभाव तो अनेक रस हैं । उनके साथ अपना एकपना नहीं है। ऐसा समझने पर उसका सब कर्तृत्व छूट जाता है, और तब वह अकृत्रिम विज्ञानघनस्वरूपता प्राप्त कर लेने के कारण अकर्ता होता है।

इसी भाव को आचार्य कलशो में कहते हैं—

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ॥ १ ॥

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्
च्छुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ॥ २ ॥

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाःपयसो विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानाति एव हि करोति न किंचनापि ॥ ३ ॥

अर्थ— (१) जो स्वय केवल ज्ञानस्वरूप होकर भी घास में मिले हुए अन्न को खाने वाले हाथी आदि पशुओ की तरह आत्मा और पुद्गल कर्मों के सम्मिलित स्वाद में ही आनन्दित होते हैं, वे शिखरिन (एक प्रकार का विशेषपेय द्रव्य) के लोभ से गाय को दूहने वाले मूढ़ के समान हैं।

(२) जैसे पवन के झोके से समुद्र नाना प्रकार के तरङ्गो वाला होजाता है उसी तरह यह जीव अज्ञान के कारण ही क्रोधादि अनेक विकल्पो को करता हुआ स्वय शुद्धज्ञानमय होने पर भी आकुल होकर कर्ता बनता है। क्योंकि अज्ञान से क्या क्या अनर्थ नहीं होता ? अज्ञान से ही मृग, मृग-तृष्णिका को जल समझते हुए पीने के लिये दौड़ते हैं । तथा अज्ञान के कारण ही मनुष्य अन्धकार मे रस्सी को भी साँप समझकर डरते हैं।

(३) जो जीव ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह हंस की तरह पानी और दूध के भेद के समान अपने और पर के भेद को जान लेता है। इस तरह ज्ञानी जीव चैतन्यस्वरूपता में स्थित रहता हुआ केवल जानता है अर्थात् ज्ञातामात्र होता है कर्ता नहीं बनता है।

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य नोकम्माणीह विविहाणि ॥ ६८ ॥

व्यवहारेण चात्माय करोत्येव घटान्पटान्।
करणानि च कर्माणि नोकर्माणीह यानि वै ॥ ९८ ॥

भाषार्थ— यह आत्मा व्यवहार से ही घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओं को करता है, तथा इन्द्रियादि करणों को और ज्ञानावरणादि कर्मों को एवं सांसारिक अनेक प्रकार के शरीरादि नोकर्मों को करता है।

विशेषार्थ— जैसे व्यवहारियों को यह आत्मा, आत्मविकल्प और व्यापार इन दोनों से घटपटादि परद्रव्यरूप बाह्य कर्मों को करता हुआ मालूम होता है, उसी तरह क्रोधादि परद्रव्यरूप समस्त आन्तर कर्मों का भी कर्ता प्रतीत होता है, ऐसा उनका भ्रम है।

किन्तु यह ठीक नहीं है, यह आगे कहते हैं—

जइ सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मऊ होज्ज।
तम्हा ण तम्मऊ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥ ६६ ॥

परद्रव्याणि कुर्याच्चेन्नियमात्तन्मयो भवेत्।
आत्मा न तन्मयस्तस्मात्तेषां कर्तास्ति नैव सः ॥ ९९ ॥

भाषार्थ— आत्मा यदि परद्रव्यों को करे, तो नियम से परद्रव्यमय होजाय, किन्तु यह परद्रव्यरूप नहीं होता। अतः वह उनका कर्ता भी नहीं हो सकता।

विशेषार्थ— यदि यह आत्मा परद्रव्यरूप कर्म को करे, तो परिणामपरिणामिभाव के अभिन्न होने के कारण यह आत्मा परद्रव्यरूप होजाय। किन्तु यह परद्रव्यरूप नहीं है। यदिअन्य द्रव्य अन्यद्रव्यमय होजाय तो द्रव्य का नाश ही होजाय। तन्मय न होने के कारण व्याप्यव्यापक भाव से परद्रव्य का कर्ता भी आत्मा नहीं है।

व्याप्यव्यापक भाव से कर्ता न हो ? किन्तु निमित्त नैमित्तिक भाव से तो कर्ता हो सकता है ? इसका उत्तर आगे देते हैं।

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसि हवहि कत्ता ॥ १०० ॥

घटादीन्न करोत्येव नान्यद्रव्याणि चेतनः।
योगोपयोगयोर्जीवः कर्तोत्पादकयोस्तयोः ॥ १०० ॥

भाषार्थ— जीव, घटपटादिकों को तथा अन्य द्रव्यों को नहीं करता है, किन्तु जीव के योग उपयोग ही इन सबों के निमित्तरूप से कर्ता होते हैं। उन दोनों योग उपयोगों का कर्ता आत्मा होता है।

विशेषार्थ— जितने घट पटादि तथा क्रोधादि परद्रव्यात्मक कर्म देखे जाते हैं उन सबों

को आत्मा व्याप्यव्यापकभाव से नहीं करता है। क्योंकि तन्मयत्वापत्ति होती है। और निमित्त नैमित्तिकभाव से भी नहीं करता है, क्योंकि ऐसा करने से सब अवस्थाओं में कर्तापने का प्रसंग होजायगा। अतः आत्मा का योग उपयोग ही निमित्तरूप से उन सबों का कर्ता होता है। क्योंकि ये योग उपयोग अनित्य होने के कारण सब अवस्थाओं में व्यापक नहीं हैं। इसलिये सब अवस्थाओं से कर्तापने का प्रसग नहीं होता।

"योग" आत्मा के प्रदेशो का चलनरूप व्यापार है और "उपयोग" आत्मा के चैतन्य का रागादिविकाररूप परिणाम है। अज्ञान से इन दोनों का आत्मा कदाचित् कर्ता हो भी सकता है, किन्तु परद्रव्यरूप कर्म का तो कभी भी कर्ता नहीं हो सकता।

ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता होता है इसे आगे कहते हैं—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा हुंति णाणमावरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणइ सो हवइ णाणी ॥ १०१ ॥

अष्टविधानि कर्माणि पुद्गलस्येह यानि वै।
तान्यात्मा न करोतीति ज्ञानी भवति वेत्ति यः ॥ १०१ ॥

भावार्थ— पुद्गलद्रव्यों के जो ज्ञानावरणादिक आठ प्रकार के परिणाम हैं, उनको आत्मा नहीं करता है इसे जो जानता है, वह ज्ञानी होता है।

विशेषार्थ— ये जो ज्ञानावरणादिक पुद्गलद्रव्यो के परिणाम हैं, वे गोरस में व्याप्त जैसे दही, दूध, मीठा, खट्टा परिणाम हैं वैसे ही पुद्गलद्रव्य से व्याप्त होने के कारण पुद्गल द्रव्यो के ही परिणाम हैं। उनको जैसे गोरस के समीप मे बैठा हुआ पुरुष उसके परिणामो को देखता है, जानता है, उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा उन पुद्गल द्रव्य के परिणामों का ज्ञाता दृष्टामात्र है कर्ता नही है। कर्ता तो ज्ञान का ही है। पूर्वोक्त क्रम से ज्ञानावरण के स्थान में दर्शनावरणादि पद देकर अवशिष्ट सात कर्मों (दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय) का तथा उनके साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन इन सोलहों का व्याख्यान करना। इसी प्रकार अन्य भी स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये।

आगे कहते हैं, कि अज्ञानी भी पर भाव का कर्ता नही होता है—

जं भावं सुहमसुहं करेइ अप्पा तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होइ कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥ १०२ ॥

भाव शुभाशुभं कुर्वन्कर्तात्मा तु तयोर्ध्रुवम्।
भवति कर्म तत्तस्य, आत्मा तस्यास्ति वेदकः ॥ १०२ ॥

भावार्थ— आत्मा जिन शुभ अथवा अशुभ अपने भावो को करता है निश्चयपूर्वक वह उसी का कर्ता होता है। और वह भाव उसका कर्म होता है, एवं उस भावरूप कर्म का वही आत्मा भोक्ता होता है।

विशेषार्थ— इस संसार में अनादि अज्ञान के कारण आत्मा, पर के साथ अपना एकत्वाध्यास अर्थात् एकपना जानकर तीव्र, मन्द आदि भेदरूप जो पुद्गलकर्म की दशायें हैं,

उनसे पृथक् स्वयं यह आत्मा अचल विज्ञानघन एकस्वादस्वरूप है। फिर भी आत्मा के स्वाद को भिन्न करता हुआ शुभ अशुभ जिस भाव को करता है उस समय तन्मय होने के कारण उस भाव में व्यापक होकर उस भाव का कर्ता होता है, और वह भाव भी उस समय तन्मय होकर उस आत्मा का व्याप्य होने के कारण उसका कर्म होता है।

परभाव को कोई कर भी नहीं सकता है, क्योंकि—

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमहि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ १०३ ॥

द्रव्ये यस्मिन् गुणो यस्तु संक्रामति परे न सः।
कथ सोऽन्यदसंक्रान्तो द्रव्यं विकारयत्यहो ॥ १०३ ॥

भाषार्थ— जो द्रव्य जिस अपने द्रव्य स्वभाव मे तथा गुण मे वर्तता है, वह अन्य द्रव्य में तथा गुण में कभी भी संक्रमण नहीं करता है, अर्थात् उसमे कभी नही मिलता। तब फिर बिना अन्यद्रव्य मे मिले वह अन्यद्रव्य को कैसे परिणमन करा सकता है? कभी नहीं करा सकता है।

विशेषार्थ— इस लोक मे जितनी वस्तुविशेष हैं, सभी अनादिकाल से ही अपने चैतन्यस्वरूप अथवा अचैतन्यस्वरूप द्रव्य तथा गुण मे ही परिणमन करती हैं। क्योकि वे वस्तुस्वभाव के नियम को तोड़ने मे समर्थ नही हैं। इसलिये वे किस तरह अन्यद्रव्यरूप परिणत हो सकती है। और बिना द्रव्यान्तर या गुणान्तर में मिलकर अन्यद्रव्य या गुण को परिणमन भी कैसे करा सकती हैं? अर्थात् नहीं करा सकती हैं। अतः परभाव को कोई भी नहीं कर सकता है।

अब पूर्वोक्त व्याख्यान से यह सिद्ध होगया कि आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता नही है, आगे कहते हैं—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ॥ १०४ ॥

न करोति गुणंद्रव्यमात्मा पुद्गलकर्मणि।
तदुभयमकुर्वन्नै कर्ता तस्मिन्न तस्य सः ॥ १०४ ॥

भाषार्थ— आत्मा पुद्गलमय द्रव्य कर्म को अथवा गुण को नही करता है। उन दोनों को न करता हुआ आत्मा पुद्गलमयी कर्म का कर्ता कैसे हो सकता है?

विशेषार्थ— जैसे मिट्टी के घडे मे मिट्टी और मिट्टी का गुण स्वभावतः रहता है, दूसरे द्रव्य अथवा गुणो का संक्रमण वस्तुस्वभाव से विरुद्ध होने के कारण कुम्हार अपने द्रव्यस्वरूप अथवा अपने गुणो को घड़े मे नही मिला पाता, और अपने द्रव्यस्वरूपो तथा गुणो को उसमें नहीं मिला सकने के कारण यथार्थ में उसका कर्ता भी नही होता है। इसी तरह पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म में स्वभावतः पुद्गलद्रव्य और पुद्गलकर्म ही विद्यमान रहता है दूसरे द्रव्यो अथवा गुणों का संक्रमण कराने मे असमर्थ होने के कारण आत्मा उनमें आत्मद्रव्य अथवा

आत्मगुणों को नहीं मिलाता है, तथा आत्मद्रव्य और आत्मगुणों को पुद्गलकर्म में बिना मिलाये कैसे उसका कर्ता हो सकता है ? इसलिये यह सिद्ध होगया कि आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्ता नहीं होता।

कर्तृत्वादि व्यवहार तो उपचार मात्र हैं, इसे आगे कहते हैं—

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमित्तेण ॥ १०५ ॥

बंधस्य परिणाम तु दृष्ट्वा जीवनिमित्तकम्।
जीवेनैव कृतं कर्मे त्युपचारेण भण्यते ॥ १०५ ॥

भाषार्थ— जीव के निमित्तमात्र होने से बन्ध का परिणाम होता है, उसे देखकर जीव ने कर्म किया" ऐसा उपचार से कहा जाता है।

विशेषार्थ— आत्मा स्वभाव से पुद्गलकर्मों का निमित्त नहीं है, किन्तु अनादि अज्ञान के कारण अज्ञानभाव से परिणमन करता है, उसके निमित्तमात्र से पुद्गलकर्म होते हैं, परन्तु जो निर्विकल्प विज्ञान स्वभाव से च्युत, विकल्प परायण हैं, उनका ऐसा विकल्प होता है, कि आत्मा ने यह कर्म किया ऐसा उपचारमात्र से कहा जाता है।

साराँश यह है कि सध्याकाल मेघो की घटाओ के रहते हुए, सूर्य, चन्द्र के निमित्त से आकाशस्थित पुद्गलविशेष, इन्द्रधनुषाकार होजाते हैं, इसी प्रकार जीव के रागद्वेषादि परिणामो का निमित्त पाकर द्रव्यकर्मवर्गणाएँ द्रव्यकर्मरूप परिणत होजाती हैं।

आगे इसी औपचारिक कर्ताकर्मपने को दृष्टान्त से समझाते हैं—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कयंति जंपए लोऊ।
ववहारेण तह कयं णाणावरणादि जीवेण ॥ १०६ ॥

योधैर्युद्धे कृते लोको ब्रूते राज्ञा कृत यथा।
तथा ब्रूते विकल्पेन कृतं जीवेन कर्म तत् ॥ १०६ ॥

भाषार्थ— योधाओ से युद्ध किये जाने पर "राजा ने युद्ध किया" ऐसा लोग व्यवहार से कहते हैं, उसी प्रकार "जीव ने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं" ऐसा व्यवहार से ही कहा जाता है।

विशेषार्थ— युद्धकाल मे जिस प्रकार योधाओं से किये गये युद्ध को, स्वय युद्ध में रत न होने वाले राजा ने युद्ध किया यह कहा जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मरूप से परिणत होने वाले पुद्गलद्रव्य के किये हुये ज्ञानावरणादि कर्मों को ज्ञानावरणादि रूप में परिणत नहीं होने वाले आत्मा से किया हुआ कहना, उपचारमात्र है, यथार्थ नही।

तथा च—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वतव्वं ॥ १०७ ॥

उत्पादयति वध्नाति गृह्णाति प्रकरोति च।
परिणामयतीत्यात्मा ब्रूते भेदेन पुद्गलम् ॥ १०७ ॥

भावार्थ— आत्मा पुद्गलद्रव्य को उत्पन्न करता है, बाँधता है, परिणमाता है तथा ग्रहण करता है, ऐसा व्यवहारनय का कथन है।

विशेषार्थ— व्याप्यव्यापकभाव न होने के कारण आत्मा प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य इन तीन प्रकार के पुद्गलकर्मों को न ग्रहण करता है, न परिणमाता है, न उपजाता है, न करता है और न बाँधता है, फिर भी जो पुद्गलकर्मों को आत्मा ग्रहण करता है, परिणमाता है, उपजाता है, करता है, बाँधता है ऐसा विकल्प होता है, वह निश्चय ही उपचारमात्र है।

पुनः इस उपचार मे दृष्टान्त दिखाते हैं—

जह राजा ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिउ ॥ १०८ ॥

व्यवहाराद्यथा राजा दोषाद्युत्पादकः स्मृतः।
व्यवहारात्तथा जीवो द्रव्याद्युत्पादको भवेत् ॥ १०८ ॥

भावार्थ— जैसे राजा प्रजा मे दोष और गुणों का उत्पन्न करने वाला व्यवहार से कहा गया है, उसी प्रकार जीव को भी व्यवहार से ही पुद्गलद्रव्य में द्रव्य और गुण का कर्ता कहा गया है।

विशेपार्थ— जैसे स्वभावतः प्रजा मे दोष गुण उत्पन्न होते हैं, किन्तु उन दोषो व गुणो का कर्ता राजा को ही "यथा राजा तथा प्रजा" कहकर माना जाता है उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य में व्याप्यव्यापकभाव के कारण स्वभाव से ही गुण दोप उत्पन्न होते हैं। किन्तु उन दोषो, गुणो का कर्ता व्याप्यव्यापकभाव न होने पर भी जीव को उपचार से कहा जाता है। इस प्रसङ्ग मे कलशरूप काव्य कहते है—

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
सकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्म कर्तृ ॥

अर्थ— यदि जीव पुद्गलकर्मो को नही करता है, तो कौन करता है ? इस आशङ्का में कर्ताकर्म के मोहरूप तीव्र वेग को दूर करने के लिये पुद्गलकर्मों के कर्ता का निर्वचन आगे करते हैं—

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥ १०९ ॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिऊ भेऊ दु तेपसवियप्पो।
मिच्छाइट्ठी आई जीव सजोइस्स चरमंतं ॥ ११० ॥

एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा ।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥ १११ ॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा ।
तह्मा जीवोऽकत्ता गुणाय कुव्वंति कम्माणि ॥ ११२ ॥

चत्वारो बन्धकर्तारः सामान्यप्रत्ययास्तथा ।
अविरतिश्च मिथ्यात्वं कषायो योग एव च ॥ १०९ ॥
तेषां भेदाः पुनः प्रोक्तास्त्रयोदश विकल्पतः ।
मिथ्यादृष्टिं समारभ्य यावदन्तं सयोगिनः ॥ ११० ॥
अचेतना यतः सर्वे किल पुद्गलकर्मजाः ।
ते यदि कर्म कुर्वन्ति तेषामात्मा न वेदकः ॥ १११ ॥
प्रत्ययाः कर्म कुर्वन्ति ये सन्ति गुणसंज्ञिताः ।
गुणाः कुर्वन्ति कर्माण्य कर्तात्मा च ततः स्मृतः ॥ ११२ ॥

भावार्थ— प्रत्यय अर्थात् कर्मबन्ध के कारण जो आस्रव हैं, वे साधारणरूप से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग चार प्रकार के हैं, जोकि बन्ध के कर्ता हैं। फिर उनके मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त तेरह भेद कहे गये हैं। पुद्गलकर्मों के उदय से उत्पन्न होने के कारण वे अचेतन अर्थात् जड़ है। वे यदि कर्म करते हैं, तो उनका भोक्ता आत्मा नहीं होता। गुणसंज्ञक प्रत्यय ही कर्म करते हैं, इसलिये आत्मा तो अकर्ता व अभोक्ता ही है।

विशेषार्थ— पुद्गलकर्मों का एक पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है। कर्ता के सामान्यतः मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये चार और विशेषतः मिथ्यादृष्टि से लेकर संयोगकेवलीपर्यन्त तेरह भेद है। ये तेरहो जड़ हैं, अतः ये यदि व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलकर्मों को करते हैं, तो इस से चेतनस्वरूप जीव मे क्या आया ? कुछ नहीं। अर्थात् जीव के कर्ता होने का कोई साधक प्रमाण नहीं मिला। अतः यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्मों के वे तेरह गुणस्थान ही कर्ता हैं। जीव उन पुद्गलकर्मों का कर्ता नही। जीव को कर्ता व भोक्ता मानना अज्ञान ही है।

जीव के साथ उन प्रत्ययो का एकपना नही है, इसे आगे कहते हैं—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्सा जीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥ ११३ ॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥ ११४ ॥
अह अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवइ चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥ ११५ ॥

आत्मोपयोगवच्चैक्यं यदि क्रोधात्मनो भवेत्।
तदानन्यत्वमापन्नं जड़चेतनयोर्ध्रुवम् ॥ ११३ ॥
एवमिह तु जीवो यः स चाजीवोऽपि निश्चयात्।
एकत्वे सति दोषोऽयं प्रत्ययानां च कर्मणाम् ॥ ११४ ॥
क्रोधोऽन्यः प्रत्ययाश्चान्ये उपयोगात्मको पुमान्।
जीवादन्यच्च नोकर्म कर्माण्यपि तथैव च ॥ ११५ ॥

भाषार्थ— जीव और उपयोग जिस तरह एकरूप हैं, उसी तरह यदि क्रोध और जीव भी एकरूप होजायँ, तो जीव, अजीव ये दोनो भी एकरूप होजायँगे।

इस तरह लोक में जो जीव हैं, नियम से अजीव भी तत्स्वरूप ही होगा। दोनो के एकरूप होने मे यही दोष है। इसीप्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म इनका आत्मा के साथ एकतत्व होने पर भी यही दोष जानना।

यदि इस दोष के कारण उपयोगस्वरूप आत्मा जड़स्वभाव क्रोध से भिन्न माना जाय, तो जडस्वभावत्व समान होने के कारण प्रत्यय नोकर्म और कर्म भी आत्मा से भिन्न ही होगे।

जैसे जीव के साथ तन्मय होने के कारण उपयोग जीव से अभिन्न माना जाता है, उसीतरह यदि जड़क्रोधादि को भी जीव से अनन्य माना जाय, तो उपयोगमयत्व की तरह क्रोधादिमयत्व की भी आपत्ति जीव मे आवेगी और ऐसा होने पर जो जीव है वही अजीव हुआ, तो एक द्रव्य का लोपरूप दोष प्राप्त होता है। इसी तरह प्रत्यय, नोकर्म और कर्मों के साथ जीव की एक स्वरूपता मानने पर आपत्ति जाननी चाहिये। यदि पूर्वोक्त दोष के कारण उपयोगस्वरूप आत्मा को और जड़स्वभावक्रोधादि को भिन्न भिन्न माना जाय, तो जडस्वभावत्व समान होने के कारण प्रत्यय, नोकर्म और कर्मादि को भी जीव से भिन्न ही मानना पड़ेगा। अतः निश्चयनय से प्रत्यय तथा जीव को भिन्न ही मानना चाहिये।

विशेषार्थ— यदि जीव के स्वरूप की अपेक्षा से विचार किया जाय तो ये क्रोधादिभाव, इस आत्मा के निजभाव नही है, यह सिद्ध है। क्योकि यदि इन रागादिभावो को भी आत्मा का स्वभाव मान लिया जाय तो आत्मा का कोई लक्षण ही न होगा। ऐसी अवस्था मे ये क्रोधादि सर्वदा इस जीव मे पाये जायेगे। पुनः ये पुद्गलकृत विकार है, ऐसा कहना भी व्यर्थ होजायगा। इस प्रकार पुद्गल और जीव मे अभेद सिद्ध होने से द्रव्यत्व के अभाव का दोष आयेगा।

आगे सॉख्यमत के मानने वाले के प्रति यह सिद्ध करते हैं, कि किसी अपेक्षा से पुद्गल के परिणमन करने का स्वभाव भी है—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥ ११६ ॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ ११७ ॥

जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥ ११८ ॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥ ११९ ॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइ परिणदं मुणसु तच्चेव ॥ १२० ॥

यदि बद्धं न जीवे स्यात् स्वयं परिणमेच्च न ।
पुद्गलः कर्मभावेना-परिणामी भवेत्तदा ॥ ११६ ॥
अपरिणममाणासु कार्माणवर्गणासु च ।
नूनं जगदभावः स्यात्पुष्टिः सांख्यमतस्य वा ॥ ११७ ॥
परिणामयतीहात्मा कर्मभावेन पुद्गलम् ।
अपरिणममानं स्वं विकारयति किं पुमान् ॥ ११८ ॥
पुद्गलः कर्मभावेन वा परिणमते स्वयम् ।
परिणामयतीहात्मा कर्मकर्मत्वमित्यसत् ॥ ११९ ॥
कर्मपरिणतः कर्म नियमात्पुद्गलस्तथा ।
तदा चाष्टविधं कर्म विकारं पौद्गलं विदुः ॥ १२० ॥

भावार्थ— यदि पुद्गलद्रव्य, जीव में स्वयंबद्ध नहीं है, और न कर्मभाव से स्वयं परिणमन करता है, ऐसा माना जाय, तो पुद्गलद्रव्य, अपरिणामी सिद्ध होगा।

कार्माणवर्गणाओं के कर्मभाव से अपरिणत होने पर संसाराभाव सिद्ध होगा, अथवा साँख्यमत की पुष्टि होगी।

जीव ही पुद्गल को कर्मभाव से परिणमाता है, ऐसा नहीं मान सकते क्योंकि जो स्वय अपरिणामी है, उसको जीव कैसे परिणमन करा सकता है।

पुद्गलद्रव्य आप ही कर्मभाव से कर्मरूपपुद्गल को परिणमाता है, ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध होगा।

अतः यह सिद्ध हुआ, कि कर्मपरिणत पुद्गलद्रव्य ही नियम से कर्मरूप होता है। ऐसा होने पर पुद्गलद्रव्य के ही ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मपरिणाम है, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ— यदि पुद्गलद्रव्य, जीव में स्वयंबद्ध न होते हुये कर्मभाव से स्वय परिणत नहीं होता है, ऐसा माना जाय तो पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ही सिद्ध होगा, और ऐसा होने पर संसार का अभाव होजायगा। यदि कहें, कि जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप से परिणमाता है, तो शङ्का होती है, कि स्वय अपरिणममान पुद्गलद्रव्य को अथवा परिणममान पुद्गल को जीव परिणमन कराता

है ? पहला पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि जो स्वयं अपरिणममान है, उसको दूसरा परिणमन नहीं करा सकता। जो शक्ति जिस मे स्वतः नहीं रहती है, उसको दूसरा भी उसमें उत्पन्न नहीं करा सकता। यदि दूसरा पक्ष मानें तो वह भी ठीक नहीं, क्योकि यदि पुद्गल स्वयं परिणममान है, तो उसको दूसरे परिणमन कराने वाले की आवश्यकता ही नहीं। क्योंकि किसी की स्वाभाविकशक्ति दूसरे की अपेक्षा नहीं रखती। अतः यही सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य स्वय परिणामस्वभावी है। ऐसा मानने पर तो जैसे मिट्टी घड़े के रूप में परिणत होकर स्वयं ही घड़ा बनी रहती है, उसी तरह जड़स्वभाव ज्ञानावरणादिकर्म परिणतपुद्गलद्रव्य ही ज्ञानावरणादिकर्म होता है। यह सिद्ध हुआ। इसी भाव को कलशरूप से कहते हैं—

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भाव यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता॥

अर्थ— इस तरह पुद्गलद्रव्य की स्वभावरूप परिणामशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई। ऐसा सिद्ध होने पर पुद्गलद्रव्य जिस भाव को स्वयं करता है, उसका वही कर्ता है यह सिद्ध हुआ।

आगे जीवको परिणाम स्वभावी सिद्ध करते हैं—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी॥ १२१॥
अपरिणमंतह्मि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसजदे संखसमओ वा॥ १२२॥
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणामंतं कहं णु परिणामएदि कोहो॥ १२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा॥ १२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवइ लोहो॥ १२५॥

न कर्मणि स्वयं बद्धः कर्मत्वं याति न स्वयम्।
यद्येवं स्यात्तदा जीवोऽपरिणामी भवेत्तव॥ १२१॥
अपरिणममाने तु जीवे क्रोधादिभिः स्वयम्।
लोकाभावोभवेन्नाम पुष्टिः सांख्यमतस्य वा॥ १२२॥
परिणामयति क्रोधो जीव क्रोधत्वमित्यसत्।
अपरिणममानं तं स कथं परिणामयेत्॥ १२३॥

स्वयं परिणमत्यात्मा क्रोधभावेन चेन्मतिः ।
तदा जीवं तु क्रोधो वै परिणामयतीत्यसत् ॥ १२४ ॥
क्रोधः क्रोधोपयुक्तात्मा मानो मानोपयोगतः ।
माया मायोपयुक्तः स्याल्लोभो लोभोपयोगतः ॥ १२५ ॥

भाषार्थ— यदि जीव कर्म में स्वयं बद्ध नहीं होता, न स्वयं क्रोधादिकर्मभाव से परिणत होता है, ऐसा माना जाय तो हे शिष्य ! तुम्हारा जीव अपरिणामी होजायगा, और यदि जीव क्रोधादिरूप से परिणमन न करे, तो संसाराभाव की आपत्ति आवेगी, अथवा साँख्यमत की प्रसक्ति होगी।

यदि कहें, कि पुद्गलकर्मक्रोधादि जीव को क्रोधरूप से परिणमाता है, तो यह भी ठीक नही। क्योंकि जब जीव स्वय अपरिणममान है, तो उसे दूसरा कोई कैसे परिणमा सकता है।

आत्मा क्रोधादिरूप से स्वय परिणमन करता है, ऐसी यदि तुम्हारी बुद्धि है, तो वह भी उचित नहीं, क्योकि ऐसा होने पर तो क्रोध जीव को क्रोधभाव में परिणमन कराता है, ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध होजायगा।

इसलिये यही सिद्ध हुआ, कि क्रोधादि परिणत उपयोगरूप आत्मा ही स्वयं क्रोधरूप होता है। माया से उपयुक्त होने पर माया होता है। लोभ से उपयुक्त होने पर स्वयं लोभरूप होता है।

विशेषार्थ— जीव, कर्म में स्वयं बद्ध नहीं होता, न कर्मरूप से स्वयं परिणमन करता है। ऐसा मानने पर जीव अपरिणामी सिद्ध होगा, और ऐसा होने पर तो संसार का अभाव सिद्ध होगा या साँख्यमत की सिद्धि होगी। यदि इस आपत्ति को हटाने के लिये कहे, कि क्रोध ही जीव को क्रोधरूप से परिणमाता है, तो इस में दो पक्ष पहले के समान प्राप्त होंगे, कि स्वयं अपरिणामी जीव को क्रोध परिणमाता है या परिणममान जीव को ? दोनों ही ठीक नहीं। क्योंकि यदि जीव स्वय अपरिणममान है, तो दूसरा भी उसे कैसे परिणमन करा सकता है। परिणममान है तो परिणमन कराने के लिये दूसरे की अपेक्षा ही नहीं होगी। इसलिये यही सिद्धान्त रहा, कि जीव स्वय परिणामस्वभावी है। ऐसा मानने पर जैसे गरुड़ के ध्यान मे परिणत साधक स्वयं गरुड़ ही होजाता है। उसी प्रकार अज्ञानस्वभाव क्रोधादिपरिणत उपयोगरूप आत्मा ही स्वयं क्रोधादिरूप होगा। इस प्रकार से जीव का परिणामस्वभावपना सिद्ध हुआ। इसी अर्थ का कलश कहते हैं—

स्थितेति जीवस्य निरंतराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥

अर्थ— इस तरह जीव की स्वभावभूता परिणामशक्ति सिद्ध हुई और ऐसा सिद्ध होने पर वह जीव जिस भाव को करता है, उसी का कर्ता होता है। यह भी फलितार्थ सिद्ध हुआ।

यही आगे भी कहते हैं—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥ १२६ ॥

यं यं भावं करोत्यात्मा कर्ता स तस्य कर्मणः।
ज्ञानमयः स विज्ञस्याज्ञानमयोऽविपश्चितः॥ १२६॥

भावार्थ— आत्मा जिस भाव को करता है, उसी कर्म का वह कर्ता होता है। ज्ञानी का वह भाव ज्ञानमय होता है, और अज्ञानी का अज्ञानमय होता है।

विशेषार्थ— इस प्रकार यह आत्मा स्वयं परिणामस्वभाव होने पर भी जिस भाव को करता है, कर्मत्व को प्राप्त हुये, उसी भाव का कर्ता होता है। ज्ञानी को अपना और पर का भेद ज्ञान होने के कारण, आत्मज्ञान प्राप्त रहता है। इसलिये ज्ञानी का वह भाव ज्ञानमय होता है, और अज्ञानी को अपना और परका भेदज्ञान नहीं रहने के कारण, आत्मज्ञान नहीं रहता है। इसलिये उसका वह भाव भी अज्ञानमय ही होता है।

ज्ञानमयभाव से क्या होता है, और अज्ञानमयभाव से क्या होना है, इसे आगे कहते हैं—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणइ तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि॥ १२७॥

अज्ञानमयभावत्वा दज्ञः कर्म करोति वै।
ज्ञस्य ज्ञानमयोभावस्तेन कर्म करोति न॥ १२७॥

भाषार्थ— अज्ञानी के भाव अज्ञानमय होते हैं इसलिये अज्ञानी कर्मों को करता है। किन्तु ज्ञानी के भाव ज्ञानमय होते हैं, इसलिये वह कर्मों को नहीं करता है।

विशेषार्थ— अज्ञानी को अपना और पर का भेदज्ञान नहीं रहने के कारण, उसका आत्मज्ञान अत्यन्त अस्त को प्राप्त हुआ रहता है। इसलिये उसका भाव भी अज्ञानमय होता है, और अज्ञानमयभाव के कारण दूसरे से अपने को एक समझता हुआ ज्ञानमात्रस्वभाव अपने स्वरूप से च्युत होजाता है। इस तरह रागद्वेषादिपरभावो के साथ एकता के कारण अहंकार को प्राप्त होकर "मैं आनन्दित होता हूँ, रुष्ट होता हूँ" ऐसा मानता हुआ अज्ञानमयभाव के कारण कर्मों को करता है।

किन्तु ज्ञानियो को तो अपना और परका भेदज्ञान रहने के कारण आत्मज्ञान उदित रहता है। इसलिये अहंकाररहित होने के कारण वे, न तो आनन्दित होते हैं, न रुष्ट होते हैं, किन्तु केवल जानते ही हैं। अतः ज्ञानमयभाव के कारण वे कर्मों को नहीं करते हैं।

ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव क्यो होते हैं, दूसरा क्यो नहीं ? एव अज्ञानी के अज्ञानमय-भाव ही क्यों होते हैं, अन्य क्यों नही ? इसका उत्तर अग्रिम गाथा से देते हैं—

णाणमया भावाऊ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जह्मा तह्मा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया॥ १२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो।
जह्मा तह्मा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स॥ १२९॥

भावाज्ज्ञानमयान्नूनं भावो ज्ञानमयो भवेत् ।
ज्ञानिनः सकला भावाः सन्ति ज्ञानमयास्ततः ॥ १२८ ॥
अज्ञानाज्जायते भावश्चाज्ञानमय एव हि ।
ततोऽज्ञानमया भावाः सन्ति त्वज्ञानिनः सदा ॥ १२९ ॥

भावार्थ— ज्ञानमयभाव से ज्ञानमयभाव ही होता है। इसीलिये ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं।

अज्ञानमयभाव से अज्ञानमयभाव ही होता है। इसलिये अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं।

विशेषार्थ— ज्ञानमयभाव से जो कुछ उत्पन्न होता है वह ज्ञानमयत्व को नहीं छोड़ता। इसलिये ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं। एवं अज्ञानमयभाव से जो कुछ उत्पन्न होता है, वह अज्ञानमयत्व को नही छोड़ता है। इसलिये अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं। इसी अर्थ का कलश कहते हैं—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥

अर्थात्—

ज्ञानी के सभी भाव ज्ञान से उत्पन्न होते हैं और अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञान से उत्पन्न होते हैं।

आगे इसी को दृष्टान्त से समर्थन करते हैं—

कणयमया भावादो जायन्ते कुण्डलादयो भावा ।
अयमयया भावादो जह जायन्ते तु कडयादी ॥ १३० ॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायन्ते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥ १३१ ॥

भावाद्धेममयाच्चैव जायन्ते कुण्डलादयः ।
यथाऽयोमयकाद्भावा ज्जायन्ते कटकादयः ॥ १३० ॥
अज्ञस्याज्ञानभावाच्च भावा मोहमयाः सदा ।
ज्ञानिनो ज्ञानभावाच्च ज्ञानभावेन स्युस्तथा ॥ १३१ ॥

भावार्थ— जैसे सुवर्णमयभाव से सुवर्णमय कुण्डलादिभाव उत्पन्न होते हैं, और लोहमयभाव से लोहमय कड़े आदि उत्पन्न होते हैं।

उसी तरह अज्ञानी अज्ञानमयभाव से अनेक तरह के अज्ञानमयभाव, तथा ज्ञानी के ज्ञानमयभाव से, अनेक प्रकार के ज्ञानमयभाव, उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ— पुद्‌गलद्रव्य यद्यपि स्वयं परिणामस्वभाव हैं, फिर भी कार्यमात्र के कारण जातीय होने के कारण सुवर्णमयभाव से सुवर्णत्व को नहीं छोड़ने वाला सुवर्णमय कुण्डलादि

भाव ही उत्पन्न होते हैं, न कि लोहमय कड़े आदि भाव तथा लोहमयभाव से लोहजातीय कड़े आदि ही उत्पन्न होते हैं न कि सुवर्णमय कुण्डलादि भाव। इसी प्रकार जीव के स्वयं परिणामस्वभाव होने पर भी कार्यों के कारणजातीय होने के कारण अज्ञानी के अज्ञानमयभावों से अज्ञानजातीय विविध अज्ञानभाव उत्पन्न होते हैं, और ज्ञानी के ज्ञानमयभाव से ज्ञानजातीय अनेक ज्ञानभाव उत्पन्न होते हैं। कलश से अग्रिम अवतरण सूचित करते हैं—

अज्ञानमयभावाना मज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्॥

अर्थ— अज्ञानी अज्ञानमय भावों का कारण होता है।

अग्रिम पाँच गाथाओं से इसी अर्थ को कहते हैं—

अण्णाणस्स स उदओजं जीवाणं दु अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं॥ १३२॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं जीवाणं हवइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ॥ १३३॥
तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा॥ १३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं॥ १३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं॥ १३६॥

आत्मनोऽतत्त्वबुद्धिर्या सोऽज्ञानस्योदयो मतः।
अश्रद्धानश्च जीवस्य मिथ्यात्वस्योदयो भवेत्॥ १३२॥
अविरतिस्तु जीवस्या संयमोदय एव सः।
यः कलुषोपयोगः स कषायोदय आत्मनः॥ १३३॥
योगोदयं च त विद्धि चेष्टोत्साहश्चयश्चिदः।
अकर्तव्यश्च कर्तव्यः शोभनोऽशोभनस्तथा॥ १३४॥
एतेषु हेतुभूतेषु कार्माणवर्गणागतम्।
यज्ज्ञानावरणाद्यैर्वा परिणमति चाष्टधा॥ १३५॥
यदा जीवनिबद्धं तत्कार्माणवर्गणागतम्।
स परिणमभावानां हेतुर्जीवो भवेत्तदा॥ १३६॥

भावार्थ— जीवों के यथार्थतत्व को नहीं जानना ही अज्ञान का उदय है। यथार्थतत्व का अश्रद्धान मिथ्यात्व का उदय है। अविरमण अर्थात् अत्यागभाव ही, असंयम का उदय है। कलुष अर्थात् मलिन उपयोग ही कषाय का उदय है। शुभ, अशुभ प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूप जीवों का चेष्टोत्साह ही योग का उदय है। पूर्वोक्त मिथ्यात्वोदय आदि के हेतु अर्थात् कारण होने पर कार्मणवर्गणागत जो पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिभाव से आठ प्रकार का परिणमता है, वही पुद्गलद्रव्य जब जीव में बद्ध होता है, तब जीव उन परिणामों (भावों) का कर्ता होता है।

विशेषार्थ— अज्ञानभाव के जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय योग आदि भेद हैं, वे पुद्गल के परिणाम हैं। वे ज्ञानावरणादि आगामी कर्मबन्ध के कारण हैं, और जीव उन मिथ्यात्वादिभावों के उदय होने पर, अपने अज्ञानभाव से अतत्त्वश्रद्धान आदि भावरूप परिणमता है, और उन भावों का कर्ता होता है।

जीव का परिणाम पुद्गलद्रव्य से पृथक् (अलग) ही है, इसे आगे कहते हैं—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥ १३७ ॥

एकस्स दु परिणामा जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो ॥ १३८ ॥

कर्मणा सह जीवस्य रागादयो भवन्ति चेत्।
रागादिभावमापन्नो जीवः कर्म च द्वे तदा ॥ १३७ ॥

जायते परिणामस्तु रागाद्यैर्यदि चात्मनः।
जीवस्य परिणामः स्याद्विनापि कर्महेतुभिः ॥ १३८ ॥

भावार्थ— जीव का रागादि अज्ञानपरिणाम यदि कर्म के साथ साथ ही माना जाय, तो जीव और पुद्गलकर्म इन दोनों में हल्दी और फिटकरी की तरह जैसे (रंग में हल्दी और फिटकरी साथ डालने से उन दोनों का सम्मिलित एक अन्य रंगस्वरूप परिणाम होता है) वैसे रागादि अज्ञानरूपपरिणाम की आपत्ति आवेगी, जोकि इष्ट नहीं है। इसलिये यदि रागादि अज्ञान परिणाम एक जीव का ही माने, तो सिद्ध होगया कि पुद्गल के कर्म परिणाम से अलग ही जीव परिणाम है।

विशेषार्थ— स्पष्ट है।

पुद्गलद्रव्य का परिणाम भी जीव से पृथक् ही है, इसे आगे कहते हैं—

जइ जीवेण सहच्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पुग्गलजीवा हु दोवि कम्मत्त मा वण्णा ॥ १३९ ॥

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १४० ॥

यदि कर्मविकारः स्याद् पुद्गलस्य सहात्मना।
तदा पुद्गलजीवौ द्वौ प्राप्तौ कर्मत्वमेव हि ॥ १३९ ॥

एकस्य परिणामस्तु कर्मत्वेन जड़स्य सः।
विनात्मभावहेतोर्वा परिणामश्च कर्मणः ॥ १४० ॥

भाषार्थ— यदि पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ ही कर्मपरिणाम माना जाय, तो पुद्गलद्रव्य और जीव दोनो हल्दी और फिटकरी की तरह कर्मत्व को प्राप्त होजायं, जो इष्ट नही है। इसलिये कर्मत्वेन परिणाम यदि एक पुद्गल का ही मानें, तो जीव के रागादि अज्ञान परिणाम से पुद्गल का कर्म परिणाम पृथक् है, यह सिद्ध होगया।

विशेषार्थ— स्पष्ट है।

आत्मा में कर्मबद्ध स्पृष्ट है, या अबद्ध स्पृष्ट ? इसका उत्तर नयभेद से देते हैं—

जीवे कम्मं बद्धं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्य दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥ १४१ ॥

बद्धं स्पृष्टं च जीवेऽस्मिन् व्यवहारेण कर्म च।
शुद्धनयात्तु जीवे न बद्धं भवति कर्म वै ॥ १४१ ॥

भाषार्थ— जीव मे कर्मबद्ध है, अर्थात् जीव के प्रदेशो से बधा हुआ है, अथवा स्पृष्ट है, अर्थात् स्पर्श करता हुआ है, ऐसा व्यवहारनय का कथन है। शुद्धनय से तो जीव मे कर्म न बद्ध है, न स्पृष्ट है।

विशेषार्थ— जीव और पुद्गलकर्मों का एक बन्धपर्याय होने से परस्पर भेद नही रहने के कारण जीव में कर्मबद्ध, स्पृष्ट है, यह व्यवहारनय का पक्ष है, और जीव एवं पुद्गलकर्म भिन्न भिन्न द्रव्य होने के कारण परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। अतः जीव में कर्म न बद्ध है, न स्पृष्ट, ऐसा निश्चयनय का पक्ष है।

इस से क्या फलित हुआ ? इसे आगे कहते हैं—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४२ ॥

कर्मबद्धमबद्धं वा जीवे विद्धि नयात्सदा।
निष्पक्षं भण्यते यस्तु समयसार एव सः ॥ १४२ ॥

भाषार्थ— जीव मे कर्मबद्ध है अथवा अबद्ध ये दोनो ही नयपक्ष हैं और जो पक्ष से अतिदूर है सर्वथा पक्षादिरहित कहा जाता है, वही समयसार अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्व है।

विशेषार्थ— जीव मे कर्मबद्ध है, जीव मे कर्मबद्ध नहीं है, ये दोनों ही विकल्प, नयपक्ष हैं जो इस नयपक्ष को उल्लघन करता है, वही सब विकल्पो से छूटकर स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञानघन-स्वभाव होकर साक्षात् समयसाररूप होजाता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि जो "जीव में कर्मबद्ध है" ऐसा विकल्प करता है, वह जीव में कर्म अबद्ध है, इस पक्ष को छोड़ता हुआ भी विकल्प को नहीं

त्यागता है। इसी प्रकार जो "जीव में कर्म अबद्ध है" ऐसा विकल्प करता है, वह भी जीव में कर्मबद्ध है, इस एक पक्ष को छोड़ता हुआ भी विकल्पमात्र को नहीं छोड़ता है। एवं "जीव में कर्मबद्ध है तथा अबद्ध भी है" ऐसा जो विकल्प करता है वह दोनों पक्षों को नहीं छोड़ता हुआ विकल्प को भी नहीं छोड़ता। इसलिये जो सब पक्षों को छोड़ देता है, वही सब विकल्पों को छोड़ता है, और जो सब विकल्पों को त्यागता है, वही "समयसार" अर्थात् शुद्ध आत्मतत्व को पाता है, इसी भाव का कलश कहते हैं—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥

अर्थ— जो पुरुष नयपक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में लीन होकर नित्य निवास करते हैं, वे ही विकल्पजालो से छूटकर शान्तचित्त हुये साक्षात् अमृत अर्थात् शुद्धात्मतत्व को पाते हैं।

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥

अर्थ— एक नय का पक्ष है, कि यह चिन्मात्र जीवकर्म से बद्ध है। दूसरे नय का है, कि जीवकर्म से बद्ध नहीं है, इन दोनों पक्षपातों से रहित जो तत्ववेदी अर्थात् तत्व के स्वरूप को जानने वाले हैं उनकी आत्मा चिन्मात्रस्वरूप (विकल्प रहित) है।

बद्ध अबद्ध पक्षपात के समान ही अन्य पक्षपात भी त्याज्य हैं, इसे आगे अनेक श्लोकों मे कहते हैं। यथा—

एकस्य मूढो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥

एकस्य रक्तो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥

एकस्य कर्ता न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥

एकस्य जीवो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिवद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥ १४३ ॥

नययोः कथितो वेत्ति शुद्धात्मज्ञश्च केवलम् ।
किन्तु पक्षं न गृह्णाति पक्षहीनो यथा जिनः ॥ १४३ ॥

भावार्थ— जो शुद्धात्मा से प्रतिबद्ध है, वह दोनों नयों के कथन को केवल जानता ही है। किन्तु किसी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता है। क्योंकि वह नय के पक्ष से रहित है।

विशेषार्थ— जैसे केवली भगवान् नयपक्ष के ज्ञाता, द्रष्टामात्र हैं, वैसे ही श्रुतज्ञानी भी जिस समय समस्तनय पक्ष से रहित शुद्धचैतन्यमात्र का अनुभव करता है। उस समय नयपक्ष का ज्ञातामात्र रहता है, अतः उसको अनुभूतिमात्रस्वरूप समयसार जानना चाहिये।

चित्स्वभावभरभावितभावाऽभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ॥

(कलश)

अर्थ— तत्वज्ञ की उक्ति है, कि मैं कर्ता, कर्मभावरूप बंधपरिपाटी को हटाकर, उस अपार समयसार का अनुभव करता हूं जो परमार्थदृष्टि से समस्तभाव, अभाव आदि भावस्वरूप एक है।

आगे समयसार, पक्षों से अलग (दूर) है इस सिद्धान्त अर्थ को उपसंहाररूप से कहते हैं—

सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो जो सो भणिदो समयसारो ॥ १४४ ॥

नयपक्षविहीनो यः समयसार एव सः ।
लभते दर्शनं ज्ञानमिति संज्ञां तु केवलम् ॥ १४४ ॥

भावार्थ— जो सब नयपक्षों से रहित है, वही समयसार है। यह समयसार केवल सम्यग्दर्शन, ज्ञान इत्यादि नामों से कहा गया है। ये सब समयसार के ही नाम हैं, वस्तुभेद नहीं हैं।

विशेषार्थ— सर्वनयों के पक्षों से रहित अर्थात् पाँच इन्द्रिय और मन से उत्पन्न जो बाह्य इन्द्रियों के विषयरूप पदार्थों में विकल्प, आदि से पृथक् बद्ध अबद्ध आदि सर्व विकल्परूप नामों के पक्ष से रहित जो समयसार अर्थात् शुद्धात्मा है (उसको) अनुभव करते हुए ही निर्विकल्पसमाधि में ठहरे हुए पुरुषों द्वारा यह आत्मा देखा, जाना जाता है, ऐसा कहा गया है। इस लिए केवलमात्र सर्व प्रकार से निर्मल केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप को यह शुद्धात्मा प्राप्त होता है।

इति कर्तृकर्माधिकारः ॥ २ ॥

अथ पुण्यपापाधिकारः (३)

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होई सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥ १४५ ॥

कर्माशुभं कुशीलं च सुशीलं शुभमेव च ।
प्रवेशयति संसारं सुशीलं तत्कथं भवेत् ॥ १४५ ॥

भावार्थ— अशुभकर्म तो पापस्वभाव है (बुरा है) और शुभकर्म पुण्यस्वभाव (अच्छा) है, ऐसा सर्वसाधारण जानते हैं। परन्तु परमार्थदृष्टि से देखा जाय, तो जो कर्म प्राणी को संसार में रुलाता है वह कर्म शुभ (अच्छा) कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

विशेषार्थ— अशुभकर्म अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापरूप क्रियाएँ कुशीलरूप, त्यागने योग्य हैं। ऐसे ही शुभ क्रियाएँ दान, पूजा, परोपकारादिकर्म, सुशील, शोभनीय और उपादेय हैं। यह पक्ष व्यवहारी जीवों का व्यवहारनय है। परन्तु इसके विरोधी निश्चयनय द्वारा इस कथन में बाधा आती है। निश्चयवादी कहता है, कि किस तरह वह पुण्यकर्म सुशील, शोभनीक व उपादेय हो सकता है ? जो इस जीव को संसार में प्रवेश कराता है।

यथा—

वदन्ति पापं किल पापमेव सन्त्यत्र मुग्धा बहवः पुमांसः ।
परन्तु ये पुण्यमपीह पापं वदन्ति ते हा ! सुलभा जना न ॥
(मदीयम्)

अर्थ— पाप को पाप कहने वाले साधारण मनुष्य तो इस संसार में प्रायः बहुत देखने में आते हैं, परन्तु जो पुण्य को भी पाप कहते हैं, ऐसे महापुरुष संसार में विरले ही हैं।

आगे शुभ, अशुभ दोनों कर्मों को ही बन्ध के कारण बताते हैं—

सौवण्णियह्मि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥ १४६ ॥

लोहस्य च सुवर्णस्य बध्नाति निगलं यथा ।
बध्नात्येव कृतं कर्म चेतनं च शुभाशुभम् ॥ १४६ ॥

भावार्थ— जैसे लोहे की बेडी पुरुष को बाँधती है और सुवर्ण की भी बाँधती है। उसी तरह शुभ तथा अशुभ किया हुआ कर्म भी जीव को बाँधता ही है।

विशेषार्थ— जैसे पुरुष को सुवर्ण की बेडी तथा लोहे की बेड़ी बाँधती है। इसी प्रकार शुभरूप वा अशुभरूप किया हुआ कर्म इस संसारी जीव को बाँधता है। दोनों ही प्रकार के कर्म आत्मा को बाँधने वाले हैं। तात्पर्य यह है, कि भोगों की इच्छारूपनिदान करके, रूप, सुन्दरता, सौभाग्य, कामदेवपना, इन्द्रपना, प्रसिद्धि, पूजा, लाभ आदि के निमित्त जो कोई व्रत, तपश्चरण,

दान, पूजादिक करता है, वह पुरुष छाछ के वास्ते मानों रत्न बेचता है तथा भस्म के लिये रत्न के ढेर को जलाता है व धागे के वास्ते रत्न के हार तोड़ता है व कोद्रव (कोदो) का खेत बोने के लिये चन्दन के वन को काटता है।

अग्रिम गाथा से शुभाशुभ दोनों कर्मों का निषेध करते हैं—

तह्मा दु कुसीलेहिय रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥ १४७ ॥

तस्माद्द्वाभ्यां च रागाभ्यां मैव कुरुत संगमम्।
तयोः संगेन रागेण स्वस्वातन्त्र्यं विनश्यति ॥ १४७ ॥

भावार्थ— हे साधक जनो ! इसलिये (पूर्व कथित शुभाशुभ कर्म कुशील हैं, निंद्य हैं) उन दोनों कुशीलो से प्रीति मत करो और सम्बन्ध भी मत करो। क्योंकि कुशील के संसर्ग और राग से आत्मस्वाधीनता का विनाश होता है।

विशेषार्थ— आचार्य महाराज साधक को उपदेश देते हैं, कि उपर्युक्त कारणो से आत्मस्वभाव के विरुद्ध, शुभ व अशुभ कर्मों के साथ मन सम्बन्धी प्रीति मत कर। और न वचन तथा काय से संगति कर, क्योंकि शुभाशुभ कर्मों से स्वाधीन आत्मिक सुख का नाश होता है।

सारांश यह है, कि सब सांसारिक सुखो मे अणिमा आदि आठ ऋद्धि सहित देवो के सुख प्रधान हैं। परन्तु वे यथार्थ आत्मिक सुख नही हैं। स्वाभाविक दुःख ही हैं। क्योंकि जब पचेन्द्रियरूप पिशाच उनके शरीर मे पीड़ा उत्पन्न करता है, तब ही वे देव मनोज्ञ विषयों मे गिर पड़ते हैं। अर्थात् जिस प्रकार कोई पुरुष, किसी वस्तु विशेष से पीड़ित होकर पर्वत से गिर कर मरता है, इसी प्रकार इन्द्रियजनित दुःखो से पीड़ित होकर उनके विषयो मे यह आत्मा रमण करता है। इसलिये इन्द्रियजनित सुख, दुःखस्वरूप ही हैं। अज्ञानबुद्धि से सुखरूप मालूम पड़ते हैं। एक दुःख के ही, सुख और दुःख ये दोनो भेद हैं।

अब दोनों कर्मों के निषेध को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥ १४८ ॥
एमेव कम्मपयडी सीलसहावं च कुच्छिदं णाउं।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥ १४९ ॥

कुशीलं मानवं ज्ञात्वा यथा त्यजति सज्जनः।
तेन सह च संसर्गं रागादिकरणं त्यजेत् ॥ १४८ ॥
कर्मप्रकृतिशीलं च ज्ञात्वा तु कुत्सितं बुधाः।
वर्जयन्ति च संसर्गं परिहरन्ति वै तथा ॥ १४९ ॥

भावार्थ— जैसे कोई पुरुष निन्दितस्वभाव वाले किसी पुरुष को जानकर उसके साथ संगति और राग करना छोड़ देता है, इसी तरह ज्ञानी जीव, कर्मप्रकृतियो के शीलस्वभाव को

निन्द्य (खोटा) जानकर उससे राग छोड़ देते हैं, और उसकी संगति भी छोड़ देते हैं। पश्चात् अपने स्वभाव मे लीन हो जाते हैं।

विशेषार्थ— साधु पुरुष, पुण्य और पाप दोनों ही कर्मों को त्यागने योग्य समझकर अपनी निर्विकल्प समाधि में तल्लीनता पाने के लिये उन्हें त्याग देते हैं। क्योंकि यदि शुभोपयोग से अनेक तरह के पुण्य उत्पन्न होते हैं, तो भले ही उत्पन्न हों, कुछ विशेषता नहीं। क्योंकि वे पुण्य देवताओं से लेकर सब संसारी जीवों को तृष्णा उपजाते हैं और जहाँ तृष्णा है, वहाँ ही दुःख है। क्योंकि तृष्णा के बिना इन्द्रियों के रूपादिविषयों में प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे जोंक (जल का जन्तुविशेष) तृष्णा के बिना विकारयुक्त रुधिर का पान नहीं करती, इसी प्रकार संसारी जीवों की विषयो मे प्रवृत्ति तृष्णा के बिना नहीं होती। इसी लिए ज्ञानी जन पुण्य को भी तृष्णा का घर समझकर उसे त्याग देते हैं।

दोनों ही कर्मबन्ध के कारण है, अतः निषेध करने योग्य हैं, ऐसा अग्रिम गाथा से सिद्ध करते है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५० ॥

रक्तो बध्नाति कर्माणि वीतरागी विमुच्यते।
एष जिनोपदेशो वै रागं मा कुरु कर्मसु ॥ १५० ॥

भावार्थ— रागी जीव तो कर्मों को बाँधता है तथा वैराग्य को प्राप्त हुआ जीव कर्मों से छूट जाता है। यह जिन भगवान् का उपदेश है। इस कारण भो भव्यजीव ! तुम कर्मों में प्रीति मत करो, रागी मत बनो !

विशेषार्थ— रागी द्वेषी जीव कर्मों को बाँधता है, परन्तु कर्मों से उत्पन्न होने वाले भावों में वैराग्य को धारण करने वाला आत्मा कर्मों से छूटता है। यह प्रत्यक्षरूप से जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है। भगवान् ने कहा है कि पुण्य और पाप दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं। न केवल बध के ही हैं, अपितु त्यागने योग्य हैं। इसलिये शुभ व अशुभ संकल्प और विकल्पों से रहित होकर अपने ही शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न होने वाला जो विकाररहित सुखामृत रस का स्वाद है, उसी से तृप्त हो, शुभ व अशुभकर्मों में राग मत करो।

तात्पर्य यह है कि रागी द्वेषी आत्मा कर्मों को बाँधता है। परन्तु वीतरागी नये कर्मों को नहीं बाँधता है, अपितु पुराने बँधे हुए कर्मों की निर्जरा करता है। इसलिये मुमुक्षुपुरुष को चाहिये, कि इन शुभ व अशुभ कर्मों में राग द्वेष न करके अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का ही अनुभव करे ! इस प्रकार यद्यपि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यपुण्य और पाप में भेद है तथा अशुद्धनिश्चयनय से द्रव्यपुण्य और पाप से उत्पन्न इन्द्रिय - सुख और दुख में भेद है, तथापि शुद्धनिश्चयनय से भेद नहीं है।

आगे मोक्ष का कारण ज्ञान है, यह सिद्ध करते हैं—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ १५१ ॥

परमार्थः शुचिर्ज्ञानी समयः केवली च यः।
निर्वाणं यान्ति ते तस्मिन् स्वभावे निरता बुधाः ॥ १५१ ॥

भावार्थ— निश्चयकर परमार्थरूप जीवनामा पदार्थ का स्वरूप यह है कि जो शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है ये जिसके नाम हैं, उस स्वभाव मे स्थित मुनि, मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ— निश्चय से परमार्थरूप उत्कृष्ट पदार्थ जो परमात्मा है अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारो पुरुषार्थों में सब से महान् पुरुषार्थ मोक्ष है, अथवा मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेदो से रहित जो निश्चय एक स्वरूप परमार्थ है, वह ही परमात्मा है, वही समय है। अर्थात् जो भली प्रकार अपने शुद्धगुण और पर्यायो में परिणमन करे, वह समय है। अथवा भली प्रकार संशय आदि से रहित जो ज्ञान है, वही समय है। अथवा अपने एक परमसमरसीभाव से ही शुद्धस्वरूप मे परिणमन करे, वह समय है। वही शुद्धरागादि भावकर्मों से रहित है, वही परद्रव्य से रहित होने के कारण किसी के सहायरहित केवली है। वह ही मुनि प्रत्यक्ष ज्ञानी है, तथा वही विशुद्ध ज्ञानमयी है, ऐसा ही परमात्मा उत्कृष्ट आत्मा है। इस परम आत्मस्वरूप मे ठहरने वाले वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान मे लवलीन मुनिजन अर्थात् तपोधन, निर्वाण (मुक्ति) पाते हैं।

इष्टोपदेश में पूज्यपाद स्वामी कहते है—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥

अर्थ— जो योगी व्यवहारधर्म से बाहर होकर आत्मा के साधनो मे लीन हो जाते हैं, उनको इस ध्यान के बल से कोई अपूर्व परमानन्द का लाभ होता है। तथा यही परमानन्द का अनुभव कर्मबन्ध का नाशक है।

अब जो बाह्यतपश्चरणादि को ही ज्ञान मानते हैं, उन्हे ज्ञान की विधि बताते हैं—

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥ १५२ ॥

परमार्थविरक्तस्य व्रतानि च तपांसि च।
बालव्रतानि ज्ञेयानि इत्याहुर्जिनेश्वराः ॥ १५२ ॥

भावार्थ— जो ज्ञानस्वरूप आत्मा मे तो स्थिर नही है और तप करता है तथा व्रतो को धारण करता है, उसके ऐसे तप व व्रत को जिनेन्द्रदेव अज्ञानतप और अज्ञानव्रत कहते हैं।

विशेषार्थ— आत्मज्ञान से रहित प्राणी, परमार्थलक्षणमयी परमात्मा के स्वरूप में नही स्थिर होता हुआ अर्थात् परमार्थस्वरूप का अनुभव नहीं करता हुआ अनशन आदि १२ प्रकार का तप करता है तथा अणुव्रत व महाव्रतादिक धारण करता है वह बालको का सा अज्ञानतप व बालकों का सा अज्ञानव्रत है। ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। क्योंकि वह पुण्य व पाप के उदयजनितभावो मे विशेषज्ञान को नहीं धारण किये हुए है।

आगे ज्ञान को मोक्ष का हेतु और अज्ञान को बन्ध का हेतु नियम से कहते हैं—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विन्दंति ॥ १५३ ॥

महातपांसि कुर्वन्तो व्रतशीलपरायणाः।
विन्दन्ति नैव निर्वाण मात्मज्ञानपरांमुखाः ॥ १५३ ॥

भावार्थ— जो कोई पुरुष, शीलव्रतादि को धारण करते हुए महान् दुस्तरतपों को तपते हैं, परन्तु परमार्थभूत आत्मज्ञान से परांमुख होने के कारण वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।

विशेषार्थ— जो पुरुष महाव्रत अणुव्रत व अन्य नियम प्रतिज्ञाओं को धारण करते हुए तथा शीलों को अर्थात् क्रोधादि रहित स्वभावों को व शीलव्रत को व सात प्रकार के शीलों को और तप को करते हुए भी मन, वचन, काय की गुप्ति में गुप्तरूप समाधि लक्षण को रखने वाले भेदज्ञान से विहीन हैं, अतः वे परमार्थ से बाहर हैं, इस कारण से अज्ञानी हैं। अज्ञानी पुरुषों को किस तरह मोक्ष का लाभ हो सकता है ? जो परम समाधि लक्षण को रखने वाले भेदज्ञान सहित हैं, वे यदि बाह्यव्रत नियमों को व शील व तप को प्रकट प्रवृत्तिरूप से आचरण नहीं भी कर रहे है, तो भी मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं। क्योकि वहाँ भेदज्ञान का सद्भाव है।

पुण्यकर्म के पक्षपाती को समझाने के लिये उत्तररूप से अग्रिम गाथा कहते हैं—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥ १५४ ॥

अज्ञानात्पुण्यमिच्छन्ति शुद्धात्मनिरता न ये।
मोक्षहेतुमजानन्तस् तत् पुण्यं भवकारणम् ॥ १५४ ॥

भावार्थ— जो जीव परमार्थ से बाह्य है अर्थात् परमार्थभूत आत्मा का अनुभव नहीं करते वे अज्ञानवश पुण्य को अच्छा मानते है। किन्तु वह पुण्य संसार परिभ्रमण का कारण है। वे जीव मोक्ष के कारण ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं जानते। किन्तु पुण्य को ही मोक्ष का कारण मानते हैं।

विशेषार्थ— इस संसार में अनेक पुरुष सकलकर्मों के क्षयरूप मोक्ष को चाहते हुए भी अपनी परमात्मभावना मे परिणमन करने वाले अभेदसम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रलक्षणमयी परमसामायिक को पहले ही दीक्षाकाल में करने की प्रतिज्ञा करके भी चिदानन्दमयी एक स्वभावरूप शुद्धात्मा के यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र मे ठहरने की शक्ति न होने के कारण से पूर्व मे कही हुई परमसामायिक का अनुभव नहीं करते हुए परमार्थस्वरूप से बाहर ठहरे हुए अभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्ष के कारण को नहीं जानते हैं। किन्तु अपने अज्ञानभाव से संसार परिभ्रमण का कारण होने से बन्ध के कारणस्वरूप पुण्यकर्म को चाहते हैं। अथवा बन्ध का कारणस्वरूप जो पुण्य है, उसे मोक्ष का कारण मान लेते हैं। कारण कि वे पूर्व में कहे हुए परमसामायिकरूप मोक्ष के कारण को नहीं जानते हैं।

सारांश— इस लोक में अनेक प्राणी ऐसे हैं, जो समस्त कर्मों का नाश कर आत्मस्वरूप मोक्ष की इच्छा करते है, तो भी उस मोक्ष के कारण रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) रूप परमसामायिक की प्रतिज्ञा लेकर भी दुरन्तकर्म के उदय से संक्लेश परिणामरूप कर्म से तो निवृत्त

हो गये हैं, किन्तु सूक्ष्म कर्म में अभी तक स्थित हैं। अतः स्थूल अनुभव गोचर संक्लेशरूप कर्मकाण्ड को तो छोड़ते हैं, परन्तु समस्त कर्मकाण्ड को मूल से नहीं उखाड़ते। इसलिये वे केवल अशुभकर्म को ही बन्ध का कारण मानकर नियम, तप आदि में प्रवृत्त होते हैं, और उन्हीं को मोक्ष का कारण मानते हैं। ऐसे व्यक्ति भी परमार्थ (आत्मज्ञान) से विमुख हैं।

अग्रिम गाथा से परमार्थस्वरूप मोक्ष का कारण बताते हैं—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥ १५५ ॥

श्रद्धानं सप्ततत्वानां ज्ञानं तेषां च निश्चयात्।
रागादिनाशनं वृत्तं मोक्षमार्गो विभेदतः ॥ १५५ ॥

भावार्थ— जीवादिक पदार्थों का श्रद्धान तो सम्यक्त्व है, और उन जीवादिपदार्थों का अधिगम से सम्यग्ज्ञान है, तथा रागादिक का त्याग सम्यक्चारित्र है, यही व्यवहार से मोक्षमार्ग है।

विशेषार्थ— जीवादि ९ पदार्थों का विपरीत अभिप्रायरहित श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है, और उन्हीं का संशय, विपर्य और अनध्यवसायरहित ज्ञान, सम्यग्ज्ञान है तथा रागादिभावो का परित्यागचारित्र है, यही व्यवहारनय से मोक्ष का मार्ग है। अथवा उन्ही सत्यार्थरूप से जाने हुए पदार्थों का शुद्धात्मा से भली प्रकार अवलोकन करना, अर्थात् श्रद्धान करना, निश्चय सम्यग्दर्शन है। उन्हीं का भली प्रकार ज्ञान करके शुद्धात्मा से भिन्न जानना निश्चय-सम्यग्ज्ञान है तथा उन्हीं परपदार्थों का शुद्धात्मा से भिन्नरूप से निश्चय करके रागादिविकल्पो का त्याग करके अपने ही शुद्धात्मस्वरूप मे स्थिति प्राप्त करना, निश्चयचारित्र है। और यही निश्चय मोक्षमार्ग है।

परमार्थ मोक्ष के कारण से अन्यकर्म का निषेध, अग्रिम गाथा से करते है—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टन्ति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥ १५६ ॥

विमुच्य निश्चयार्थं वै प्रवर्तन्ते न ज्ञानिनः।
विशुद्धमाश्रितानां तु पुंसां कर्मक्षयो भवेत् ॥ १५६ ॥

भावार्थ— बहुत से विद्वान, निश्चयनय के विषय को छोडकर व्यवहार में प्रवृत्त हैं, परन्तु परमार्थभूत आत्मस्वरूप के आश्रित यतीश्वरो के ही कर्म का नाश कहा गया है। व्यवहार में प्रवृत्त होने वाले का कर्मक्षय नही होता।

विशेषार्थ— अनेक विद्वान्, परमार्थभूत मोक्ष के कारण को छोडकर व्रततपादिक शुभकर्म को ही मोक्ष का कारण मानते है। अतः व्रतशीलादि शुभकर्मों में ही रत रहते हैं। किन्तु यह उनका भ्रममात्र है। क्योंकि ये शुभकर्म पौद्गलिक स्वभाव वाले हैं। इसलिये वे मोक्ष के हेतु नहीं हो सकते। मोक्ष तो केवल आत्मज्ञान से ही कहा गया है।

आगे मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो जीव के गुण हैं, वे किस

प्रकार मिथ्यात्वादि से आवृत्त हो रहे हैं, यह दिखाते हैं—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥ १५७ ॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥ १५८ ॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ॥ १५९ ॥

श्वेतभावो हि वस्त्रस्य यथा मलेन नश्यति ।
तथा मिथ्यात्वभावेन सम्यक्त्वं च विनश्यति ॥ १५७ ॥
श्वेतभावो हि वस्त्रस्य यथा मलेन नश्यति ।
अज्ञानाच्च तथा ज्ञानं प्रणश्यति तथैव च ॥ १५८ ॥
श्वेतभावो हि वस्त्रस्य यथा मलेन नश्यति ।
कषायावरणं वापि नाशमेति न संशयः ॥ १५९ ॥

भावार्थ— जैसे वस्त्र का सफेदपना मल के संसर्ग से नष्ट होजाता है अर्थात् तिरोभूत होजाता है, उसी तरह मिथ्यात्व मल से व्याप्त हुआ आत्मा का सम्यक्त्वगुण निश्चय कर आच्छादित हो रहा है। जैसे वस्त्र का सफेदपना मल के ससर्ग से नष्ट हो जाता है, उसी तरह अज्ञान मल से व्याप्त हुआ आत्मा का ज्ञानभाव आच्छादित हो रहा है। तथा जैसे वस्त्र का सफेदपना मल के संसर्ग से नष्ट होजाता है उसी तरह कषाय मलसे व्याप्त हुआ आत्मा का चरित्रभाव भी आच्छादित हो रहा है।

विशेषार्थ— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो इस जीव के स्वाभाविक गुण हैं। परन्तु ये अनादिकाल से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और कषायो के कारण आच्छादित व विकृत हो रहे हैं। इसीलिये यह आत्मा अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रहा है। ज्ञानीजनो का कर्तव्य है, कि वे इस मिथ्यात्वादि का परिहार (त्याग) करके शुद्धात्मानुभूति का प्रयत्न करें।

अग्रिम गाथा से कर्म का स्वयमेव बन्धपना सिद्ध करते हैं—

सोसव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥ १६० ॥

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च किन्तु कर्मवशेन वै ।
स संसारसमापन्नो वेत्ति सर्वं न सर्वतः ॥ १६० ॥

भावार्थ— यद्यपि यह आत्मा स्वभाव से सब को जानने वाला और देखने वाला है,

तो भी अपने कर्मरूपी रज से आच्छादित होने के कारण इसके सर्वज्ञत्वादिगुण, तिरोभूत हो रहे हैं। इसीलिए यह संसारी जीव, अल्पज्ञ और शक्तिहीन होकर संसार में फस रहा है।

विशेषार्थ— वह शुद्धात्मा, निश्चय से परिपूर्ण, ज्ञानदर्शनस्वभाव को रखने वाला है, तो भी अपनी ही बाँधी हुई ज्ञानावरणीय आदि कर्मरूपी रज से आच्छादित होकर इस संसार-रूपी सागर में अनादिकाल से गोते खा रहा है। इसीलिए सब तरह से सब पदार्थों को नहीं जान सकता है। इस से विदित होता है, कि कर्म इस जीव के लिये बन्धरूप ही हैं। इसलिए वे कर्ममोक्ष का कारण किस तरह हो सकते हैं? अर्थात् कभी भी नहीं हो सकते।

अब मोक्ष के कारणभूत सम्यक्त्वादि का मिथ्यात्वादि से विकृत होना सिद्ध करते हैं—

समत्तपडिणिवद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥ १६१ ॥
णाणस्स पडिणिवद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥ १६२ ॥
चारित्तपडिणिवद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥ १६३ ॥

सम्यक्त्वप्रतिकूलं वै मिथ्यात्वं कथितं जिनैः।
तस्योदयेन जीवोऽयं मिथ्यादृष्टिर्न संशयः ॥ १६१ ॥
ज्ञानस्य प्रतिपक्षी वै चाज्ञानं कथितं बुधैः।
तस्योदयेन चात्मायं मूढत्वं प्रतिपद्यते ॥ १६२ ॥
चारित्रघातकाः सन्ति कषायाश्च सुदुस्तराः।
तेषामेवोदयादात्मा चारित्ररहितः स्मृतः ॥ १६३ ॥

भावार्थ— सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्वकर्म है, ऐसा जिनेन्द्रभगवान ने कहा है। उसी मिथ्यात्व के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि होजाता है। ज्ञान को रोकने वाला अज्ञान है, ऐसा जिनवर ने कहा है। उस के उदय से यह जीव अज्ञानी होता है। तथा चारित्र के प्रतिबन्धक कषाय हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। उनके उदय से यह जीव चारित्र रहित हो जाता है।

विशेषार्थ— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीनों आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, और ये स्वयं मोक्षस्वरूप हैं। इनके प्रतिबन्धक मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ये तीन हैं। ये तीनों ही कर्म, उपर्युक्त तीनों स्वाभाविक गुणों को आच्छादित और मलिन कर रहे हैं। अतः यह सिद्ध हुआ, कि मिथ्यात्वादि कर्म ही आत्मा के स्वभाविक गुणों के घातक होने से स्वयं बंधस्वरूप हैं। अतः बन्धस्वरूप, ये कर्म मोक्ष का कारण कभी नहीं हो सकते। इसीलिए आचार्यों ने शुभ और अशुभ दोनो ही कर्मों को मोक्ष का कारण न मानकर इनको त्याज्य कहा है।

सारांश— भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने इस पुण्यपापाधिकार में पुण्य और पाप दोनों को समान बताकर दोनो को हेय बताया है। मुमुक्षुओं को जिस प्रकार अशुभकर्म छोड़ने का उपदेश किया है, उसी प्रकार दया, दान, व्रत, तप, शीलादि शुभकर्मों को भी त्याज्य बताया है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है, कि सर्वसाधारण जन, धार्मिक कृत्यो को छोड़कर आलसी बन बैठें। ऐसा करने से तो वे स्वभावतः ही पापकार्यों में प्रवृत्त होजायेंगे। इसलिए आचार्य महाराज का कथन शुद्धोपयोग में प्रवेश करने की प्रेरणा करना है। जैसा कि, "समाधिशतक" में पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः॥

अर्थ— पहले अव्रत छोड़ना, जिस से किसी जीवको पीड़ा न होवे, और पाप छूट जावें। तथा आत्मानन्द की पूर्ण योग्यता होजावे, और गुरु महाराज योग्य समझें तब आत्मा में पूर्ण स्थिरता करके कर्म काटने के लिए श्रेणी चढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। जो श्रेणी चढ़ना चाहते हैं, उन्हीं महापुरुषो के लिए पुण्यादि अर्थात् शील, व्रत, तपादि का त्याग बताया गया है। किन्तु सर्वसाधारण गृहस्थो के लिए ही नहीं, अपितु मुनियों के लिए भी शुभोपयोग में रत रहना आवश्यक है। तथा च—

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः।
मूलदुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम्॥

अर्थ— जब तक चिन्ताजाल है, तब तक आत्मा को सम्पूर्ण शान्ति नहीं मिलती। इसलिए पहले दुःखो का मूल अव्रत और सांसारिक विषय स्वाद छोड़ना, पीछे स्थिरता होने पर व्यवहारचारित्र, जो व्रत आदि विकल्परूप हैं, और शिष्यादिकों की संभाल आदि भी जो विकल्परूप है, वे भी योग्य शिष्यो को सौंपकर सम्पूर्ण आत्मानन्दी हो जाने से अभिलषित चिरस्थायी मोक्षपद का बीज केवलज्ञान प्राप्त होता है।
तथा च—

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत्॥

अर्थ— पहले संसार भ्रमण का बीज अव्रत छोड़कर, व्रत धारण करना और फिर व्रती होकर गुरुमहाराज की सेवाव्रत में स्थिरता करके ज्ञान वृद्धि करना जीव, अजीव पदार्थ का सम्पूर्ण ज्ञान होने पर आत्मानन्दी और अच्छी तरह से आत्मभावना मे स्थिर होकर क्षपकश्रेणी चढ़कर केवल ज्ञान प्राप्त करो। जिस से मोह और अज्ञान का आवरण सम्पूर्ण नष्ट होने पर बिना गुरु की सहायता के भी आप तर सकेंगे, और अन्य भव्यात्माओं को भी सद्बोध देकर परमपद प्राप्त करा सकेंगे।

इसी विषय को "समयसार कलश" मे निम्नप्रकार से स्पष्ट किया है—

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च॥

अर्थात्— यहाँ यह बताया गया है, कि जो अज्ञानी बाहरी क्रियाकाण्ड को व शुभ योग को ही मोक्षमार्ग जानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। इसी तरह जो ऐसा मानकर, कि हम तो शुद्ध हैं और कर्मबन्ध का कारण हैं। इसलिए शुभकर्म जो आत्मविचार के लिए बाहरी आलम्बन हैं उनको छोड़ कर अशुभकर्म अर्थात् विषयभोगादि में पड़ जाते हैं और कभी भी शुद्धस्वरूप के अनुभव का प्रयास नहीं करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। उनको सत्यवस्तुस्वरूप का अनुभव नहीं हुआ। मोक्षमार्गी वे ही हैं, जो प्रमादी नहीं हैं और सदा आत्मानुभव के लिए पुरुषार्थवान् हैं। जो संक्लेश परिणामों को तो पहले ही दूर से छोड़ते हैं तथा शुभ परिणामों को भी हेय समझकर छोड़ने में उद्यमी हैं, और शुद्धात्मभावों में रमण करने के उत्सुक हैं। प्रयोजनवश मन, वचन, काय की कुछ क्रिया करनी पड़े तो उसे बन्ध का कारण व त्याज्य जानते हैं। वीतराग शुद्धात्मानुभवरूप परिणाम को ही मोक्षमार्ग जानते हैं। ऐसी ही आत्माएँ इस विकट भवसागर में नौका के समान ऊपर २ तैरते हुए बिल्कुल पार हो जाती हैं।

इति पुण्यपापाधिकारः ॥ ३ ॥

अथ आस्रवाधिकारः (४)

शुभाशुभ कर्मों के रोकने का प्रधान साधन स्वसंवेदन लक्षणमयी भेदविज्ञान है, अतः प्रथम उसी को कहते हैं—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥ १६४ ॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥ १६५ ॥

मोहकषाययोगाश्च संज्ञाऽसंज्ञादिभेदतः।
विभावाः सन्ति जीवे तु जीवस्यैव न संशयः ॥ १६४ ॥
ते ज्ञानावरणाद्यस्य कर्मबन्धस्य हेतवः।
रागद्वेषादिमज्जीवस्तेषां भवति कारकः ॥ १६५ ॥

भावार्थ— मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार आस्रव के भेद हैं। चेतन और पुद्गल के विकार हैं, ऐसे दो दो भेद पृथक् २ हैं। उनमें से जो चेतन के विकार हैं वे जीव मे बहुभेदात्मक हैं। तथा उस जीव के ही अभेदरूप परिणाम हैं, और जो मिथ्यात्वादि पुद्गल के विकार हैं, वे तो ज्ञानावरणादिकर्मों के बधन के कारण हैं। और रागद्वेषादिभावरूप परिणत जीव, उन द्रव्यकर्मों का कर्ता होता है।

विशेषार्थ— आस्रव दो प्रकार का है— एक भावास्रव और दूसरा द्रव्यास्रव।

(१) भावास्रव— आत्मा के दो प्रकार के भाव हैं एक वैभाविक और दूसरा स्वाभाविक— परनिमित्त से परपदार्थ में जो ममत्वबुद्धिपूर्वक कर्मज-भाव पैदा होते हैं, वे वैभाविक भाव हैं। उन्हीं को भावास्रव अथवा भावबन्ध कहते हैं। उस भावास्रव के ही यहाँ पर मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग इस प्रकार चार भेद किये हैं।

(२) द्रव्यास्रव— इस भावास्रव से कार्माणवर्गणायें (एक तरह की पुद्गलवर्गणायें) जिन मे कर्मरूप होकर जीव के साथ बधने की शक्ति विद्यमान होती है और जो समस्त लोक मे व्याप्त हैं वे जीव के रागादिभावो के द्वारा ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूप परिणमन को प्राप्त होती है। अर्थात् आत्मा के रागद्वेषादिभावों से खिंचकर ज्ञानावरणादिकर्मों के रूप में आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होती हैं। वह द्रव्यास्रव कहलाता है। इस प्रकार आचार्य ने दो प्रकार के आस्रव का वर्णन किया है।

आगे ज्ञानी के भावास्रवों का अभाव दिखाते हैं—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥ १६६ ॥

सम्यग्दृष्टेर्न बन्धः स्यात् कर्मास्रवोऽपि नैव च।
पूर्वबद्धानि जानाति चाबध्नन् स हि पण्डितः ॥ १६६ ॥

भावार्थ— सम्यग्दृष्टि के आस्रव व बन्ध नहीं है क्योकि आस्रव का निरोध है। तथा जो पहले के बाँधे हुए जो कर्म सत्ता मे मौजूद है उनको आगे नही बाँधता हुआ वह केवल जानता ही है।

विशेषार्थ— वीतराग सम्यग्दर्शन के होते हुए कर्मों का साँपरायिक आस्रव अर्थात् ससार का कारण कर्मास्रव नही होता और न कर्मों की स्थिति पडती है, न अनुभाग बन्ध होता है। ग्यारहवे, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान मे यद्यपि योगो के परिणमन से सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है तथापि कषायो के न होने से केवल ईर्यापथ आस्रव व प्रकृति और प्रदेशबन्ध एक समयमात्र स्थिति वाला होता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि को अबन्धक कहा है। जिसको सम्यक्त्व हो जाता है उसका संसार थोडे काल के लिये रह जाता है। यहाँ पर कोई ऐसा माने, कि हम सम्यग्दृष्टि हैं, हमे कर्म का बन्ध नही होगा। तो उसका यह मानना मिथ्या है। यद्यपि उसको गुणस्थान की अपेक्षा अपने योग्य कितनी ही प्रकृतियो का बन्ध नहीं होगा, तथापि जिन के बधने का अभाव आगे के गुणस्थान मे है उनका नीचे के गुणस्थान मे अवश्य बन्ध होगा।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने "समयसार कलश" मे इस विषय को इस प्रकार कहा है कि—

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।
ज्ञानी सदाज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥

अर्थ— कहते हैं, कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव के वे सर्वभाव मिट गये, जो मिथ्यात्व अवस्था मे होते थे। उसको यही अनुभव है, कि मैं शुद्धचैतन्यमात्र पदार्थ हू, मैं जानने वाला हू, मेरा रागद्वेष करने का स्वभाव नहीं है, इस तरह भावास्रव से छूट गया। तथा द्रव्यकर्मों से तो सम्यग्दृष्टि जीव स्वभाव से ही अपने को भिन्न जानता है। वे पुद्गल हैं, आत्मा से सर्वथा भिन्नस्वभावरूप हैं। ज्ञानी जीव सदा यही श्रद्धान रखता है, कि मेरा सम्बन्ध न किसी भावकर्म से है, न द्रव्यकर्म से है, और न नोकर्म से है। इसीलिए यह द्रव्यास्रव और भावास्रव दोनो से ही रहित है। यह आत्मानुभव और भेदज्ञान की महिमा है।

सारांश यह है, कि मिथ्यादर्शन, अविरति अर्थात् असयम, क्रोधादिकषाय, मन, वचन, काय के योग, ये चार भावप्रत्यय और द्रव्यप्रत्ययरूप से सज्ञा अर्थात् चेतनरूप असज्ञा अर्थात् अचेतनरूप हैं। जीव सम्बन्धी विभाव, भाव तो चेतन हैं और पुद्गलमयी द्रव्यकर्म सम्बन्धी प्रकृति अचेतन जड़ है— असत् श्रद्धानरूपभाव, भावमिथ्यात्व है और दर्शनमोहनीयकर्म प्रकृति, द्रव्यमिथ्यात्व है। संयम न पालनेरूपभाव, भावअसयम है, अप्रत्ययख्यानावरणी आदि चारित्र मोहनीयकर्म, द्रव्यअसंयम है, क्रोधमानादि अशुद्धभाव, भावकषाय है। क्रोध मानादि चारित्र मोहनीयकर्म, द्रव्यकषाय हैं— आत्मा की योगशक्ति का परिणमन अथवा आत्मा के प्रदेशो का हलन, चलन, भावयोग है। शरीर आङ्गोपॉग स्वर आदि नामकर्म, द्रव्ययोग हैं।

अथवा मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इनके सिवाय आहार, भय, मैथुन और परिग्रहरूप चार संज्ञाएं अर्थात् कामनाएं तथा असंज्ञा (ईषत् संज्ञा अर्थात् संज्ञा की अपेक्षा कुछ कम) तीन प्रकार की हैं— (१) इस लोक की इच्छा (२) परलोक की इच्छा (३) कुधर्म की इच्छा। ये सर्वभाव उत्तरभेद से अनेक प्रकार के इस अधिकरणभूत जीव में होते हैं। और ये सर्वविभाव - परिणाम इस ही जीव के अभिन्न परिणाम (अशुद्धनिश्चयनय से) हैं।

अब रागादिभावों के आस्रव का निश्चय करते हैं—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ॥
रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरिं ॥ १६७ ॥

भावो रागादिसंयुक्तः कथितो बन्धको बुधैः।
रागादिविप्रमुक्तो यो ज्ञायकोऽबंधकः शुचिः ॥ १६७ ॥

भाषार्थ— रागादि मे युक्त जीव के भाव भी. नवीन कर्मों का बन्ध करने वाले हैं। अतः जो रागादि भावो से रहित है, वह कर्मों का बन्ध करने वाला नहीं है केवल ज्ञाता, द्रष्टा है।

विशेषार्थ— इस आत्मा मे निश्चय से जो राग, द्वेष, मोह के मिलाप से उत्पन्न हुआ भाव है, वह अज्ञानमय ही है। जैसे चुम्बक पत्थर के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ भाव, लोहे की सूई को चलाता है। उसी तरह वह अज्ञानभाव आत्मा को कर्म करने के लिए प्रेरणा करता है। तथा उन रागादिकों के भेदज्ञान से उत्पन्न हुआ जो भाव है, वह ज्ञानमय है। जैसे चुम्बक पाषाण के ससर्ग के बिना सूई का स्वभाव चलनेरूप नहीं है। उसी तरह वह ज्ञानमयभाव आत्मा को कर्म करने में उत्साहपद नहीं है। इस लिये रागादिकों से मिला हुआ अज्ञानमय भाव ही, कर्म के कर्तापने मे प्रेरक है। इस कारण नवीन बन्ध का करने वाला है तथा रागादिक से नहीं मिला हुआ भाव है, वही अपने स्वभाव को प्रगट करने वाला है। वह केवल जानने वाला ही है, वह नवीन कर्म का किंचिन्मात्र भी बन्ध करने वाला नही है।
तथा च—

जीवपोतो भवाम्बोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान्।
आस्रवति विनाशार्थं कर्माम्भः प्रचुरं भ्रमात् ॥

अर्थात्— जिस प्रकार समुद्र मे जिस समय जहाज में छिद्र होजाते हैं उस समय वह उन छिद्रों से अपने डुबाने के लिए स्वय जल को ग्रहण करता है। उसी प्रकार यह जीव जिस समय मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध के कारणो से सयुक्त होता है. उस समय यह अपने विनाश के लिये स्वयं कर्म को ग्रहण करता है। इस लिए भव्य जीवो को इस प्रकार आस्रव के स्वरूप को जानकर कर्मों के रोकने के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।

आगे रागद्वेषादि से रहित शुद्धभाव का उपाय बताते हैं—

पक्के फलह्मि पडिए जह ण फलं वज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥ १६८ ॥

फले च पतिते पक्वे पुनर्वृन्तै ने बध्यते।
जीवस्य कर्मनिर्जीर्णे पश्चादुदयमेति न ॥ १६८ ॥

भावार्थ— जैसे वृक्ष का फल पक कर गिर जाय, तो वह फिर गुच्छे से नहीं बंधता। उसी तरह जीव में पुद्गलकर्मभावरूप पककर झड़जाय अर्थात् निर्जरा होजाय, तो वह कर्म फिर उदय नहीं होता।

विशेषार्थ— अभिप्राय यह है, कि ज्ञानी के कर्म की निर्जरा होजाने के बाद वह कर्म फिर उदय मे नहीं आता। तब उसके ज्ञानमय ही भाव रह जाता है। इस तरह जब जीव का मिथ्यात्वकर्म अनन्तानुबन्धी सहित सत्ता मे से क्षय होजाता है, तब फिर उदय में नही आता। तब ज्ञानी हुआ, फिर कर्म का कर्त्ता नहीं होता। मिथ्यात्व के साथ रहने वाली प्रकृतियाँ तो बंधती नहीं और अन्य प्रकृतिसामान्य, ससार का कारण नही हैं। मूल से कटे हुए वृक्ष के हरे पत्ते के समान हैं। वे शीघ्र ही सूखने योग्य है। इस प्रकार ज्ञानी का रागादिक से रहित ज्ञानमयभाव है। चारित्रमोह के उदय का राग अज्ञानमय नहीं गिना जाता, क्योकि सम्यग्दृष्टि के उसका स्वामीपना नही है।

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याज्ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम्॥

(कलश)

अर्थात्— भेदज्ञान होने के बाद सम्यग्दृष्टि जीव के भीतर जो भाव होते हैं वे ज्ञानभाव को लिए हुए होते है। मिथ्यात्व अवस्था मे जितने भाव होते थे वे नही होते हैं। तब जो कर्म मिथ्यात्वदशा मे आकर बधते थे उनका आना भी बन्द होजाता है। यह सम्यग्भाव की अपूर्व महिमा है। शुद्ध आत्मिकभाव ही ग्रहण करने योग्य है। यह प्रतीति अनन्त ससार के कारण कर्मबन्ध को बिल्कुल रोक देती है।

अब ज्ञानी के नवीन द्रव्यास्रवों का अभाव दिखलाते है—

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स॥ १६९॥

पृथ्वीपिण्डसमं कर्म तस्याकिंचित्करं विदुः।
तत्कर्म वपुषा बद्धं परन्तु ज्ञानिनस्ततः॥ १६९॥

भावार्थ— उस पूर्वोक्त ज्ञानी के पहले अज्ञान अवस्थाओं में बन्धे हुए सभी कर्म जीव रागादिभावो के हुए बिना पृथ्वी के पिण्ड समान हैं। जैसे मिट्टी आदि अन्य पुद्गलस्कन्ध है, उसी तरह वे भी हैं और वे कार्माण शरीर के साथ बंधे हुए हैं। किन्तु वे ज्ञानी के लिए अकिंचित्कर हैं।

विशेषार्थ— उस वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्वकाल मे बाधे हुए मिथ्यात्व, अविरति कषाय आदि द्रव्यास्रवरूपी कर्म तो मिट्टी के ढेर के समान अकार्यकारी होते हैं, अर्थात उसके नवीन द्रव्यकर्मों का बन्ध नही होता। वे सर्व ही पूर्व मे बांधे हुए द्रव्यकर्म, निर्मल आत्मा के अनुभवरूपी लक्षण को रखने वाले भेदज्ञानी जीव के कार्माणशरीररूप से ही रहते हैं। राग-द्वेषादि भावो मे जीव को परिणमन नहीं कराते हैं। यद्यपि द्रव्यास्रवरूपी कर्म मुट्ठी मे रखे हुए विष के समान कार्माणशरीररूप से पड़े रहते हैं तथापि उदय मे आये बिना अर्थात् बिना रसोदय के सुखदुःखरूपी विकारमयी बाधा को नहीं करते हैं। इसी कारण से ज्ञानी जीव के नवीन कर्मों का आस्रव नहीं होता है।

सारांश यह है, कि जब यह वीतराग सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा उद्यम करके अपने स्वरूप में ठहरता है तब पुराने रागद्वेषादि द्रव्यकर्म रागादिभावों को पैदा न करके मिट्टी के ढेले के समान पड़े रहते हैं, कुछ भी काम न करके अपने समय पर झड़ जाते हैं। जैसे मुट्ठी में रक्खा हुआ विष शरीर में जहर नहीं चढा सकता ऐसे ही वे द्रव्यकर्म योंही पड़े रहते हैं।

अग्रिम गाथा से ज्ञानी को आस्रवरहित सिद्ध करते हैं—

चउविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समए समए जह्मा तेण अबंधोत्ति णाणो दु ॥ १७० ॥

चतुर्धा कर्म कुर्वन्ति ज्ञानदर्शनभेदतः ।
प्रत्ययाः सततं किन्तु ज्ञानी नैव च बन्धकः ॥ १७० ॥

भावार्थ— चार प्रकार के जो पूर्व कहे गये मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय, योग व आस्रव है, वे दर्शनज्ञान गुणों को विकृत करते हैं। वे विकृत गुण ही समय समय पर कर्मों को बांधते हैं किन्तु ज्ञानी तो अबन्धरूप ही है।

विशेषार्थ— अर्थात् द्रव्यास्रवरूपी कर्म उदय में आते हुए जीव के ज्ञानदर्शनगुणों को रागद्वेषादि अज्ञानभाव में परिणमन करा देते हैं। तब वे रागद्वेषादि अज्ञानभाव में परिणमन होने वाले ज्ञान, दर्शन, गुण बन्ध के कारण होते हैं। वास्तव में तो रागद्वेषादि ज्ञान-भावों में परिणमन होने वाले ज्ञान और दर्शन दोनों को अज्ञान ही कहते हैं। क्योंकि ज्ञानदर्शन गुण रागादि अज्ञानभाव में परिणमन होकर नवीन कर्मों को बाँधते हैं। इसलिए भेदज्ञानी कर्मबन्ध करने वाला नहीं होता। किन्तु ज्ञानदर्शन गुण रागद्वेषरूप होने के कारण से वे उदय में आये हुए द्रव्यकर्मबन्ध करने वाले हैं। इस तरह ज्ञानी जीव के आस्रवपने का अभाव है, ऐसा सिद्ध हुआ।

आगे प्रश्न करते हैं, कि ज्ञानगुण का परिणाम, बन्ध का कारण कैसे है?

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥ १७१ ॥

हीनज्ञानगुणात्कर्त्ता स परिणमते पुनः ।
तेन ज्ञानगुणोऽन्यत्वं भणितो बन्धको बुधैः ॥ १७१ ॥

भावार्थ— जैसे ज्ञान, गुण जघन्यरूप अर्थात् अन्यरूप से परिणमता है, अतः वह ज्ञानगुण कर्म बन्ध का कर्ता कहा गया है।

विशेषार्थ— यथाख्यातचारित्र से पूर्व जघन्य अर्थात् हीन अर्थात् कषायसहित ज्ञान-गुण होता है। इसलिए यह जीव जघन्य ज्ञानगुण के कारण अन्तर्मुहूर्त के पश्चात्, विकल्परहित समाधि में स्थिर नहीं हो सकता है। इस कारण से वह ज्ञानगुण फिर भी अन्य अवस्थारूप (विकल्पसहित पर्याय में) परिणमन करता है। उस विकल्पसहित कषायभाव के कारण वह ज्ञानगुण कर्मबन्ध करने वाला कहा गया है। अर्थात् यथाख्यात चारित्र ११वे १२वे गुणस्थान में होता है, उस समय विकल्परहित समाधि है। उसके पहले कषायों का उदय है। अप्रमत्त में अव्यक्त, परन्तु प्रमत्त में व्यक्त है। चौथे अविरत गुणस्थान से लेकर कषाय के उदयसहित

गुणस्थानों में ज्ञानगुण की स्थिरता कम होती है। इस से वह अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक ध्यान में व आत्मानुभव में ठहर नहीं सकता है। तत्पश्चात् उसको गिरकर विकल्पसहित अवस्था मे आना पड़ता है। तब वह ज्ञानगुणकषायो के उद्वेग के कारण अपने २ गुणस्थानो के अनुसार यथासंभव द्रव्यकर्मों का बाँधने वाला होता है। १२ वे गुणस्थान से पतन नहीं होता, परन्तु ११ वे से पतन हो जाता है। तथा श्री जयसेनाचार्य ने इस गाथा का अर्थ निम्नप्रकार किया है—

जघन्य अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान सम्बन्धी ज्ञानगुण से काल लब्धि के वश सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर वह ज्ञानगुण मिथ्यात्व अवस्था को त्यागकर दूसरे रूप अर्थात् सम्यक्ज्ञानरूप परिणमन करता है अर्थात मिथ्याज्ञानी सम्यक्ज्ञानी होजाता है। इस कारण से वह ज्ञानगुण या उस ज्ञानगुण मे परिणमन करने वाला जीव अवन्धक कहा गया है।

आगे बतलाते हैं, कि ज्ञानी आस्रवरहित कैसे हो सकता है—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥ १७२॥

दर्शनज्ञानचारित्रं हीनभावेन वर्त्तते।
बध्यते तेन ज्ञानी तु बहुपुद्गलकर्मणा ॥ १७२ ॥

भाषार्थ— जब ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान और चारित्र जघन्यभाव से परिणमन करते है। इसी कारण से वह ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों से बधता है।

विशेषार्थ— यद्यपि ज्ञानी आत्मा के रागद्वेषादि विकल्पकारणों का अभाव है। इससे उसके आस्रव नहीं होता अर्थात् वह निरास्रव ही है। किन्तु वह भी जितनी देर तक परमसमाधि की प्राप्ति के अभाव मे शुद्धात्मस्वरूप को देखने, जानने व अनुभव करने के लिए असमर्थ होता है, उतनी देर तक उस जघन्य ज्ञानी के जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र है वह जघन्यभाव से अर्थात् सकषायभाव से अनीहित वृत्ति से अर्थात् अपने कषाय करने की इच्छा न रखने हुए भी परिणमन करता है। उस कारण से ही वह भेदज्ञानी आत्मा अपने २ गुणस्थानो के अनुसार नाना प्रकार तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति को आदि लेकर पुण्य कर्मों से बन्धता है।

सारांश यह है, कि जब तक निर्विकल्प परमसमाधिभाव मे यह आत्मा ठहरता है तब तक इस से कर्मों का बन्ध नही होता। परन्तु नीचे के गुणस्थान वाले बहुत कालस्वरूप का अनुभव नही कर सकते हैं। इससे किसी के प्रगटरूप व किसी के अप्रगटरूप कषाय अंश जग उठता है। जितना २ कषायांश होता है उतना २ द्रव्यकर्मों का बन्ध नहीं होता है, ऐसा जानकर अपनी ख्याति पूजालाभ व भोगो की इच्छारूप निदानबन्ध आदि विभावरूप परिणामों को त्यागकर व निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर उस समय तक शुद्धात्मस्वरूप को देखना व श्रद्धान करना चाहिए, जानना चाहिए, तथा अनुभव करना चाहिए। जिस समय तक कि शुद्धात्मस्वरूप का परिपूर्ण केवलज्ञानरूपी भाव देखने जानने व अनुभव करने मे नही आवे।

आगे ज्ञानी निरास्रव कैसे होता है ? इस को सिद्ध करते हैं—

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया सन्ति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बंधते कम्मभावेण ॥ १७३ ॥

संती दु णिरुवभोज्जा बाला इच्छी जहेव पुरुसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इच्छी जह णरस्स ॥ १७४ ॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥ १७५ ॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥ १७६ ॥

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः सन्ति ज्ञानिनः ।
बध्नन्ति कर्मभावेन चोपयोगात्मनः सदा ॥ १७३ ॥
सन्ति निरुपभोग्या हि यथा बाला नरेण वै ।
बध्नाति चोपभोग्यानि नरश्च तरुणी यथा ॥ १७४ ॥
भूत्वा निरुपभोग्यानि भोग्यानि च भवन्ति वा ।
सप्ताष्टविधभूतानि वै ज्ञानावरणादितः ॥ १७५ ॥
गदितः कारणादस्मात् सम्यग्दृष्टिरबन्धकः ।
आस्रवेण विना तानि कर्माणि बन्धकानि न ॥ १७६ ॥

भावार्थ— सम्यग्दृष्टि के अज्ञान अवस्था में बांधे सभी मिथ्यात्वादि आस्रव सत्तारूप में मौजूद हैं, वे उपयोग के प्रयोग करने रूप जैसे हो वैसे उसके अनुसार कर्मभाव से आगामी बन्ध को प्राप्त होते हैं, और जो पूर्व बधे प्रत्यय उदय बिना आये भोगने योग्यपने से रहित होकर स्थित रहते हैं वे फिर आगामी ऐसे बंधते हैं, जैसे ज्ञानावरणादिभावों से सात, आठ प्रकार फिर भोगने योग्य होजायें। तथा वे पूर्व बंधे प्रत्ययसत्ता में ऐसे हैं, जैसे इस लोक में पुरुष से बालिका स्त्री भोगने योग्य नहीं होती। और वे ही भोगने योग्य होते हैं, तब पुरुष को बांधते है, जैसे वही बाला स्त्री जब जवान होजाय, तब पुरुष को बांध लेती है अर्थात् पुरुष उसके आधीन होजाता है, यही बांधना है। इसी कारण से सम्यग्दृष्टि अबन्धक कहा गया है। क्योंकि आस्रव भाव अर्थात् राग, द्वेष, मोह आदि का अभाव होने से मिथ्यात्वादि प्रत्ययसत्ता में होने पर भी आगामी कर्मबन्ध के करने वाले नहीं कहे गये हैं।

विशेषार्थ— सत्ता में मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव विद्यमान हैं, तो भी वे आगामी कर्मबन्ध के करने वाले नहीं हैं। क्योंकि बन्ध के करने वाले तो जीव के राग, द्वेष, मोहरूप भाव होते हैं। वे मिथ्यात्वादि, द्रव्यास्रव के आदि और रागादि भावों के कार्यकारणभाव निमित्त-नैमित्तकरूप हैं। जब मिथ्यात्वादि का उदय आता है, तब जीव का राग, द्वेष, मोहरूप जैसा भाव हो, उस भाव के अनुसार आगामी बध होता है। और जब सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब मिथ्यात्व का सत्ता में से नाश होजाता है। उस समय उसके साथ अनन्तानुबन्धी कषाय तथा उस सम्बन्धी अविरति, भी नष्ट होजाती है। तब उस सम्बन्धी जीव के राग, द्वेष, मोह भाव भी नहीं होते और उस मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी का बन्ध भी आगामी नहीं होता। तथा

मिथ्यात्व का उपशम होता है वह सत्ता में ही रहता है तब सत्ता का द्रव्य उदय के बिना बन्ध का कारण ही नहीं है। और जब तक अविरत सम्यग्दृष्टि आदिक गुणस्थानों की परिपाटी में चारित्रमोह के उदय सम्बन्धी बन्ध कहा गया है। वह संसार सामान्य की अपेक्षा से यहाँ बन्ध में गिना नहीं है। क्योंकि ज्ञानी, अज्ञानी का भेद है। जब तक कर्मोदय में कर्म का स्वामीपना रखके परिणमता है तब तक ही कर्म का कर्त्ता कहा गया है। परके निमित्त से परिणमे, उसका ज्ञाता द्रष्टा हो तब ज्ञानी ही है, कर्त्ता नहीं है। इस तरह अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि हुए बाद चारित्र-मोह का उदयरूप परिणाम होने पर भी ज्ञानी हो गया है। जब तक मिथ्यात्व का उदय है, तब तक उस सम्बन्धी राग, द्वेष, मोह भावरूप परिणमने से अज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी अज्ञानी का विशेष भेद जानना चाहिए। इस तरह बन्ध और अबन्ध की विशेषता है। और शुद्ध-स्वरूप में लीन रहने के अभ्यास से साक्षात् सम्पूर्णज्ञानी केवलज्ञान प्रकट होने से होता है। तब सर्वथा निरास्रव होजाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कलश में कहते हैं कि—

विजहति नहि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा - दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के गाढ़श्रद्धान व रुचि अपनी आत्मसम्पदा ही से है। उसी को अपना सर्वस्व जानता है। उसी आत्मिक आनन्दामृत में मग्न है, जिस में परमात्मा मग्न है। इस लिए वह सदा मोक्षरूप है बन्धक नहीं है। ऐसा कहना ही ठीक है। वह तो सर्वकर्म के उदय से व कर्मोदयजनित विभावों से अपने को मुक्त ही अनुभव करता है। भोगों को भोगता हुआ भी कर्म की निर्जरा करता है। क्योंकि भीतर से वह अत्यन्त उदासीन है। इसलिए उसको निरास्रव ही कहना उचित है। मिथ्यात्वसम्बन्धी रागद्वेषपरिणामों का उसके बिल्कुल अभाव है। जो कुछ चारित्रमोह का क्षय है वह सब क्षय की तरफ जा रहा है। यह उस ज्ञानी के आत्मानुभव का माहात्म्य है। अल्पबन्ध, अनन्तबन्ध के सामने नहीं के समान है। अनन्तबन्ध मिथ्यात्व से होता था सो अब नहीं रहा है। संसाररूपी वृक्ष की जड कट गई है। ऐसी अवस्था में यदि कुछ पानी की तरी वृक्ष पर पड़े भी, तो वह सूख ही जावेगा। इसी तरह जो कुछ अल्पबन्ध होगा भी, वह शीघ्र ही सूख जायेगा।

आगे इसी अर्थ का समर्थन करते हैं—

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति॥ १७७॥
हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति॥ १७८॥

रागद्वेषविमोहाश्च भावास्रवा न सन्ति वै।
विनास्रवेण बुद्धस्य प्रत्ययास्तु भवन्ति न॥ १७७॥
हेतुश्चतुर्विकल्पोऽस्ति त्वष्टविधस्य कारणम्।
अभावाच्चैव रागादेः कर्मणा बध्यते न चित्॥ १७८॥

भावार्थ— राग, द्वेष और मोह ये आस्रव सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं । इसलिए आस्रवभाव के बिना द्रव्यप्रत्यय, कर्मबन्ध का कारण नहीं है । मिथ्यात्वादि चार प्रकार का हेतु आठ प्रकार के कर्मबंधने का कारण कहा गया है, और उन चार प्रकार के हेतुओं के भी, जीव के रागादिक भाव कारण हैं । अतः सम्यग्दृष्टि के उन रागादिकभावों का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं है ।

विशेषार्थ— सम्यग्दृष्टि जीव के राग, द्वेष, मोह, आस्रवभाव नहीं होते हैं । क्योंकि अन्यथा सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अर्थात् जिसके राग, द्वेष, मोह हैं उसके मिथ्याभाव हैं, सम्यक्त्वभाव नहीं । इसका विस्तार यह है, कि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभ और मिथ्यात्व के उदय से पैदा होने वाले जो राग, द्वेष, मोह हैं, वे सम्यग्दृष्टि के नहीं होते । क्योंकि केवलज्ञानादि अनन्तगुणों का धारी जो परमात्मा है, वही उपादेय है । उसको उपादेय मानने वाले सम्यग्दृष्टि के वीतराग सर्वज्ञ भगवान् के कहे हुए छः द्रव्य पचास्तिकाय सात तत्व, नव पदार्थों की रुचि होती है । तथा तीन मूढ़ता, आठ मद, आठ दोष व छः अनायतन ऐसे २५ दोष नही होते । तथा धर्म से प्रेम, संसार शरीर भोगों से वैराग्य अपनी निन्दा, अपनी गर्हा, शान्तभाव, जिनेन्द्र में भक्ति, धर्मात्माओ से वात्सल्यभाव तथा जीवदया ये आठ गुण सम्यग्दृष्टि के होते हैं । जब तक इतनी सामग्री नहीं होगी, तब तक चौथा गुण स्थानवर्त्ती जो व्यवहारसम्यक्त्व है, उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती अर्थात् जिसके २५ दोषरहित व आठ लक्षणसहित सप्ततत्वरुचि व आत्मप्रतीति होती है, उसी के ही अविरत सम्यग्दर्शन सम्भव है ।

इसी तरह जो पचमगुणस्थानवर्त्ती सरागसम्यग्दृष्टि है, उसके अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कषायो के उदय से उत्पन्न, जो राग, द्वेप, मोह हैं वे नहीं होते । क्योंकि उस सम्यग्दृष्टि के यह श्रद्धान है, कि विकाररहित परमानन्दमयी एक सुख लक्षण को रखने वाला परमात्मा ही उपादेय ग्रहण करने मनन करने, ध्यान करने व आराधने योग्य है । तथा उसे भी छः द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्व, नवपदार्थों की रुचि होती है व तीन मूढता को आदि लेकर २५ दोष नही होते तथा उसी के अनुकूल उसके यह लक्षण भी प्रकट होते हैं, कि उसमें प्रशम अर्थात् शान्ति, संवेग अर्थात् धर्म से प्रेम व संसार में वैराग्य अनुकम्पा अर्थात् जीवदया तथा सत्यार्थदेव व धर्मादि में आस्तिकता अर्थात् नास्तिकता का अभाव हो । जब यह लक्षण होते हैं, तब ही उसके पंचम गुणस्थान के योग्य देशचारित्र के साथ अवश्य होने वाला अविनाभावी सराग सम्यक्त्व हो सकता है, अन्यथा नहीं । अथवा छठे गुणस्थानवर्त्ती प्रमत्तमुनि के अनन्तानुबन्धी. अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से उत्पन्न राग, द्वेष, मोह नहीं होते हैं । क्योकि उस मुनि के यह रुचि है, कि चिदानन्दमयी एक स्वभावरूप शुद्धात्मा ही उपादेय, मनन करने योग्य, ध्यान करने योग्य व आराधने योग्य है । तथा उस मुनि के छः द्रव्य, पचास्तिकाय, सप्ततत्व, नवपदार्थों की रुचि होती है व उसके २५ दोष नहीं होते और उसी के अनुकूल प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व देवधर्मादि के विषय में आस्तिकता ये चार लक्षण प्रकट होते हैं ? जब तक यह लक्षण नहीं होते तब तक उसके छठे गुणस्थान सम्बन्धी सरागचारित्र के साथ अविनाभावी अवश्य होने वाला सराग सम्यक्त्व नहीं हो सकता । अथवा अप्रमत्तमुनि के अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के तीव्रोदय से उत्पन्न तथा प्रमाद से होने वाले राग, द्वेष, मोह नहीं होते । इसका हेतु यह है, कि उसके यह श्रद्धान है कि शुद्ध बुद्ध परमात्मा उपादेय है । इसी से उसके योग्य अपनी

ही शुद्धात्मा की समाधि से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्दमयी एक लक्षण को रखने वाली सुख की अनुभूति होती है। उसी स्वरूप अप्रमत्तादिगुणस्थानो में वीतराग चारित्र के साथ अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व होता है।

उक्तं च—

आद्याः सम्यक्त्वचारित्रे द्वितीया घ्नंत्यणुव्रतम्।
तृतीयाः संयमं तुर्या यथाख्यातं क्रुधादयः॥

अर्थात्— आदि के अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक कषाय, इस आत्मा के सम्यग्दर्शन और चारित्र गुण के घातक हैं। अप्रत्याख्यानावरणीय श्रावक के अणुव्रतों को प्रत्याख्यावरणीय मुनि के महाव्रतरूप संयम को, तथा संज्वलन यथाख्यात चारित्र को घातते हैं। ज्यों २ गुणस्थान चढ़ता जाता है त्यों २ राग, द्वेष, मोह घटते जाते हैं। इसलिए रागादिरूप भावास्रवों के बिना केवल पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म, अस्तित्वस्वरूप रहें या उदयरूप रहे, कर्मबन्ध के कारण नहीं होते हैं।

आगे इसी को दृष्टान्त द्वारा पुष्ट करते हैं—

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो॥ १७६॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा॥ १८०॥

पुरुषेण यथाऽऽहारो गृहीतो याति नैकधा।
स चोदराग्निसंयुक्तः मांसवसादिना मतः॥ १७९॥
अबुद्धस्यैव बध्नन्ति पूर्वबद्धा विकल्पजाः।
ये शुद्धनयहीनास्तु कर्म बध्नन्ति ते ध्रुवम्॥ १८०॥

भावार्थ— जैसे पुरुष से ग्रहण किया आहार उदराग्नियुक्त हुआ अनेक प्रकार से मांस, रस, रुधिरादिभावरूप परिणमता है। उसी तरह अज्ञानी के पूर्व बंधे जो द्रव्यास्रव, वे बहुत भेदो को लिए कर्मों को बांधते हैं। वे जीव शुद्धनय से छूट कर रागादि अवस्था को प्राप्त हुए हैं।

विशेषार्थ— जैसे पुरुष के द्वारा लिया हुआ भोजन, उदराग्नि का संयोग पाकर अनेक प्रकार मांस, चरबी, रुधिरादि अवस्थारूप परिणमन करता है, वैसे ही अज्ञानी जीव के जो मिथ्यादर्शनादि द्रव्यकर्म पूर्वकाल मे बंधे हुए हैं वे द्रव्यकर्म उदय मे आकर जीव सम्बन्धी रागादि परिणामरूप उदराग्नि का सम्बन्ध पाकर नाना प्रकार ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों को बांधते हैं। जिन जीवो के ऐसे कर्म बंधते हैं वे जीव परमसमाधि - लक्षण को रखने वाले भेदज्ञानरूप शुद्धनय से भ्रष्ट हैं।

सारांश यह है, कि पूर्व मे बंधे हुए द्रव्यकर्म जब उदय मे आते है उस समय यदि यह जीव, रागी, द्वेषी होता है तो नवीनकर्मबंध करता है अन्यथा नहीं। अर्थात् अपना शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य है। विवेकी, ज्ञानी पुरुषो द्वारा सर्वकर्मों के नाश करने में समर्थ

जो शुद्धनय है उसे नहीं त्यागना चाहिए। शुद्धनय का विषय शुद्धात्मा है। अतएव उसमें उपर्युक्त जीव, कर्मों को न बांधकर पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करता है।

कायवाग्मनसां कर्म स्मृतो योगः स आस्रवः।
शुभः पुण्यस्य विज्ञेयो विपरीतश्च पाप्मनः॥

सारांश— अर्थात् जब तक जीव, जड़ पुद्‌गल मिश्रित है तब तक उसे सदा ही कर्मों का या पुद्‌गलों का नवीन २ बंधन प्राप्त होता है। जिस पुद्‌गल का स्वभाव ऐसा है, कि क्षण भर के लिए भी वह स्थिर नहीं रहता। कुछ न कुछ परमाणु उसमें से प्रति समय निकलते हैं। और कुछ आकर मिलते भी हैं। इन पुद्‌गलो में जीव फंस रहा है। इसलिए पुद्‌गलों के बदलने के साथ २ वह भी स्वस्थ होकर नहीं रह पाता। कुछ न कुछ उसके प्रदेशों में चंचलता होती ही रहती है। बस इसी चंचलता को योग कहते हैं। विशेष प्रयोजन दिखाने की अपेक्षा से "आस्रव" यह नाम भी है।

जीव तथा शरीर पृथक् नहीं रहते। इसलिए जीव की चंचलता कहने का और शरीर की चंचलता कहने का एक अर्थ होता है। क्योंकि चंचलता न केवल शरीर में ही होती है और न केवल जीव में ही, केवल शरीर में हो तो मृतशरीर में भी होनी चाहिए। यदि केवल जीव में हो तो मुक्त होने पर भी चंचलता चलनी चाहिए। इस चंचलता के द्वारा कुछ न कुछ पुद्‌गल सदा आते रहते हैं और जीव को पूर्ववत् बद्ध करते रहते हैं। साधारण दृष्टि से देखें तो शरीर के किसी भी आंगोपांग के हलने से जो योग माना जाता है वह एक शरीर योग ही कहा जाना चाहिए। परन्तु इतर शरीर चंचलता की अपेक्षा मन तथा वचन को क्रिया कुछ विचित्र दीख पड़ती है। अतः शरीर, मन, वचन ये तीन भेद अलग अलग कर दिये गये हैं। मन की चचलता मे विचार होना एक विशेषता है। वचन में मन की विशेषता तो नहीं है, परन्तु यह विशेषता है, कि कंठादि स्थानो के प्रयत्न से पास के कुछ सूक्ष्म पुद्‌गलों में ध्वनि उत्पन्न होजाती है। वह ध्वनि उच्छ्‌वासवायु के आघात से मुख के बाहर निकलती हुई सर्व दिशाओं में फैलने लगती है। उच्छ्‌वास का जैसा वेग हो, वैसी ही दूर तक वह ध्वनि पहुँचती है। इसी को वचन कहते हैं। यद्यपि वचन स्वयं शरीर नहीं है तो भी वचनोत्पत्ति के समय शरीर में क्रिया अवश्य होती है। इसलिए मन की तरह वचन के योग को भी शरीर के योग में गर्भित कर सकते हैं। परन्तु शरीर की क्रियाओं में व मन, वचन की क्रियाओं मे उक्त विशेषता दीख पड़ती है। इसलिए दोनों को शरीर से पृथक् मानकर योग के तीन भेद कर दिये गये हैं।

इन दोनों की चचलता के स्वरूप से शरीर की चंचलता पृथक् ही दीख पड़ती है। उसका न तो मन का सा विचार होना ही कार्य है और न ध्वनि उत्पन्न करना ही कार्य है। यद्यपि शरीर के आघात से भी ध्वनि हो सकती है, परन्तु उसे वचन नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार जीव मे चचलता उत्पन्न होने के तीन कारण हुए। तीन कारणो की अपेक्षा से योग के भी मनोयोग, वचनयोग और काययोग ये तीन नाम रक्खे गये हैं।

धर्म या पुण्य के कार्यों में इनकी जब प्रवृत्ति होती है, तब तीनो योगों को शुभ कहते हैं। और जब ये पाप कार्यों में लगते हैं, तब इन्हें अशुभ योग कहते हैं। अर्थात् शुभेच्छा होने पर उत्पन्न हुआ जो योग व शुभयोग कहलाता है और अशुभेच्छा से जो हो वह अशुभयोग है।

तत्त्वार्थसार में कहा है कि—

सरसः सलिलावाहि द्वारमत्र जनैर्यथा
तदास्रवणहेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते।
आत्मनोपि तथैवैषा जिनैर्योगप्रणालिका
कर्मास्रवस्य हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ॥

(४।३)

अर्थात् बहकर आने वाले को आस्रव कहते हैं और बहकर आने का कारण भी आस्रव कहाता है। प्रथम को द्रव्यास्रव कहते हैं, और द्वितीय को भावास्रव कहते हैं। बहकर आने वाला पदार्थ द्रव्य होता इसलिए द्रव्यास्रव नाम सार्थक है। कर्मबन्धन के प्रकरण मे कर्म का संग्रह करने वाला जो आत्मीय परिणाम होता है वह गुणपर्यायात्मकहोता है। इसलिए उसे भावास्रव कहते है। बन्धनयोग्य द्रव्यकर्म जिस कारण से बन्धन की अवस्था मे आकर प्राप्त हो, उसे आस्रव कहते हैं। यह लक्षण द्रव्यास्रव व भावास्रव दोनो मे ही चरितार्थ होता है।

सरोवर के भीतर पानी आने की जो मोरी होती है, उनमे होकर पानी भीतर बह आता है, इसीलिए उन्हे आस्रव कहते है। इसी प्रकार योगरूपी नली भी आत्मा के भीतर कर्मयोग्य परमाणुपिण्ड को बहाकर लाती है इसीलिए योगनली को जिनेन्द्र ने आस्रव कहा है। क्योंकि पानी बह आने के लिए मोरी जिस प्रकार कारण है उसी प्रकार योग भी कार्माणस्कन्धो को कर्मपर्याय बनाने के लिए कारण है। प्रत्येक आत्मा के साथ या भीतर कर्मपर्याय होने योग्य बहुत से पुद्गलपिंड सचित रहते है। उन्ही मे से कुछ एक योगवशात् कर्मरूप होते रहते है। इसीलिए बहकर आने वाला जलका दृष्टान्त, कर्म के आने मे तुलना नही रखता। ऐसी तुलना तभी हो सकती है, जब कि बाहर से कर्म भीतर आते हो।

यदि ऐसा है तो योग को आस्रव क्यो कहा जाता है ?

उत्तर— द्वार तथा आस्रव शब्द का जो अर्थ लोग मानते हैं, वह कारण समझकर मानते है और कारणार्थ योगों मे भी दीख पड़ता है। इसलिए योगों को कर्मद्वार तथा आस्रव कहने की रूढि चल रही है। अर्थात् कारणमात्र की अपेक्षा से यहा तुलना है और आस्रव शब्द का प्रयोग उपचार से किया गया है।

जन्तवः सकषाया ये कर्म ते सांपरायिकम्।
अर्जयन्त्युपशान्ताद्या ईर्यापथमथापरे ॥

अर्थात् जिन जीवो मे क्रोधादि कषाय होते है, वे सापरायिक कर्मबन्ध करते हैं। जिनके कषाय उपशान्त या क्षीण होगये हो, वे ईर्यापथ कर्म का (कषाय रहित योग द्वारा कर्माश्रव) ही संग्रह करते हैं। सपराय का अर्थ ससार है। ससार की अथवा अशुद्धता की उत्पत्ति करने वाला कर्म सापरायिक कहा जाता है। सकषाय जीवों मे जो कर्म इकट्ठे होते हैं, वे कषाय के सामर्थ्य से जीव प्रदेशो मे ऐसे बद्ध होजाते हैं, कि कुछ काल पर्यन्त उसी पर्याय मे टिक सकें। इसलिये उन मे जीव को संसारी बनाकर रखने की योग्यता मानी जाती है। उन कर्मों को सांपरायिक कर्म कहते हैं। जिन जीवो की कषाय, उपशान्त या क्षीण होगई हो, उनके भीतर भी योग जब तक नष्ट नही हो पाता तब तक कर्मों का संग्रह होता ही है। क्योकि कर्म प्रदेशों को संग्रह करने का काम योग का है। परन्तु केवल योग के द्वारा संगृहीत हुए कर्मों मे टिकने की सामर्थ्य उत्पन्न नही होती और न ज्ञानावरणादि घातक शक्तियाँ व्यक्त होती है। इसलिए

वे कर्म जिस २ समय मे आते हैं उसी २ समय में निकल भी जाते हैं। एवं उन कर्मों में आठ या एक सौ अड़तालीस भेद भी उत्पन्न नहीं होते किन्तु केवल एक प्रकार रहता है। जिसे कि सद्वेद्य या सातावेदनीय कहते हैं।

इति आस्रवाधिकारः ॥ ४ ॥

अथ संवराधिकारः (५)

आगे संवर के प्रवेश के आदि में ही सर्वकर्मों के संवर होने का उत्कृष्ट उपाय जो भेद-विज्ञान है, उस का वर्णन करते हैं—

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥ १८१ ॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥ १८२ ॥
एयं दु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥ १८३ ॥

आत्मन्येवोपयोगो वै नोपयोगः क्रुधादिषु।
कषायेषु कषायश्च न कषायस्तथात्मनि ॥ १८१ ॥
नोकर्मण्योपयोगो न नोपयोगोष्टकर्मणि।
उपयोगेऽपि नोकर्म यथा कर्मणि नैव चित् ॥ १८२ ॥
ज्ञानं भवति जीवस्य शुद्धबुद्धात्मनो यदा।
तदा करोति नैवात्मा चोपयोगादिकल्पनाम् ॥ १८३ ॥

भावार्थ— आत्मा मे आत्मा है, क्रोधादि कषायो में आत्मा नहीं है। और निश्चयकर क्रोध मे ही क्रोध है, आत्मा में क्रोध नही है। आठ प्रकार के ज्ञानावरणादिकर्मों मे तथा शरीरादि नोकर्मों में भी आत्मा नहीं है। और आत्मा मे कर्म तथा नोकर्म भी नही हैं। जिस काल मे ऐसा सत्यार्थ ज्ञान जीव को होजाता है, उस समय वह केवल उपयोगस्वरूप शुद्धात्मोपयोग के बिना अन्य कुछ भी भाव नहीं करता।

विशेषार्थ— उपयोग तो चैतन्य का परिणमन है, वह ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादिक भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म, ये सब पुद्गलद्रव्य के ही परिणाम हैं, तथा वे जड़ हैं। इनका और ज्ञान का अत्यन्त भेद है। इस कारण उपयोग मे तो क्रोधादिक कर्म नोकर्म नहीं हैं और क्रोधादिक कर्म, व नोकर्म में उपयोग नहीं है। इस तरह इनमे परमार्थस्वरूप आधाराधेयभाव नहीं है। अपना २ आधाराधेयभाव अपने अपने में है। इस प्रकार इन मे परस्पर परमार्थ से अत्यन्त भेद है। तथा आत्मा और पुद्गल के भेदज्ञान को भेदविज्ञान कहते हैं। यह भेदविज्ञान ही सवर का एकमात्र कारण है।

संवरः— संवरतत्व भी दो प्रकार का है– एक भावसवर और दूसरा द्रव्यसंवर।

भावसंवर—

त्यागो भावास्रवाणां जिनवर गदितः संवरो भावसंज्ञो
भेदज्ञानाच्च स स्यात्स्वसमयवपुषस्तारतम्यः कथंचित् ।
सा शुद्धात्मोपलब्धिः स्वसमय वपुषो निर्जरा भावसंज्ञा
नाम्ना भेदोऽनयोः स्यात्करणविगतः कार्यनाशप्रसिद्धेः ॥

(जम्बू स्वामी चरित)

अर्थात्— भावास्रव के रुकजाने को जिनेन्द्रदेव ने भावसंवर कहा है, यह भावसंवर आत्मा तथा शरीर के भेदज्ञान (आत्मा अलग है शरीर अलग है) इस प्रकार के ज्ञान से तारतम्य कमती बढ़ती रूप में होता है ।

द्रव्यसंवर—

यः कर्मपुद्गलादानविच्छेदः स्यात्तपस्विनः ।
स द्रव्यसवरः प्रोक्तो ध्याननिर्धूतकल्मषैः ॥

अर्थात्— ध्यान से पापो को उड़ाने वाले ऋषियो ने कहा है, कि जो तपस्वी मुनियों को कर्मरूप पुद्गलों के ग्रहण करने का विच्छेद (निरोध) हो वह द्रव्यसंवर है ।

आगे भेदविज्ञान से आत्मा की प्राप्ति कैसे होती है, यह बताते हैं—

जह कणयमग्गितवियंपि कणयहावं ण तं परिच्चयइ ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥ १८४ ॥
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥ १८५ ॥

स्वर्णः कनकभावं न सुतप्तमपि मुञ्चति ।
कर्मोदयात्सुतप्तोऽपि ज्ञानी ज्ञानं जहाति न ॥ १८४ ॥
ज्ञानी ज्ञानं विजानाति चाज्ञः स्वं रागमेवहि ।
अज्ञानतिमरान्धो यो न जानाति निजं परम् ॥ १८५ ॥

भावार्थ— जैसे सुवर्ण अग्नि से तप्त हुआ भी अपने सुवर्णपने को नहीं छोड़ता, उसी तरह ज्ञानी कर्मों के उदय मे तपायमान हुआ भी ज्ञानी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता । इस तरह ज्ञानी केवल ज्ञातामात्र ही रहता है । और अज्ञानी राग को ही आत्मा जानता है । क्योंकि वह अज्ञानी अज्ञानरूपांधकार से व्याप्त है, इसलिए आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता हुआ प्रवृत्त होता है ।

विशेषार्थ— जैसे युधिष्ठर, भीमसेन और अर्जुन ने ध्यान में अपनी तल्लीनता ऐसी रक्खी, कि उससे चलायमान न हुए और परमधाम के अधिकारी हुए । इसी तरह जो आत्मज्ञानी अनुभवी दृढ़ महात्मा हैं, वे अनेक कर्मों के उदय से होने वाले उपसर्गों के पड़ने पर भी अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होते । जैसे सुवर्ण को कितना भी गर्म किया जाय, तो भी वह अपने

स्वभाव को नहीं त्यागता। उसी तरह ज्ञानी जीव अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। यह आत्मज्ञानी की ही महिमा है। किन्तु अज्ञानी को अपने आत्मा के वास्तविक स्वरूप का तथा रागादिभावों का व शरीरादिकों का भिन्न २ ज्ञान नहीं है, इस से वह शुभराग व अशुभरागरूप ही रहता है। और तदनुरूप ही अपने आत्मा को मानता है। इस से भिन्न किसी शुद्ध, बुद्ध ज्ञानस्वभाव आत्मा का अनुभव नहीं करता। इस से संसार का नाश नहीं कर सकता। जबकि भेदज्ञानी परभावों से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव करता हुआ कर्मकलंकों से मुक्त होता है।

शुद्धात्मा की सम्प्राप्ति से संवर कैसे होता है, यह बताते हैं—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणन्तो दु असुद्धं असुद्धमेवाप्पयं लहइ ॥ १८६ ॥

शुद्धं वेत्ति य आत्मान स शुद्धं लभतेऽचिरात्।
वेत्ति यो मलिन स तु मलिन लभते ध्रुवम् ॥ १८६ ॥

भावार्थ— शुद्धात्मा को जानने वाला ज्ञानी, शुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है। और अशुद्धात्मा का जानने वाला अज्ञानी, अशुद्धात्मा को ही पाता है।

विशेषार्थ— ज्ञानी जीव, भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि इन तीन प्रकार के कर्मों से रहित अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि गुणस्वरूप शुद्धात्मा को विकार रहित सुख का अनुभव लक्षणमय भेदज्ञान के प्रताप से जानता हुआ व अनुभव करता हुआ शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है, क्योंकि जैसे गुणों से विशिष्ट शुद्धात्मा का जो कोई ध्याता है व उसकी भावना करता है, वह जीव उसी प्रकार उतने गुण-विशिष्ट शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। इसका कारण यह है, कि जैसा उपादान कारण होता है वैसा ही उसका कार्य होता है, यह नियम है। परन्तु अज्ञानी जीव मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादि भावरूप परिणमने वाले आत्मा का अनुभव करते हुए अशुद्ध अर्थात् मनुष्य व नरकादिरूप आत्माज्ञान को ही प्राप्त करता है।

"तत्वज्ञानतरङ्गिणी" मे आचार्य बताते हैं कि—

शुद्धस्य चित्स्वरूपस्य शुद्धोऽन्योन्यः स चिन्तनात्।
लौहं लोहाद्भवेत्पात्रं सौवर्णं च सुवर्णतः ॥

अर्थात— जैसे लोहे से लोहे का व सुवर्ण से सुवर्ण का पात्र बनता है वैसे ही शुद्धात्म-स्वरूप के चिन्तवन से यह जीव शुद्ध होता है। और अशुद्ध चिन्तन से अशुद्ध ही रहता है।

यहाँ श्री अमृतचन्द्राचार्य कलश कहते हैं—

यदि कथमपि धारा वाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्मा राममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥

अर्थात् आत्मा व अनात्मा के भिन्न २ स्वभावो को निरन्तर अभ्यास करने वाले को सम्यग्दर्शन होजाता है। अतः उसका क्रीडास्थल स्वात्माराम ही बन जाता है। पुनः सांसारिक भोगविलासो को त्यागकर मोक्षपद को प्राप्तकर परमामृतरूप आनन्द का स्वाद लेता है।

वह संवर किस प्रकार होता है, यह बताते है—

अप्पाणमप्पणा रुन्धिऊण दो पुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि ॥ १८७ ॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥ १८८ ॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कम् ॥ १८९ ॥

आत्मानमात्मनारुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयोः।
उपयोगेस्थितो यः स परेषु नैव रज्जति ॥ १८७ ॥
यः सर्वसंगमुक्तः स ध्यायत्यात्मानमात्मना।
नापि कर्म च नोकर्म, एकत्वं चिन्तयत्यतः ॥ १८८ ॥
उपयोगमयो भूत्वा तथाऽनन्यमनापि च।
लभते शुद्धमात्मानं विप्रमुक्तश्च कर्मणः ॥ १८९ ॥

भावार्थ— जो जीव अपनी आत्मा को अपने दो पुण्यपापरूप शुभाशुभ योगों से रोककर दर्शनज्ञान में ठहरा हुआ अन्य वस्तु मे इच्छा रहित और सर्व परिग्रह से रहित हुआ, आत्मा से ही आत्मा को ध्याता है तथा कर्म, नोकर्म को नही ध्याता और आप चेतनारूप होने से उस स्वरूप एकपने को अनुभव मे लाता है, विचारता है वह जीव, दर्शनज्ञानमय हुआ थोड़े समय मे ही कर्मों से रहित हो, आत्मा को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ— जो जीव, प्रथम तो राग, द्वेष मोहादि से संयुक्त, शुभाशुभ मन, वचन, काय के योगों से अपनी आत्मा को भेदविज्ञान के द्वारा चलने न दे, पुनः शुद्धदर्शन ज्ञानमय अपने स्वरूप मे आत्मा निश्चल करे और फिर सब बाह्याभ्यन्तर के परिग्रहों से रहित होकर कर्म, नोकर्म से भिन्न अपने स्वरूप में एकाग्र होकर शुद्धात्मा का ध्यान करता हुआ निश्चल होता है, वह थोड़े समय मे ही सब कर्मों का नाश करता है। यह संवर होने का प्रकार है।

आगे संवर का क्रम बताते है—

तेसिं हेऊ भणिया अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं।
मिच्छंतं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥ १९० ॥
हेउअभावे णियमा जायइ णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायइ कम्मस्स वि णिरोहो ॥ १९१ ॥

कम्मस्सा भावेण य णोकम्मं पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होई ॥ १६२ ॥

तेषां हेतवो भणिताः रागद्वेषादयो जिनैः ।
मोहाव्रतयोगाश्च मूढभावास्तथात्मनः ॥ १९० ॥
जायते कारणाभावात् निरोधश्चास्रवस्य वै ।
आस्रवेण विना, रोधः जायते कर्मणोऽपि च ॥ १९१ ॥
रोधोनोकर्मणां नूनमभावेन च कर्मणः ।
नोकर्मणश्च रोधेन भवति भवरोधनम् ॥ १९२ ॥

अर्थ— राग, द्वेष, मोहरूप आस्रवों के हेतु सर्वज्ञदेव ने मिथ्यात्व अज्ञान, अविरत-भाव और योग ये चार अध्यवसान कहे हैं। सो ज्ञानी के इन हेतुओं का अभाव होने से नियम से आस्रव का निरोध होता है। और आस्रव के न होने से कर्म का भी निरोध होता है और कर्म के अभाव से नोकर्म का भी निरोध होता है तथा नोकर्म के निरोध होने से संसार का निरोध होता है।

विशेषार्थ— जीव के जब तक आत्मा और कर्म के एकपने का आशय है भेदविज्ञान नहीं है, तब तक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरत, योगरूप, अध्यवसान, विद्यमान हैं उन से राग, द्वेष मोहरूप आस्रवभाव होता है। आस्रवभाव से कर्म बंधते हैं। कर्म से शरीरादिक नोकर्म प्रकट होते हैं। और नोकर्म से संसार है। परन्तु जिस समय आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान होजाता है तब शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। और उसके होने से मिथ्यात्वादि अध्यवसान का अभाव होता है। अध्यवसान का अभाव होने से राग, द्वेष, मोहरूप आस्रव का अभाव होता है। तथा आस्रव के अभाव से कर्म नहीं बंधता, कर्म के अभाव से नोकर्म प्रकट नहीं होता और नोकर्म के अभाव से ससार का अभाव होता है। ऐसा संवर का अनुक्रम होता है।

सारांश— समयसार कलश मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने नवरतत्व का वर्णन निम्न-प्रकार से किया है—

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥

अर्थात्— शुद्धात्मानुभव से वीतरागता होती है और तभी कर्मों का आस्रव रुकना है। परन्तु इस शुद्धात्मानुभव का उपाय निरन्तर यही अभ्यास करना है, कि मैं भिन्न हूं, व रागादि सब मुझ से भिन्न हैं। यह विचार भी विकल्प है, छोड़ने लायक है, तो भी जहा तक स्वानुभव न हो वहां तक आलम्बनरूप है। तथा च—

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥

अर्थात् सम्यक्त्व होने के लिए भी भेदविज्ञान का अभ्यास करना आवश्यक है। जिससे

शीघ्र ही शुद्धात्मा का लाभ होजावे। सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद इस भेदविज्ञान को छोड़ नहीं देना चाहिए। जहां तक मोक्षप्राप्ति न हो वहां तक यह भेदविज्ञान उपयोगी है।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

अर्थात्— भेदविज्ञान के द्वारा जिन्होंने शुद्धात्मस्वरुप का अनुभव किया है, वे ही कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध हुए हैं। अतः मोक्षमार्ग का एकमात्र कारण स्वानुभव ही है। अन्य नहीं, और उसी भेदविज्ञान के अभाव से जितने बद्ध हैं वे बंधे हैं।

इति संवराधिकारः ॥ ५ ॥

अथ निर्जराधिकारः (६)

अब निर्जरा का स्वरूप बताते हैं—

उवभोगमिंदिएहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जंकुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ १९३ ॥

जड़चेतनतत्वानामुपभोगं करोति खैः।
सम्यग्दृष्टिश्च तत्सर्वं निर्जराकारणं भवेत् ॥ १९३ ॥

भावार्थ— सम्यग्दृष्टि जीव, जो इन्द्रियों द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है, वे भोग भी सब निर्जरा के कारण है।

विशेषार्थ— सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा गया है और ज्ञानी के राग, द्वेष, मोह का अभाव कहा है। इसलिए विरागी के जो इन्द्रियों द्वारा भोग होता है उस भोग की सामग्री को यह सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है, कि ये परद्रव्य है। मेरा और इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है, परन्तु कर्मोदय के निमित्त से इनका मेरा संयोग-वियोग है। वह चारित्रमोह की उदय जनित पीडा है वह बलहीन होने से जब तक सही नहीं जाती, तब तक रोगी की तरह (जैसे रोगी रोग को अच्छा नहीं समझता परन्तु पीडा नहीं सही जाने के कारण इलाज कराता है)। उसी तरह विषयरूप भोगोपभोग सामग्री से इलाज करता है। परन्तु कर्म के तथा भोगोपभोग सामग्री से राग, द्वेष, मोह नहीं है। इसलिए सम्यग्दृष्टि इस तरह विरागी है अतः इसके भोगोपभोग, निर्जरा के ही कारण हैं।

कर्म उदय मे आता है और वह अपना रस देकर झड जाता है। उदय आने के बाद द्रव्यकर्म की सत्ता नही रहती, निर्जरा ही होती है। सम्यग्दृष्टि के उस कर्मोदय से राग, द्वेष, मोह नहीं है उदय मे आये हुए को जानता है और उसके फल को भी भोगता है, वह राग, द्वेष, मोह के बिना भोगता है। इसलिए कर्मका आस्रव नहीं होता आस्रव के बिना उस विरागी सम्यग्दृष्टि के आगामी बंध नहीं होता। और जब आगामी बंध नहीं हुआ, तब केवल निर्जरा ही है इस कारण सम्यग्दृष्टि विरागी का भोगोपभोग, निर्जरा का ही कारण कहा गया है। तथा पूर्वकर्मों का द्रव्य उदय आकर झड जाना वही द्रव्यनिर्जरा है।

निर्जरातत्व— यह निर्जरातत्व भी भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा के भेद से दो प्रकार का है।

भावनिर्जरा—

आत्मनः शुद्धभावेन गलत्येतत्पुराकृतम्।
वेगाद्भुक्तरसं कर्म सा भवेद्भावनिर्जरा ॥

(जम्बू स्वामी चरित)

अर्थात्— अपने आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान होने से पूर्व संचित रागद्वेषादि-नाश तथा जो शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है, वह भावनिर्जरा है।

द्रव्यनिर्जरा:—

शुद्धादुपयोगादिह निश्चयतपसश्च संयमा देवी ।
गलति पुराबद्धं किल कर्मैषा द्रव्यनिर्जरा गदिता ॥

अर्थ— समय पाकर या तपस्या आदि के द्वारा जो कर्मपुद्गलनाश को प्राप्त होते हैं, वह द्रव्यनिर्जरा है। यह द्रव्यनिर्जरा, भावनिर्जरा की तरह सविपाक और अविपाक दो तरह की होती है।

सविपाकनिर्जरा— कर्म की स्थिति पूरी होने पर फल देकर जो कर्मपुद्गल झड़ते हैं, वह सविपाक निर्जरा है।

अविपाकनिर्जरा— स्थिति पूरी किये बिना ही तपस्या आदि प्रयत्नो द्वारा जो कर्मपुद्गल उदय मे आकर नष्ट होते हैं. वह अविपाकनिर्जरा है।

सारांश यह है, कि जिस प्रकार घी, तैलादि चिकने पदार्थों का लेप करना छोड़ देने पर पहले की लगी हुई धूलि दूर हो जाती है और नई धूलि नही लगती, उसी प्रकार आत्मा के व्रत, समिति, गुप्ति, धर्मानुप्रेक्षा, परिषहजय और तप इन शुद्धभावो से संवर (नये कर्मों का न आना) और निर्जरा (सचित कर्मों का छूट जाना) ये दोनो कार्य होते हैं।

साराश यह है, कि अनादिकाल से कर्मबन्धन की जो उपाधि लगी हुई है उसका जब जब फलकाल उपस्थित होता हैं, तब तब वे कर्म फल देकर खिरते हैं। इसी का नाम विपाकज अर्थात् अकामनिर्जरा है । (अर्थात् बिना इच्छा के केवल पराधीनता से कर्मों का खिरना) ऐसी निर्जरा सदा ही होती रहती है। कोई भी कर्मबधता है वह कुछ न कुछ स्थिति की मर्यादा रखता हुआ ही बधता है। इसीलिए उतनी स्थिति पूरी होने पर वह कर्म खिरना ही चाहिए। इसी प्रकार अनादिकाल से पूर्व कर्म खिरते जाते हैं और नवीन कर्म बंधते जाते हैं । ऐसी शृंखला अनादिकाल से चली आरही है। जिन कर्मों के फल भोगने योग्य फलकाल में बाह्य-निमित्त मिल जाते है, वे कर्मफल देकर खिरते हैं । जिनके फलकाल में साधक निमित्त नहीं मिलते वे यों ही खिर जाते हैं । उनका फल भोगना नही पड़ता है। कभी २ किसी २ कर्म की पूर्वबद्ध स्थिति समाप्त होजाने पर भी उस समय स्थितिवर्द्धक निमित्त मिल जाने से स्थिति बढ़ जाती है। ऐसा होने पर भी कभी न कभी उनका भी अन्त आता ही है। इस प्रकार यह सब विपाकजनिर्जरा सदा ही होती रहती है। यह निर्जरा होते हुए भी जीव, कर्मों से नहीं छूट पाता है। क्योंकि एक कर्म खिरता है, तो दूसरा बधता है । कर्मों से छूटने का उपाय अविपाकज निर्जरा है।

कर्मों का उदयकाल प्राप्त न हुआ हो, तो भी जहा पर तपश्चरण की सामर्थ्य द्वारा उसे परिपक्व हुई उदयावली में प्रवेश कराकर बधन से छुड़ा दिया जाता है । उस समय की उस निर्जरा को अविपाकजनिर्जरा कहते हैं। फल देने का नाम उदय है। परन्तु फल न देकर भी जो खिरना है, उसे भी कभी कभी ग्रन्थकार उदय कहते हैं । क्योंकि कर्म फल दे या न दे, परन्तु बधन की दृढ अवस्था से उसकी शिथिल अवस्था दोनों ही बार होती है। उसी को उद्रिक नाम से भी कहते हैं। फल भोगने मे आना न आना यह बात केवल कर्माधीन नही है, किन्तु बाह्य निमित्त का होना न होना भी फल भुगाने में कारण होता है। तपश्चरण के द्वारा जो कर्म खिपाये जाते हैं, उनके भुगाने वाले बाह्यनिमित्तों का एकदम एकत्रित

होना कठिन तथा असम्भव बात है। इसीलिए तपश्चरण द्वारा खिपने वाले कर्म, उद्रिक होकर बिना फल दिये खिर जाते हैं। परन्तु भोगने में आने वाले कर्मों का और बिना भोगे ही खिरने वाले कर्मों का खिरने के समय जो उद्रेक होता है वह एकसा ही होता है। इतनी समानता को देखकर ग्रन्थकार अविपाकजनिर्जरा वाले कर्मों को भी उदयावली में प्रविष्ट होने वाले मानते हैं, और उनका वेदन होना भी बताते हैं। परन्तु यहां पर यह ध्यान रखना चाहिए, कि फल भोगने का नाम जो उदय है वह उदय यहां पर नहीं होता है। यदि इस उदीर्ण उदयावली मे भी फल भोगने का नियम हो, तो निर्जरा का यह दूसरा भेद ही न बन सकेगा। एवं फल भोगने वाले मे नवीन कर्म भी नियम से बंधते ही है। ऐसी हालत में उसका मुक्त होना असम्भव होजायेगा। इसीलिए मानना चाहिए, कि निष्काम तपश्चरण करने वाले के जो कर्म खिरते हैं, वे बिना फल भोगे ही खिराये जाते हैं।

अब भावनिर्जरा का वर्णन करते है—

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥ १६४ ॥

द्रव्येषु भुज्यमानेषु सुखं दुःख च जायते।
सुखदुःखमुदीर्णंतद् यात्यनुभूय निर्जराम् ॥ १९४ ॥

भाषार्थ— परद्रव्य को भोगने से सुख अथवा दुःख नियम से होता है। उदय मे आये हुए उस सुख दुःख को अनुभवता है, भोगता है आस्वादता है। फिर वह आस्वाद देकर कर्मद्रव्य झड जाता है। निर्जरा होने के बाद फिर वह कर्म नहीं आता।

विशेषार्थ— कर्म का उदय आने पर सुख दुःखभाव नियम से उत्पन्न होते है, उन को अनुभवते हुए मिथ्यादृष्टि के तो रागादि के निमित्त से आगामी बधसे कर्म झडता है। अतः निर्जरा किस काम की, बध ही किया गया। और सम्यग्दृष्टि के उस अनुभव से रागादिक भाव नहीं होते, इसलिए आगामी बध भी नहीं होता अतः केवल निर्जरा ही होती है।

आगे वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान की सामर्थ्य का वर्णन करते है—

जह विसमुवभुञ्जंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मसुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी ॥ १६५ ॥

वैद्यो विषं च भुञ्जानः स यथा म्रियते न हि।
कर्मोदयश्च भुञ्जानोऽपिज्ञस्तेन न बध्यते ॥ १९५ ॥

भाषार्थ— जैसे वैद्य विष के खाने पर भी मरता नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानी पुद्गल-कर्म के उदय को भोगता हुआ भी बध को प्राप्त नहीं होता है।

विशेषार्थ— जैसे गारुडी विद्या के ज्ञाता पुरुष के विष को खाने पर भी अमोघ मन्त्र की सामर्थ्य से मरण को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार परमतत्वज्ञानी, शुभ व अशुभ पुद्गलकर्मों के उदय अर्थात् फल को भोगने पर भी विकल्परहित समाधिलक्षण वाले भेदज्ञानरूप अमोघमन्त्र के बल के प्रभाव से कर्मों के द्वारा बंध को प्राप्त नहीं होता है।

इसके ऊपर आचार्य कलश कहते हैं—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागता बलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः॥

अर्थात् ज्ञानी सम्यग्दृष्टि में एक अपूर्व तत्वज्ञान व वैराग्य है जिस से उसके भोग भी निर्जरा के ही कारण हैं। वास्तव मे जैसे कोई मनुष्य, राजमहल में जाता हुआ बीच में कुछ कार्य करता भी है, तो उस पर उसका ध्यान नहीं जाता। उसकी तो यही उत्कंठा रहती है, कि कब राजमहल में पहुँचूं। ठीक वही दशा तत्वज्ञानी की है। वह निरन्तर निजपद की ही ओर बढ़ता चला जा रहा है। उसकी दृष्टि निज शुद्धस्वरूप प्राप्ति की है। जहां तक मोक्ष न हो वहां तक मार्ग मे चलते हुए जो कुछ मन, वचन, काय की क्रियाएँ करनी पड़ती हैं वे उसके मोक्षमार्ग मे बाधक नहीं है। वह तो सीधा चला ही जा रहा है। अतः ज्ञानी की क्रियाएँ व भोगादि मोक्षमार्ग में बाधक नही हैं।

आगे सासारिक भोगो के विषय मे वैराग्य का सामर्थ्य दिखलाते हैं—

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव॥ १९६॥

पिबंश्चारतिभावेन मद्यं जनो न माद्यति।
तद्वद्भोगेऽरतो ज्ञानी बध्यते न च कर्मणा॥ १९६॥

भाषार्थ— जैसे कोई पुरुष मदिरा को बिना प्रीति से पीता हुआ मतवाला नही होता है, उसी तरह ज्ञानी भी द्रव्य के उपभोग मे तीव्र रागरहित हुआ कर्मों के बन्ध को प्राप्त नहीं होता है।

विशेषार्थ— जैसे कोई पुरुष, अपने रोग की चिकित्सा करने के लिए किसी औषधि में मिश्रित मादकद्रव्य को पीता हुआ भी रति व प्रीति का अभाव होने के कारण मादकपने को प्राप्त नहीं होता है। उसी प्रकार परमात्मतत्व का ज्ञाता पुरुष द्रव्यकर्मों के उदयरस को भोगता हुआ भी जितने अंश से विकाररहित स्वसंवेदनज्ञान से शून्य बहिरात्मजीव की अपेक्षा से राग-भाव को नहीं करता है, उतने अंश से कर्मों से नहीं बधता है। जब हर्षविषादादिरूप समस्त संकल्प-विकल्पो से रहित परमयोगलक्षण को रखने वाले भेदज्ञान के बल से सर्वथा वीतराग होता है, तब सर्वथा कर्मों से नहीं बंधता है।

आगे वैराग्य की शक्ति का विशेषतया कथन करते हैं—

सेवंतोवि ण सेवइ असेवमाणोवि सेवगोकोई।
पगरणचेट्टा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होई॥ १९७॥

सेवतेऽसेवमानोऽपि सेवमानो न सेवते।
कार्यं परस्य कुर्वन्न कर्त्ता भवति कारकः॥ १८७॥

भाषार्थ— कोई तो विषयो का सेवन करता हुआ भी नहीं सेवता है और कोई नहीं

सेवता हुआ भी सेवक होता है। जैसे कोई दूसरे का कार्य करने वाला कार्य की सब क्रियाओं को कर्त्ता हुआ भी अकर्त्ता है, क्योंकि उसका उसमे रागभाव नही है।

विशेषार्थ— विकाररहित स्वसंवेदनज्ञानी जीव, अपने ७ गुणस्थान के योग्य भोजन-पानादि पंचेन्द्रियों के भोगों को भोगता हुआ भी, सेवन न करने वाला रहता है। क्योंकि उसके अन्तरंग में रुचि नहीं है। दूसरा कोई अज्ञानी जीव अपने अन्तरग मे पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगों का राग रखता हुआ भोगों को न पाकर नहीं सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करने वाला हो जाता है।

तात्पर्य यह है, कि जैसे किसी व्यापारी ने किसी को अपनी दुकान पर नौकर रक्खा और दुकान सम्बन्धी काम सब वह नौकर ही करता है तथा वह व्यापारी अपने घर मे बैठा हुआ है और दुकान सम्बन्धी कार्य को नहीं करता। यहां पर दुकान के टोटे नफे का स्वामी वह व्यापारी ही है। नौकर तो केवल उसका काम करता है, इसलिए उसके स्वामीपने के अभाव के कारण वह उस टोटे नफे के फल का भोक्ता नहीं है। वह व्यापारी स्वामीपने के कारण कुछ कार्य नही करता हुआ भी उसके फल का भोक्ता है। उसी प्रकार इस ससार मे मिथ्यादृष्टि तो मालिक समान होता है और सम्यग्दृष्टि चाकर के तुल्य होता है।

आगे निज तथा पर के ज्ञाता सम्यग्दृष्टि का वर्णन करते हैं—

उदगविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥ १९८॥

कर्मोदयविपाकाश्च विविधा वर्णिता जिनैः।
मम नैव स्वभावास्ते ज्ञायकोऽहं सुनिश्चयात् ॥ १९८ ॥

भावार्थ— जो कर्मोदय के रस से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव हैं वे मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ। ऐसे सामान्यतया सब ही कर्मजन्यभावों को सम्यग्दृष्टि परक जानता है। अपने को तो वह एक ज्ञायक ही मानता है।

विशेषार्थ— जैसे सम्पूर्ण विभाव व कर्म के फल, शुद्धनिश्चयनय से आत्मा के वास्तविकस्वभाव से भिन्न हैं वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव अपने को और पर को पृथक् ही मानता है। उसमे तो क्रोधरूप और मानरूप की विवक्षा ही नही होती।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि निज व पर को विशेषता से कैसे जानता है—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभाओ हु अहमिक्को ॥ १९९॥

पुद्गलकर्म रागोऽस्य स विपाकोदयो भवेत्।
नत्वेष मम भावो वै ज्ञायकोऽहं निरञ्जनः ॥ १९९ ॥

भावार्थ— सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है, कि यह राग पुद्गलकर्म है, उसके विपाक का उदय है जो मेरे अनुभव में रागरूप, प्रीतिरूप, आस्वाद होता है, अतः यह मेरा स्वभाव नहीं है, क्योंकि निश्चय से मैं तो एक ज्ञायकभावस्वरूप हूँ।

विशेषार्थ— इस गाथा में परभाव का विशेषराग कहा है, इसी प्रकार राग की जगह पद पलटने से द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्श ये पद रखकर सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना और इसी उपदेश से अन्य को भी विचार लेना। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने को जानता हुआ रागरहित होकर नियम से ज्ञान व वैराग्यसहित होता है।

"समयसार कलश" में आचार्य कहते हैं कि—

सम्यग्दृष्टे र्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः

स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।

यस्माज् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च

स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥

अर्थात— सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्वकर्म का उदय मन्द होजाने से अथवा अभाव होने से संसार मे आसक्तपना दूर होजाता है। उसके भीतर सम्यक्ज्ञान इस प्रकार झलक उठता है कि परमाणुमात्र भी परद्रव्य मेरा नहीं है। मेरा वही है जो सदा से ही मेरे साथ है व सदा साथ रहेगा। ये ज्ञानदर्शनसुखवीर्यचारित्रादि मेरे निजी गुण हैं, तथा रागद्वेषादि सर्व औपाधिक व मोहजनितभाव मेरे स्वभाव नहीं हैं। द्रव्यकर्म व नोकर्म तो प्रत्यक्ष ही भिन्न है। वैराग्य ऐसा प्रकाशित होता है, कि यह ससार त्यागने योग्य है । निजस्वभावरूप मुक्तदशा ही ग्रहण करने योग्य है। इस सहजज्ञान वैराग्य के कारण वह सदा ही अपने शुद्धस्वरूप के अनुभव की रुचि में तन्मय रहता है। यही दशा पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा करती है व आगामी के बंध को रोकती है।

आगे सम्यग्दृष्टि के वास्तविकस्वरूप का ग्रहण और रागद्वेषादि के त्याग का वर्णन करते हैं—

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।

उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥ २०० ॥

एवं सदृष्टिरात्मानं जानाति ज्ञायकं सदा।

कर्मोदयविपाकं च तत्त्वं जानन्विमुञ्चति ॥ २०० ॥

भावार्थ— इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने को ज्ञायकस्वभाव जानता है। और वस्तु के यथार्थस्वरूप को जानता हुआ कर्म के उदय को कर्म का विपाक जानकर उसे त्याग देता है।

विशेषार्थ— पूर्वकथनानुसार सम्यग्दृष्टि आत्मदर्शी अपनी आत्मा को परमानन्दमयी टंकोत्कीर्ण, ज्ञाता, द्रष्टा एक स्वभावरूप अनुभव करता है। तथा नित्य आनन्दमयी एक स्वभावरूप परमात्मतत्व को तीन गुप्तिमयी समाधि मे स्थितकर विशेषरूप से जानता हुआ शुभाशुभकर्मों के उदय को कर्मों का फल मानकर, कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, त्याग देता है।

आगे कहते हैं कि रागी सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता?

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।

णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥ २०१ ॥

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥ २०२ ॥

यस्य रागकषायाणामणुमात्रं च विद्यते।
आत्मानं न विजानाति सर्वागमधरोऽपि सः ॥ २०२ ॥
तथात्मानमजानन्योऽनात्मानमपि वेत्ति न।
जीवाजीवावजानन् स सम्यग्दृष्टिः कथं भवेत् ॥ २०२ ॥

भावार्थ— जिस जीव के रागादि का लेशमात्र भी विद्यमान है, वह जीव सब शास्त्रों का वेत्ता होने पर भी आत्मा को नहीं जानता और जो आत्मा को नहीं जानता, वह पर को भी नहीं जान सकता। इस प्रकार जो व्यक्ति जीव और अजीव दोनों को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

विशेषार्थ— जिस जीव के अज्ञानमय रागादिभावों का लेशमात्र भी विद्यमान है, वह जीव यदि श्रुतकेवली के समान भी हो तो भी अज्ञानमयभाव होने से आत्मा को नहीं जान सकता है। और जो अपने आत्मा को नहीं जानता है, वह पर को भी नहीं जानता। अतः जो आत्मा और पर दोनों को नहीं जानता है वह जीव अजीव वस्तु को नहीं जानता, तथा जो जीवाजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। इसलिए जो रागी है, वह ज्ञान के न होने के कारण सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।

शिष्य द्वारा परमात्मपद क्या है ? यह प्रश्न करने पर, उसका समाधान अग्रिम गाथा से करते हैं—

आदह्मि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥ २०३ ॥

मुक्त्वात्मनि विभावान्वै गृहाण नियतं पदम्।
स्थिरमेकमिमं भावं लभ्यमान स्वभावतः ॥ २०३ ॥

भावार्थ— आत्मा में जो द्रव्यकर्म और भावकर्म हैं उनको अस्थिर जानकर त्याग दे। और हे भव्य ! अपने ही निश्चित स्थिर एक स्वभाव से अनुभवगम्य इस प्रत्यक्षीभूत आत्म-पदार्थ को ग्रहण कर।

विशेषार्थ— इस आत्मद्रव्यरूपी आधार में जो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागद्वेषादि भाव कर्म स्थित हैं उनको विनाशीक जान कर त्याग दे। और हे भव्य ! अपने ही सम्बन्धी अर्थात् अपने ही निश्चितरूप, अविनाशी, स्वभाव से अनुभव करने योग्य परमात्मसुख की संवित्तिरूप स्वसंवेदन ज्ञानस्वभाव से अनुभाव्य इस प्रत्यक्ष आत्मपदार्थ को ग्रहण कर।

अब मोक्ष के कारणभूत मतिज्ञानादि विकल्परहित परमात्मपद को यह आत्मा योगाभ्यासादि साधनों द्वारा प्राप्त करता है, यह बताते हैं—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥ २०४ ॥

सन्ति ज्ञानस्य पर्याया मत्यादिकेवलात्मकाः।
तानूलब्ध्वामोक्षमाप्नोति परमार्थः स एष वै ॥ २०४ ॥

भावार्थ— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये ज्ञान के भेद हैं। ये सभी एक ज्ञान नाम से कहे जाते हैं। अतः यह शुद्धनय का विषयस्वरूप ज्ञान सामान्य है, इसी शुद्धनय को प्राप्तकर आत्मा मोक्षपद को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ— जैसे सूर्य के मेघों के आवरण से कमती बढ़ती होजाने के कारण सूर्य के प्रकाश में कमती बढ़तीपने के भेद होजाते हैं उसी प्रकार मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानवरणादि प्रकृतियो के क्षयोपशम के अनुसार मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादि भेद होते हैं। यह मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय केवलज्ञान अभेदरूप निश्चय से एकरूप ही हैं। यही लोक में प्रसिद्ध पंचज्ञान का अभेदरूप परमार्थ है। जिस परमार्थस्वरूप को पाकर यह जीव मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

पदमिदं ननुकर्मदुरासदं सहजबोध कला सुलभं किल।
तत इद निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥
(कलश)

अर्थात् यह ज्ञानमयपद, कर्म से दुष्प्राप्य है और स्वाभाविक ज्ञानकी कला से सुलभ है। इसलिए अपने निजज्ञान की कला के बल से इस ज्ञान का अभ्यास करने के लिए प्रयत्न करो।

आगे सामान्य ज्ञानगुण का वर्णन करते हैं—

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहूवि ण लहंते।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥ २०५ ॥

ज्ञानगुणविहीना ये लभन्ते न पदं हि तत्।
वाञ्छास्तिकर्ममोक्षे चेद् गृहाण नियतं पदम् ॥ २०५ ॥

भावार्थ— हे भव्य ! जो तू कर्मों से मुक्त होना चाहता है, तो उस निश्चत ज्ञान को ग्रहण कर, क्योंकि ज्ञानगुण से रहित पुरुष, बहुत प्रकार के कर्म करते हैं, तो भी ज्ञानस्वरूपपद को प्राप्त नहीं होते।

विशेषार्थ— विकाररहित परमात्मतत्त्व के अनुभवरूपी लक्षण को धारण करने वाले ज्ञानगुण से रहित बहुत से पुरुष शुद्धात्मा ही उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है, इस स्वसंवेदन ज्ञान से रहित दुर्धर कायक्लेषादि तपश्चरण को करते हुए भी इस मतिज्ञानादि से अभेदरूप साक्षात मोक्ष का कारण स्वसंवेदन के योग्य शुद्धात्मा के अनुभवरूपी लक्षण को रखने वाले परमात्मपद को प्राप्त नहीं होते हैं। इसलिए हे भव्य ! यदि द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मों से मुक्ति चाहते हो तो उस परमात्मपद को ही ग्रहण करो।

फिर इसी उपदेश को विशेषतया कहते हैं—

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥ २०६ ॥

अस्मिन्नपि रतो नित्यं संतुष्टो भव चात्मनि ।
भविष्यत्युत्तमं सौख्यं तृप्तो भव्य ! ममात्मना ॥ २०६ ॥

भावार्थ— हे भव्य जीव ! इसी आत्मस्वरूप मे नित्य रत हो, नित्य इसी में सतुष्ट रह और इसी से तृप्त हो, इससे ही तुझे उत्तम सुख की प्राप्ति होगी ।

विशेषार्थ— हे भव्य ! एतावन्मात्र ही सत्य परमार्थस्वरूप आत्मा है, जितना यह ज्ञान है, ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र आत्मा मे ही निरन्तर रति, प्रीति, और रुचि कर । इतना ही सत्यार्थ कल्याण है जितना यह ज्ञान है, ऐसा निश्चय करके, ज्ञानमात्र आत्मा से नित्य ही सन्तुष्ट हो और इतना ही सत्यार्थ अनुभव करने योग्य है । जितना यह ज्ञान है, ऐसा निश्चयकर ज्ञानमात्र से ही आत्मा में नित्य तृप्ति को प्राप्तकर । इस तरह नित्य ही आत्मा में रत, आत्मा मे सतुष्ट, आत्मा में तृप्त होने से तेरे को वचन के अगोचर नित्य उत्तम सुख प्राप्त होगा ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
(गी० ६-२२)

अर्थात् जिस आत्मप्राप्तिरूप लाभ को प्राप्त करके उससे अधिक कोई दूसरा लाभ नही मानता, एवं जिस आत्मसत्व में स्थित हुआ ज्ञानी शस्त्रघातादि बड़े भारी दुःखो द्वारा भी विचलित नहीं किया जा सकता । ऐसा यह अनुपम आत्मतत्व है ।

ज्ञानी परको ग्रहण क्यो नही करता है ? इसके उत्तर मे गाथा कहते है—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवइ दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ॥ २०७ ॥

ममास्तीति परद्रव्य वदेदेवं हि को बुधः ।
स्वं स्वपरिग्रहं वेत्ति नियमेनात्र पण्डितः ॥ २०७ ॥

अर्थ— ऐसा कौन ज्ञानी है ? जो यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है ऐसा कहे, अर्थात् ज्ञानी ऐसा नही कह सकता, क्योकि वह तो अपनी आत्मा को ही नियम से अपना परिग्रह जानता है ।

विशेषार्थ— ज्ञानी जीव यह बात कभी नहीं मानेगा और न कहेगा, कि यह परद्रव्य स्त्रीपुत्रादि, शरीर व रागद्वेषादिभाव मेरे आत्मा सम्बन्धी द्रव्य या भाव हैं, क्योकि उसको इसका ठीक २ अनुभव है, कि अपनी आत्मा का परिग्रह तो अपनी आत्मा का शुद्धस्वरूप ही है ।

इसी अर्थ को युक्ति से दृढ़ करते हैं—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जम्हा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०८ ॥

अन्यः परिग्रहो मे चेद् गच्छेयं जड़रूपताम् ।
ज्ञातैवाहं यतस्तस्मा न मे परः परिग्रहः ॥ २०८ ॥

भावार्थ— ज्ञानी ऐसा जानता है, कि यदि मेरा परद्रव्य परिग्रह हो, तो मैं भी अजीव-पने को प्राप्त हो जाऊं, किन्तु मैं तो केवल ज्ञाता हूँ, इसलिए मेरे कुछ भी परिग्रह नहीं हैं ।

विशेषार्थ— यदि मिथ्यात्व व रागद्वेषादिक परद्रव्यरूपी परिग्रह मेरे हो जावें, तो मैं जड़त्व (अजीवपने) को प्राप्त होजाऊं, किन्तु मैं तो परमात्मपदस्वरूप व शुद्धज्ञानस्वरूप हूं, इसलिए यह परद्रव्यादि परिग्रह निश्चय से मेरे नहीं हो सकते ।

अब बतलाते हैं, कि ऐसा मानने पर ज्ञानी के परद्रव्य के बिगड़ने व सुधरने में समता-भाव होता है—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहवि हु ण परिग्गहो मज्झं ॥ २०६ ॥

छिद्यतां भिद्यतां यातु प्रलयं नीयतां तथा ।
गच्छतु वा यथेष्टं न तथापि मे परिग्रहः ॥ २०९ ॥

भावार्थ— ज्ञानी ऐसा विचारता है कि परद्रव्य छिद जाय, भिदजाय, अथवा कोई ले जाय या नष्ट होजाय या जैसे तैसे भी चला जाय, तो भी निश्चय से परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है ।

विशेषार्थ— यह बाह्य शरीर आदि छिद जायें, चाहे टुकड़े २ होजायें, चाहे भिद जायें या इन्हें कोई ले जाय अथवा प्रलय को प्राप्त हो जायें चाहे जिस किसी कारण से छूट जायें तो भी यह देहादि मेरा परिग्रह नहीं है । क्योंकि मुझे यह दृढ़ निश्चय है, कि मैं टंकोत्कीर्ण परमानन्द मय ज्ञाता दृष्टा एकस्वभावरूप हूँ ।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई ॥ २१० ॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे अहम्मं ।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २११ ॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं ।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१२ ॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं ।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१३ ॥

न धर्माधर्मयोर्वाञ्छा ज्ञानां कांक्षाऽशनेऽपि न ।
तेषां परिग्रहो नातो ज्ञानिनो निष्परिग्रहाः ॥ २१० - २१३ ॥

भावार्थ— जो इच्छा (मूर्छा) रहित है, वह अपरिग्रही कहा गया है । अतएव आत्म-ज्ञानी, धर्म, अधर्म (पुण्य, पाप) भोजनादि की इच्छा नहीं करता । इसी कारण से वह धर्म-

अधर्मादि को ग्रहण न करता हुआ भी उनका केवल ज्ञातामात्र रहता है।

विशेषार्थ— आत्मज्ञानी सब प्रकार के परिग्रहों से रहित होता है, क्योंकि जिसके आत्मा से भिन्न बाह्य पदार्थों में किसी प्रकार की आकांक्षा अर्थात् राग व मोह आदि नहीं है वही परिग्रहरहित है। शास्त्रकारों ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है। किन्तु तत्वज्ञानी शुद्धोपयोगरूप आत्मानुभूति को छोड़कर शुभोपयोगरूप पुण्य तथा अशुभोपयोगरूप पाप आदि को नहीं चाहता इसी लिए ब्रह्मज्ञानी जीव, पुण्य आदि को ग्रहण न करता हुआ, अर्थात् तद्रूप परिणमन न करता हुआ, दर्पण में प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्बों का दर्पण के समान केवल ज्ञाता, द्रष्टामात्र रहता है।

आचार्य इसी विषय को आगे पुष्ट करते हैं—

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥ २१४ ॥

भावांश्च विविधान्सर्वान् ज्ञानी नेच्छति निश्चयात्।
निरालम्बस्तु सर्वत्र नियतं नित्यज्ञायकः ॥ २१४ ॥

भावार्थ— इस प्रकार ज्ञानी पूर्वोक्तभावो को नही चाहता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि तो सब अवस्थाओ मे नियम से निरालम्ब व स्वतन्त्र रहता है।

विशेषार्थ— परमात्मतत्व का ज्ञानी उपर्युक्त पुण्य, पापो व भोजनपानादि बाह्यपदार्थों को नही चाहता है, क्योकि वह सर्वत्र सब अवस्थाओ मे टकोत्कीर्ण परमानदमयी ज्ञाता, द्रष्टा एक स्वभावरूप है। तथा तीन जगत् व तीन काल में भी मन, वचन, काय से व कृत, कारित, अनुमोदना से बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरूप चेतन और अचेतन परद्रव्य में आलम्बनरहित होता हुआ भी अनन्तज्ञानादि गुणस्वरूप अपने स्वभाव मे निश्चल रहता है।

इन्हीं भावो को अमृतचन्द्राचार्य ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज् ज्ञानिनो यदि भवत्युपयोगः।
तद्भवत्यथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥

(कलश)

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के राग, द्वेष व मोह का त्याग नियम से होता है। उसके यह ज्ञान है कि मैं शुद्धात्मा हू, देहादि भिन्न हू व समस्त रागादि कर्म मुझ से भिन्न हैं। पूर्व में बाधे हुए कर्मों के विपाक से जो उसके भोग-सामग्री का सम्बन्ध है वह उसको भोगता है। किन्तु उदासीनभाव से भोगता है। आत्मभोग के सामने वह इन भोगो को तुच्छ समझता है। उसकी क्रिया गृहस्था-वस्था में रागी जीव के समान दीखती है। किन्तु वह अन्तरग से विरागी है। अतः उसके कर्म खिर जाते हैं और नवीन कर्म नहीं बंधते।

आगे कहते हैं, कि ज्ञानी न तो वर्तमान भोगों में इच्छा करता है और न भविष्य के भोगों को चाहता है—

उप्पराणोदयभोगो विओगबुद्धिए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागयस्य य उदयस्य ण कुव्वए णाणी ॥ २१५ ॥

उत्पन्नोदयभोगेषु त्यागबुद्धिर्भवेद् बुधः।
करोति नैव काङ्क्षां स उदयस्य च भाविनः ॥ २१५ ॥

भावार्थ— ज्ञानी जीव, उत्पन्न हुए वर्तमान काल के उदय के भोगों को हेय बुद्धि से देखता है। इसलिए उसके परिग्रह नही है। तथा आगामी काल के भोगों की उसको वांछा नही है, इसलिए भी उसके परिग्रह नहीं है।

विशेषार्थ— कर्मोदय का उपभोग, काल की अपेक्षा (भूत, भविष्यत, वर्तमान भेद) से तीन प्रकार का है। उनमे से भूत तो बीत ही चुका इसीलिए उसका तो प्रश्न ही नहीं रहा. और वर्त्तमान के उपभोगो को ज्ञानी हेय बुद्धि से भोगता है। इसलिए ज्ञानी के वर्त्तमान का भी परिग्रह नही है तथा आगामीकाल मे आने वाले (कर्मोदय से) भोगों की ज्ञानी वांच्छा नहीं करता। इसलिए उनका भी परिग्रह ज्ञानी के नही है। इसीलिए ज्ञानी सर्वदा परिग्रहहीन है।

अनागतकाल के कर्म के उदय को ज्ञानी क्यो नहीं चाहता है ? आगे इसका वर्णन करते हैं—

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं।
तं जाणगो दु णाणी उहयंपि ण कंखइ कयावि ॥ २१६ ॥

वेद्यवेदकभावौ द्वौ काले काले प्रणश्यतः।
उभयोर्ज्ञायको ज्ञानी न स कांक्षति तौ कदा ॥ २१६ ॥

भावार्थ— जो अनुभव करने वाला भाव अर्थात् वेदकभाव और जो अनुभव करने योग्यभाव अर्थात् वेद्यभाव, इस तरह वेदक और वेद्य ये दोनों भाव आत्मा के होते हैं। वे क्रम से होते हैं, एक समय मे नहीं होते हैं। तथा दोनो ही समय समय मे नाश को प्राप्त हो जाते हैं। आत्मा दोनो भावो मे नित्य है। इसलिए ज्ञानी आत्मा दोनो भावो का ज्ञायक ही है इन दोनो भावो को ज्ञानी कदाचित् भी नहीं चाहता है।

विशेषार्थ— जो कोई रागद्वेषादि विकल्परूपभाव कर्त्ता होकर वेदता है— अनुभव करता है और जो साता के उदय से होने वाला कर्मरूपभाव रागादि विकल्प से अनुभव किया जाता है। वे दोनो ही भाव अर्थ पर्याय होने की अपेक्षा से प्रत्येक समय मे नाश को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव तत्वज्ञानी उनको अर्थात् वर्तमान व भावी होने वाले भावो को विनश्वर जानकर दोनो को ही कदापि नहीं चाहता है।

सम्पूर्ण उपभोगों से ज्ञानी के वैराग्य ही है, इसी बात को कहते हैं—

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जए राओ ॥ २१७ ॥

बंधभोगनिमित्तेषु रागोदयेषु ज्ञानिनः।
भवदेहादिभोगेषु रागो नोत्पद्यते क्वचित् ॥ २१७ ॥

भावार्थ— बन्ध और भोगादि के निमित्त जो अध्यवसान अर्थात् रागादि के उदय हैं, वे संसार विषयक और देह के विषय हैं। उनमे ज्ञानी के राग उत्पन्न नहीं होता।

विशेषार्थ— इसी भाव को श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निम्न "कलश" द्वारा व्यक्त किया है—

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्मरागरसरिक्ततयैति ।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥

अर्थात् जैसे कपड़े को बिना लोद फिटकरी लगाए यदि रंगा जाय तो वह रंग पक्का नहीं होता। बाहर ही रहता है, और शीघ्र ही छूट जाता है। वह रंग कपड़े की असल भूमिका को रंगीन नहीं बनाता है। उसी तरह मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषायरूप लोद फिटकरी के बिना प्राप्त भोगों मे ज्ञानी लिप्त नही होता। भोगते हुए भी अत्यन्त उदास रहता है। इसीलिए उदय प्राप्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है और संसार कारणी भूतकर्मों का बंध नहीं होता है। अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान कषाय जनित राग शीघ्र ही छूट जाता है। वह कच्चे रंग के समान बाधक नहीं है। अन्तरंग को रागी बनाने वाला नहीं है। यह सम्यक्त्व की अपूर्व महिमा है।

इसी अर्थ का व्याख्यान अग्रिम गाथा मे करते हैं—

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पइ रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥ २१८ ॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥ २१९ ॥

सर्वद्रव्येषु रक्तो न कर्ममध्यगतोऽपि सः ।
स्वर्णं पंकगतश्चापि न च पंकेन लिप्यते ॥ २१८ ॥
अज्ञानी तु भवेद्रक्तः कर्ममध्यगतः पुनः ।
कर्मणा लिप्यते नूनं यथा लोहश्च कर्दमे ॥ २१९ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार कीचड में पडा हुआ भी सोना कीचड से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार कर्म करता हुआ भी ज्ञानी कर्म से लिप्त नहीं होता। किन्तु जिस प्रकार लोहा कीचड मे पड़कर विकृत होजाता है उसी प्रकार अज्ञानी कर्मों मे फसकर रागभाव के कारण विकृत होजाता है।

विशेषार्थ— जैसे कीचड़ मे पड़े हुए सुवर्ण को काई नहीं लगती और लोहे को लग जाती है, उसी प्रकार कार्माण वर्गणाओं मे पडा हुआ भी ज्ञानी, उनकी रज से लिप्त नहीं होता है। किन्तु अज्ञानी भेदविज्ञान के अभाव से परद्रव्यों मे रागी द्वेषी होने के कारण उनमें मोहादि करता हुआ कर्मों की रज से लोहे की तरह विकृत हो जाता है।

आगे इसी अर्थ को दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

भुंजंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कइ किण्हगो काउं ॥ २२० ॥
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥ २२१ ॥

सचित्ताचित्तमिश्राणि भुञ्जानो विविधानि वै।
श्वेतभावो हि शंखस्य कृष्णंकर्तुं न शक्यते ॥ २२० ॥
सचित्ताचित्तमिश्राणि द्रव्याणि ज्ञानिनस्तथा।
भुञ्जानस्यापि च ज्ञानमज्ञानतां न याति वै ॥ २२१ ॥

भावार्थ— सचित्ताचित्त, मिश्र नाना प्रकार के द्रव्यों को खाते हुए भी शंख का सफेदपना काला नहीं हो सकता है। उसी प्रकार सचित्ताचित्त मिश्र पदार्थों को भोगते हुए भी ज्ञानी जीव का ज्ञान, रागभाव को प्राप्त नहीं होता है।

विशेषार्थ— जैसे सचित्ताचित्त नाना प्रकार के पदार्थों को भोगते हुए भी शंख का सफेदपना कृष्णरूप नहीं हो सकता है। उसी प्रकार सचित्त, अचित्त व मिश्र नाना प्रकार के द्रव्यों को अपने गुणस्थान के अनुसार भोगते हुए भी ज्ञानी जीव का वीतराग स्वसंवेदन लक्षण भेदज्ञान रागद्वेषरूप अर्थात् अज्ञानभावरूप नहीं हो सकता है। क्योंकि स्वभाव बदला नहीं जा सकता है। इसी कारण स्वसंवेदन ज्ञानी जीव के चिरकाल के बांधे हुए कर्मों की निर्जरा ही होती है और नवीन कर्मों का संवर होता है।

आगे इसी विषय को अन्य प्रकार से कहते हैं—

जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिऊण।
गच्छिज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥ २२२ ॥
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहि ऊण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥ २२३ ॥

शंखस्त्यक्त्वा तु शुक्लत्वं कृष्णत्वं याति वै यदा।
तदा त्यजति शुक्लत्वं शंखः पौद्गलिको यथा ॥ २२२ ॥
परिणतोऽज्ञभावेन रागादिना तथैव सः।
ज्ञानी ज्ञानस्वभावं च त्यक्त्वा चाज्ञानतां व्रजेत् ॥ २२३ ॥

भावार्थ— जैसे जीवरहित शंख, पुद्गलरूप होता हुआ भी काले परद्रव्य के संसर्ग से अपने अन्तरंग उपादान परिणाम के आधीन होकर अपने सफेदस्वभाव को त्याग कर कृष्णपने को प्राप्त होजाता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी, अपनी बुद्धि के दोष से वीतरागरूप ज्ञानस्वभाव को छोडकर मिथ्यात्वादि अज्ञानभावरूप परिणमन करता है। उस समय उसके संवरपूर्वक निर्जरा न होकर कर्मों का बंध होता रहता है।

विशेषार्थ— सुगम है।

अब सम्यग्दर्शन के आठ अंगो का वर्णन करते है, और प्रथम निकांक्षित अंग को कहते हैं।

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं।
तो सोवि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२४ ॥

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सोवि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२५ ॥
जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिनिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२६ ॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कमरयं।
तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२७ ॥

पुरुषः कोऽपि च राजानं वृत्यर्थं सेवते यथा।
ददाति बहुभोगान्वै स सुखोत्पादकान्नृपः ॥ २२४ ॥
एवं कर्मरजो जीवः सुखेच्छया च सेवते।
ददाति विविधान्भोगान् कर्म जगत्सुखानि च ॥ २२५ ॥
जनः कोऽपि च राजानं वृत्यर्थं न च सेवते।
राजाऽतो विविधान्भोगान्नैव तस्मै ददाति वै ॥ २२६ ॥
सम्यक्त्वी विषयार्थं न कर्मरजो निषेवते।
न कर्म विविधान्भोगान् तस्मै ददाति जातुचित् ॥ २२७ ॥

भावार्थ— जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तो वह राजा भी उसको अनेक प्रकार के सांसारिक भोग देता है। उसी प्रकार जो पुरुष सांसारिक सुख के लिए कर्मरूपी रज को सेवन करता है। तो वह उसे अनेक प्रकार के सांसारिक भोग देता है। किन्तु यदि वही पुरुष वृत्त्यादि के लिए राजा की सेवा न करे तो राजा भी उसको नाना प्रकार के सांसारिक भोग न दे। इसीलिए सम्यग्दृष्टि, विषयों के लिए (सांसारिक सुखों के लिए) कर्मरूपी रज को नहीं सेवता है, अतः वह कर्म भी उसे सांसारिक भोगों को नहीं देता है।

विशेषार्थ— यहां दृष्टान्त और दार्ष्टान्त द्वारा यह समझाया गया है, कि जो व्यक्ति जिस भावना से कर्म करता है, वह उसी प्रकार का फल पाता है। और यदि कोई निष्कामभाव से कर्म करे, तो उसको फल प्राप्त नहीं होता है। जैसे की कोई व्यक्ति, आजीविका (स्वार्थ) के लिए ही राजा आदि की सेवा करता है अतः उसको वेतन (रुपया) आदि मिलता है, और यदि वह निःस्वार्थभाव से सेवा करे तो उसको वेतन आदि कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। इसी प्रकार यह कर्मरूपीराजा सकाम आत्मा को सांसारिक भोगोपभोग की सामग्री देता है। और यह आत्मा इन भोगो में फंसकर पापकर्म मे रावणादि की तरह लिप्त होजाता है। अतः इसको उस पाप के फलस्वरूप नरकादि के दुःख भोगने पड़ते है। इस तरह यह जीव अनादिकाल से कर्मों के वशीभूत होकर महान् कष्टों को भोगता हुआ आ रहा है। इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं, कि जीव ! यदि तू इन सांसारिक दुःखो से छूटना चाहता है तो इन सांसारिक भोगों की इच्छाओं का त्याग करदे ! ऐसा करने पर यह कर्मरूपी राजा तुझे उसका फल नहीं देगा, और तू इन कर्मों से मुक्त होजायेगा।

बिना इच्छा के कर्म किस प्रकार किये जाते हैं, इसको आचार्य कलश द्वारा व्यक्त करते हैं—

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी है, इच्छा रहित है, फिर वह कर्म कैसे बांधेगा ? अर्थात् नहीं बांधेगा। वह सदा आत्मरसिक ही रहता है। पूर्वकर्मों के उदय से उसको रोग की चिकित्सा के समान जो कुछ काम करना पड़ता है व विषय भोग करना पड़ता है, उससे वह अपने ज्ञानस्वभाव से विचलित नहीं होता है। इसलिए वह न तो कर्त्ता है न भोक्ता है। वह तो एकमात्र ज्ञाता दृष्टा है। इस कारण कर्म की निर्जरा हो जाती है। परन्तु तन्मयता रखने से जो बंध होता था वह नहीं होता है। इस प्रकार ज्ञानी बिना इच्छा के पूर्व में उदय आये कर्मों के वश होकर उदासीन भाव से कर्म करता है। इसीलिए वे कर्म उसको बंध के कारण नहीं है । अपितु निर्जरा के ही कारण हैं। अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि— यदि तुम सांसारिक दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो सांसारिक राग का परित्याग करो।

अब नि शंकित अग को कहते हैं—

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥ २२ ॥

निःशंका निर्भयाः सन्ति ते सम्यक्त्विजनाध्रुवम् ।
सप्तभयविमुक्ताश्च निःशंकाश्च भवन्त्यतः ॥ २२८ ॥

भावार्थ— सम्यग्दृष्टि जीव, निश्चय से निःशंक अर्थात् निर्भय होते हैं क्योंकि वे सप्तभय से रहित है, इसलिए निःशंक हैं।

विशेषार्थ— सम्यग्दृष्टि जीव, शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप निर्दोष परमात्मा की आराधना को करते हुए निःशंक होते हैं, इसी से भयरहित होते है। क्योंकि ये इस लोक, परलोक, अनरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक इन सात भयो से रहित होते हैं । इसीलिए वे निःशक होते हैं। अर्थात् घोर परीषह व उपसर्ग आजाने पर भी अपने शुद्ध आत्मीय स्वरूप में निश्चल रहते हुए व शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग परमानन्द सुख, उसमें सन्तुष्ट रहते हुए अपने परमात्मस्वरूप से नहीं डिगते हैं।

इन सातो भयों के विषय का श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कलशों द्वारा बहुत सुन्दर वर्णन किया है। उसी को यहा उद्धृत करते हैं—

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते नहि ॥ १ ॥

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
लोको यन्न तवापरस्तदपरस्यास्ति तद्भीः कुतो
निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २ ॥

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ ३ ॥

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशंकः सतत स्वय स सहज ज्ञानं सदा विन्दति ॥ ४ ॥

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपेण य
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृत ज्ञान स्वरूप च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशंकः सततं स्वयं स सहज ज्ञानं सदा विन्दति ॥ ५ ॥

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेतद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ ६ ॥

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ ७ ॥

अर्थ— (१) सम्यग्दृष्टि निःशंकित गुणसहित होता है. जिस के भय से तीन लोक के जीव मार्ग छोड देते हैं ऐसा वज्रपात पड़ने पर भी वह अपने स्वरूप को निर्बाधज्ञानशरीररूप मानता हुआ ज्ञान से चलायमान नहीं होता है। ऐसी शंका नहीं रखता कि इस वज्रपात से मेरा विनाश हो जायेगा। इस मनुष्यादि पर्याय के विनाश को वह विनाश नहीं मानता। क्योंकि उसका विनाश तो अवश्यम्भावी है।

(२) जो इस भव में लोकों का डर रहता है, कि ये लोग न मालूम मेरा क्या बिगाड़ करेंगे, ऐसा तो इस लोक का भय है, और परभव में न मालूम क्या होगा ऐसा भय रहना

परलोक भय है। किन्तु ज्ञानी ऐसा जानता है, कि मेरा लोक तो चैतन्यस्वरूपमात्र एक नित्य है। मेरे इस लोक के सिवाय जो अन्य है, वह परलोक है। इसलिए मेरा लोक तो किसी का बिगाड़ा हुआ नही बिगड़ता है। ऐसा विचारता हुआ ज्ञानी अपने को स्वाभाविकज्ञानरूप अनुभव करता है अतः उसके इस लोक का भय कदापि नहीं होता है।

(३) वेदना नाम सुख दुःख के भोगने का है, सो ज्ञानी के एक अपना ज्ञानमात्र स्वरूप का भोगना ही है। वह अन्य के द्वारा आई हुई वेदना को वेदना ही नहीं मानता, इसलिए उसे वेदना का भय नहीं है। इसलिए वह सदा निर्भय हुआ ज्ञानका अनुभव करता है।

(४) ज्ञानी ऐसा जानता है, कि सत्तारूप वस्तु का कभी भी नाश नहीं होता. और ज्ञान स्वय सत्तास्वरूप है। इसलिए इस अविनश्वर ज्ञान की रक्षा को भी यह आवश्यक नही समझता। इस कारण ज्ञानी को अरक्षा का भय नहीं है। किन्तु वह तो निःशंक हुआ आप स्वाभाविक अपने ज्ञान को सदा अनुभव करता है।

(५) जिस में किसी का प्रवेश न हो ऐसे गढ़ दुर्गादिक का नाम गुप्ति है। उस में यह प्राणी निर्भय होकर रहता है। और जो खुला हुआ प्रदेश हो उसे अगुप्ति कहते हैं। वहा पर जीव को भयका अनुभव होता है। किन्तु ज्ञानी ऐसा अनुभव करता है, कि जो वस्तु का निजस्वरूप है उसमे परमार्थतः अन्य वस्तु का प्रवेश नहीं है, यही परम गुप्ति है। पुरुष का स्वरूप ज्ञान है, उसमे किसी का प्रवेश नही है। अतः ज्ञानी को अगुप्ति भय नहीं होता है। ज्ञानी तो अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप का निःशंक होकर निरन्तर अनुभव करता है।

(६) इन्द्रियादिक प्राणो के विनाश को मरण कहते हैं। किन्तु आत्मा के इन्द्रियादिक प्राण परमार्थस्वरूप नही हैं। निश्चय से तो उसके ज्ञान ही प्राण है वह अविनाशी है, इसलिए आत्मा का मरण नही है। अतएव ज्ञानी के मरण का भय नहीं है। अतः ज्ञानी अपने ज्ञानस्वरूप का निःशंक हुआ निरन्तर आप अनुभव करता है।

(७) जिसका कभी अनुभव नहीं हुआ ऐसे किसी अकस्मात् प्रकट हुए भयानक पदार्थ से प्राणी को जो भय लगता है वह आकस्मिक भय है। किन्तु आत्मा का ज्ञान अविनाशी, अनादि, अनन्त, अचल, एक है, इसमे किसी अन्य का प्रवेश नही है। नवीन कुछ होता नही ऐसा ज्ञानी अपने को जानता है। इसलिए उसके आकस्मिक भय नहीं होता है। किन्तु वह निरन्तर निःशंक होकर अपने ज्ञानस्वभाव का अनुभव करता है। इस प्रकार ज्ञानी के सात भय नही होते हैं।

अब उसी निःशंकित अङ्ग की पुष्टि करते है—

जो चत्तारि वि पाए छिंदए ते कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २२९ ॥

यश्चतुरोऽपि पादान् तान् छिनत्ति बन्धकरान्बुधः ।
चेतयिता स निःशंकः सम्यग्दृष्टि र्न संशयः ॥ २२९ ॥

भावार्थ— जो आत्मा कर्मबन्ध के कारण मोह के करने वाले मिथ्यात्वादि भावरूप चारो पादों को निःशंक हुआ काटता है, वह आत्मा निःशंक सम्यग्दृष्टि है।

विशेषार्थ— सम्यग्दर्शन दो प्रकार के हैं। एक व्यवहार सम्यग्दर्शन, दूसरा निश्चय

सम्यग्दर्शन। प्रमत्तावस्था में अर्थात् छठे गुणस्थान तक व्यवहार सम्यग्दर्शन रहता है। इसी व्यवहार सम्यग्दर्शन को सरागसम्यग्दर्शन, भेदसम्यग्दर्शन तथा पराश्रित आदि कहते हैं। उपर्युक्त गाथा की टीका करते हुए श्री जयसेनाचार्य लिखते हैं, कि "अथानन्तरं वीतराग सम्यग्दृष्टे निःशंकाद्यष्ट गुणाः नवतरबंधं निवारयन्ति ततः कारणाद्बन्धो नास्ति, किन्तु संवरपूर्विका निर्जरैव भवतीति प्रतिपादयति" अर्थात् अब वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवके निःशंकित आदि आठ गुणों का तथा उसके बंधके अभाव का प्रतिपादन करते हैं। निश्चय सम्यग्दृष्टि राग रहित है इसलिए सम्यग्दृष्टि के बन्ध न होकर पूर्वबद्ध कर्मों की संवरपूर्वक निर्जरा ही होती है।" सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। दोनो के अंग भी आचार्यों ने पृथक् पृथक् माने हैं।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं। उनमें प्रथम निःशंकित अंग है। व्यवहार दृष्टि से निःशंकित अंग का लक्षण "श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार" में निम्न प्रकार है—

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्नचान्यथा।
इत्यकंपायसांभोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥

अर्थ— भगवान् सर्वज्ञ द्वारा कथित ही तत्त्व है। उस तत्त्व का जैसा स्वरूप भगवान् ने कहा है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। ऐसे समीचीन तत्त्व में जिस की पर्वत के समान अडिग श्रद्धा है, वह निःशंकित अंग है। किन्तु निश्चयदृष्टि से निर्भय होकर मिथ्यात्वादि का नाश करना निःशंकित अंग है।

अब निःकांक्षित गुण को कहते हैं—

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥ २३०॥

करोति नैव कांक्षां यः पुण्येषु च फलेषु च।
चेतयिता स निष्कांक्षः सम्यग्दृष्टि र्भवेज्जनः॥ २३०॥

भावार्थ— जो आत्मा कर्मों के फलों में तथा सब व्यवहार धर्म अर्थात पुण्यादि मे वाछा नहीं करता, वह आत्मा निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि है।

विशेषार्थ— जो ज्ञानी शुद्धात्मा की भावना मे उत्पन्न होने वाले परमानन्द सुख में तृप्त होकर पंचेन्द्रिय विषय सुखरूप कर्मों के फलों में तथा सर्व वस्तुओं के स्वभावों मे अथवा विषय सुख के कारणभूत नाना प्रकार पुण्यरूप धर्मों मे अथवा इस लोक और परलोक सम्बन्धी इच्छाओं के कारणरूप समस्त पर-आगम मे कहे हुए कुधर्मों में इच्छा नहीं करता है, वह आत्मा निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि है।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में लिखा है कि—

धर्मं कृत्वाऽपि यो मूढ इच्छति भोगमात्मनः।
रत्नं दत्वा स गृह्णाति काचं स्वर्मोक्षसाधनम्॥

अर्थात् जो मूर्ख पुरुष स्वर्ग मोक्ष के साधनस्वरूप धर्म को करके भी नाना प्रकार के सांसारिक भोगों की इच्छा करता है, वह रत्न को देकर काच का टुकड़ा लेता है।

आगे निर्विचिकित्सितभाव का वर्णन करते हैं—

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदि गिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३१ ॥

जुगुप्सां सर्वधर्माणां चेतयिता करोति न ।
सम्यग्दृष्टिः-स ज्ञातव्यो निर्जुगुप्सस्तु निश्चयात् ॥ २३१ ॥

भावार्थ— जो जीव, सभी वस्तु के गुणो में ग्लानि नहीं करता, वह जीव निश्चयकर विचिकित्सा दोषरहित सम्यग्दृष्टि है।

विशेषार्थ— जो ज्ञानी, अपने परम आत्मिकतत्व की भावना के बल से सब वस्तुओ के स्वभावो तथा दुर्गंधादि विषयों में जुगुप्सा, निन्दा, द्वेष आदि नहीं करता है वह निश्चय से जुगुप्सा दोष से रहित सम्यग्दृष्टि है।

तथा व्यवहारदृष्टि से—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्जुगुप्सागुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥

अर्थात् स्वभाव से अपवित्र, किन्तु रत्नत्रय से पवित्रभूत व्रतियों के शरीर से घृणा न करना और रोगादि के समय उनकी पूर्णरूपेण वैयावृत्ति (सेवा) करने को निर्विचिकित्सित अङ्ग कहते हैं।

अब आगे अमूढत्व अङ्ग को कहते हैं—

जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३२ ॥

य आत्मा सर्वभावेषु, असंमूढो भवत्यहो ।
अमूढदृक् स बोद्धव्यः सम्यग्दृष्टिं विदुर्बुधाः ॥ २३२ ॥

भावार्थ— जो जीव सब भावो में मूढ़ नहीं होता यथार्थदृष्टि रखता है, वह ज्ञानी जीव निश्चयकर अमूढ़दृष्टि है।

विशेषार्थ— जो ज्ञानी अपनी ही शुद्धात्मा में दृढ़श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप निश्चय रत्नत्रय लक्षण को रखने वाली भावना के बल से सर्व ही शुभाशुभकर्मों से उदय होने वाले परिणामों मे व बाह्य पदार्थों मे मूढ़ता रहित होता है अर्थात् कर्मोदय से दुःखरूप व बाह्य सातारूप पदार्थों की अवस्थाओं में शोक व हर्ष न करके उनका यथार्थस्वरूप जानता हुआ उनके मोह मे पडके मूर्ख नहीं बनता, वह निश्चय से अमूढदृष्टि अङ्ग का धारी सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

व्यवहार दृष्टि से—

धर्मे देवे मुनौ पुण्ये दाने शास्त्रे विचारणम् ।
दर्क्षेयत् क्रियते तद्विप्रामूढत्वगुणं भवेत् ॥

(प्रश्नोत्तरश्रावकाचार)

अर्थात्— धर्म, देव, मुनीश्वर, शास्त्रादि पर विचार पूर्वक श्रद्धा करना और पुण्यदानादि को भी विचार पूर्वक करने का नाम अमूढ़दृष्टि अङ्ग है।

अब उपगूहन गुण की गाथा कहते हैं—

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणकारी सम्माइट्टी मुणेयव्वो ॥ २३३ ॥

उपगूहनसंयुक्तः सर्वभावस्य यो मुनिः ।
उपगूहनकारी स सम्यग्दृष्टिः सदा शुचिः ॥ २३३ ॥

भावार्थ— जो जीव सिद्धों की भक्ति करके अन्य वस्तु के सब धर्मों को गोपने वाला हो, वह उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टि है।

विशेषार्थ— जो ज्ञानी शुद्धात्मा की भावनामयी परमार्थस्वरूप निश्चय सिद्ध भगवान् की भक्ति में तल्लीन है तथा मिथ्यादर्शन, रागद्वेषादि विभावरूप भावों का आच्छादन करने वाला अथवा नाश करने वाला है वह उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि है। उस ज्ञानी जीव के (वह कर्मबन्ध जो उपगूहन अंग के न पालने वाले के होता है) नहीं होता है। किन्तु पूर्व में बांधे हुए कर्मों की निर्जरा ही होती है।

व्यवहार दृष्टि से—

सधर्मिणां मुनीनां च दृष्ट्वा दोषं विवेकिभिः ।
छादनं क्रियते यच्च तद्भवेदुपगूहनम् ॥

(प्रश्नोत्तरश्रावकाचार)

अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि सधर्मियों तथा मुनि आदि में कोई दोष भी देख लेवे, तो भी उसे प्रकट न करके उसको दूर करने का प्रयत्न करना उपगूहन अंग है।

आगे स्थितिकरण गुण को कहते हैं—

उम्मग्गं गच्छंतं सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३४ ॥

यः स्वं गच्छन्तमुन्मार्गं मार्गे स्थापयतीहतम् ।
स्थितिकरणयुक्तः स सम्यग्दृष्टिश्च निश्चयात् ॥ २३४ ॥

भावार्थ— जो जीव उन्मार्ग में चलते हुए अपनी आत्मा को सन्मार्ग में स्थापन करता है, वह ज्ञानी स्थितिकरण अंग का धारी सम्यग्दृष्टि है।

विशेषार्थ— जो ज्ञानी मोक्षमार्ग से विपरीत संसार के कुमार्ग में जाते हुए अपनी आत्मा को शिवमार्ग में अर्थात् अपने शुद्धात्मा की भावनास्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग में परमयोगाभ्यास के द्वारा निश्चल स्थापित करता है, वह स्थितिकरण अंग का धारी सम्यग्दृष्टि है।

व्यवहार दृष्टि से—

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

अर्थात् दर्शन तथा चारित्र से चलायमान सहधर्मी पुरुषों को उपदेशादिक देकर फिर उसी में स्थित करना, स्थितिकरण अंग है।

अब वात्सल्य गुण को कहते हैं।

जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३५ ॥

त्रयाणां चैव रत्नानां वात्सल्यं च करोति यः ।
स वात्सल्ययुतो ज्ञेयः सम्यग्दृष्टिर्विदाम्बरैः ॥ २३५ ॥

भावार्थ— जो जीव मोक्षमार्ग के साधक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में वात्सल्यभाव रखता है, वह वात्सल्यभावसहित सम्यग्दृष्टि है।

विशेषार्थ— जो ज्ञानी मोक्षमार्ग मे स्थित होकर मोक्षमार्ग के साधनभूत सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप अपने ही भावों की भक्ति करता है, वह वात्सल्यभाव का धारी सम्यग्दृष्टि है। उसके वह कर्मबन्ध नहीं होता, जो वात्सल्यभाव को न धारने वाले के होता है। अपितु इस वात्सल्यभाव धारी के पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है।

व्यवहारनय से व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा उनके पालने वाले सधर्मी मुनि आदि का जो आदर सत्कार करता है, वह वात्सल्यभाव का धारी सम्यग्दृष्टि है।

अब प्रभावना गुण को कहते हैं—

विज्जारहमारूढो मणोरह रएसु हणदि जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३६ ॥

यो विद्यारथमारूढो मनोजवाश्व हन्ति वै ।
जिनज्ञानप्रभावी स सम्यग्दृष्टिर्निरामयः ॥ २३६ ॥

भावार्थ— जो कोई ज्ञानी विद्यारूपी रथ मे चढ़ करके मनरूपी रथके वेगों को नाश करता है वह जिनेन्द्रभगवान् के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि है।

विशेषार्थ— जैसे कोई योधा रथ पर चढ़ा हुआ प्रवीण सारथी के बल से अपनी खड्ग को चलाकर शत्रुओं के रथ को हटाता है और संहार करता है। उसी प्रकार ज्ञानी सम्यग्दृष्टि वीर आत्मा शुद्धोपयोगरूपी रथ मे चढ़कर मनरूपी रथ पर चढ़े हुए अनेक विभाव परिणामरूपी शत्रुओं को आत्मानुभव रूपी सारथी के द्वारा ध्यानरूपी खड्ग चलाकर मारता है अर्थात् जो अपने रागद्वेषरूप अज्ञानभावों को हटाकर वीतरागमय शुद्धात्मीकभावों में परिणमन करता है वही सच्ची प्रभावना करने वाला प्रभावना अंग का धारक सम्यग्दृष्टि है।

व्यवहारनय से—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥
(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

अर्थात— संसारी जीवों के हृदय मे जो अज्ञानरूपी अन्धकार छाया हुआ है उसका उपदेशादि द्वारा दूर करने का नाम प्रभावना अङ्ग है।

इति निर्जराधिकारः ॥ ६ ॥

अथ बन्धाधिकारः (७)

अब बन्धतत्व के स्वरूप का विचार करते हुए बंध के कारणो को प्रगट करते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥ २३७ ॥
छिददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिबंसपिंडीओ ।
सचित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥ २३८ ॥
उपघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविवेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो ॥ २३९ ॥
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४० ॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु ।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥ २४१ ॥

स्नेहाभ्यक्तो जनः कश्चिन् मरुस्थले हि तिष्ठति ।
काय चेष्टां च कुर्वाणश्छिनत्ति च भिनत्ति च ॥ २३७ ॥
सचित्ताचित्त सत्वानामुपघातं च कुर्वतः ।
तस्य बहुविधैःकार्यैः रजोबंधो भवेद्ध्रुवम् ॥ २३८ ॥
घात च कुर्वतस्तस्य विविधैः करणैः सदा ।
रजो बधो भवेत्तस्य तं किं प्रत्ययिकं विदुः ॥ २३९ ॥
स्नेहभावो जने तस्मिन् रजो बंधोऽपि तेन वै ।
शेषाभिः काय चेष्टाभि र्न बंधो निश्चयाद्भवेत् ॥ २४० ॥
बहु विधासु चेष्टासु मिथ्यादृष्टिर्न संशयः ।
कुर्वन् रागादिकञ्चैव रजसा लिप्यते स्वयम् ॥ २४१ ॥

भावार्थ— जैसे कोई पुरुष अपने शरीर मे तैलादि लगाकर बहुत धूलि वाले मरुस्थल में खड़े होकर व्यायाम करता है और वह वहा ताड़ वृक्ष, केले के वृक्ष इत्यादिको को छेदता है भेदता है तथा सचित्त व अचित्त द्रव्यो का घात करता है। इस प्रकार नाना प्रकार के साधनो

द्वारा घातोपघात करने वाले उस पुरुष के निश्चय से तैलादि के कारण धूलि का बन्ध होता है। किन्तु तैलादि रहित कायिक चेष्टाओं से रज का बन्ध नहीं है इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव बहुत प्रकार की चेष्टाओं मे वर्त्तमान है, वह अपने उपयोग में रागादि भावों को करता हुआ कर्मरूप रज से लिप्त होता है अर्थात् बंधता है।

विशेषार्थ— यहां निश्चयनय की प्रधानता से कथन किया गया है। जो निर्बाध हेतु से सिद्ध हो वही निश्चय है, इसलिए बंध का कारण विचार करने से यही निर्बाध सिद्ध हुआ, कि मिथ्यादृष्टि पुरुष राग, द्वेष, मोह भावों को अपने उपभोग में करता है, इसलिए ये रागादिक ही बन्ध के कारण हैं। तथा अन्य जो कर्म योग्य पुद्गलों से भरा लोक तथा मन, वचन, काय के योग और चेतन-अचेतन का घात ये बन्ध के कारण नहीं हैं। यदि इन से बन्ध हो तो सिद्धों के यथाख्यात चारित्र वालो के, केवलज्ञानियो के तथा समितिधारी मुनियो के भी बन्ध का प्रसंग आ जायगा। परन्तु बन्ध उनके होता नहीं, इसलिए यह हेतु असद् हेतु रहा। अतः रागादि ही बन्ध के कारण हैं, यह निश्चय है।

आगे वीतराग सम्यग्दृष्टि के बन्ध का अभाव है, यह कहते हैं—

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते ।
रेणुबहुलह्मि ठाणे करेइ सत्थेहिं वायामं ॥ २४२ ॥
छिंददि भिददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥ २४३ ॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्चयदो चिंतिज्जदु किं पच्चयगो ण रयोबंधो ॥ २४४ ॥
जो सो दु णेहभावो तह्मि णो तेण रयबंधो ।
णिच्चयदो विराणेयं ण काय चेट्ठाहिं सेसाहि ॥ २४५ ॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टन्तो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥ २४६ ॥

यथा स एव पश्चाद्वै त्यक्तस्नेहस्तु मानवः ।
व्यायामं च करोत्यत्र स रेणुबहुले स्थले ॥ २४२ ॥
अनेकपादपान् तत्र छिनत्ति च भिनत्ति वै ।
सचित्ताचित्तवस्तूनामुपघातं करोत्यहो ॥ २४३ ॥
विविधैःकरणैश्चात्र, उपघातं च कुर्वतः ।
रजोबंधः कथं न स्याद् विशेयं चात्र कारणम् ॥ २४४ ॥

स्नेहभावाद्रजोबन्धो भवति पुरुषे ध्रुवम् ।
शेषाभिस्तनुचेष्टाभिर्भवति नैव तत्त्वतः ॥ २४५ ॥

बहुविधेषु योगेषु सम्यग्दृष्टिः प्रवर्त्तते ।
अकुर्वन् स च रागादीन् रजसा नैव लिप्यते ॥ २४६ ॥

भावार्थ— यदि फिर वही पुरुष अपने शरीर से तैल छुड़ाकर बहुत धूलि भरे स्थान में अर्थात् अखाड़े में जाकर व्यायाम आदि का अभ्यास करता है और अनेक वृक्षों का छेदन भेदन करता है, तथा पूर्ववत् सचित्त, अचित्त का घात भी करता है। नाना प्रकार के शस्त्रों से उपघात करते हुए उस मनुष्य के धूलि क्यों नहीं लगती ? इसका उत्तर यही है, कि निश्चय से उस तैल मले हुए पुरुष के जो तैल का सम्बन्ध था उसी से उसके धूलिका लगती थी अन्य शरीरादि की चेष्टा से नहीं। किन्तु इस मनुष्य के तैल का सम्बन्ध नहीं है इससे इसके धूलि का बंध नहीं होता है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव नाना प्रकार मन, वचन, काय के योगरूप व्यापारो मे प्रवृत्ति करता हुआ निर्मल तत्व का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होने के कारण से रागद्वेषादिरूप परिणाम नहीं करता है इसलिए कर्मरूपी धूल से लिप्त नहीं होता अर्थात् नहीं बंधता। जिस तरह तैल के लेप के अभाव मे उस पुरुष को रज (धूलि) नही चिपकती उसी तरह रागद्वेषरूपी तैल से रहित सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि भावों के अभाव से द्रव्यकर्मों का बध नही होता है।

सारांश यह है कि—

रक्तो बध्नाति कर्माणि विरक्तस्तु विमुच्यते ।
एष बन्धः समासो वै जीवानां नियतं विदुः ॥

अर्थात रागी जीव ही कर्मों को बांधता है तथा वैराग्यवान् पुरुष कर्मों से मुक्त होता है अर्थात शुभाशुभ कर्मों से नही बंधता है। यह बंधतत्व का संक्षेप से सार है।

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥

(इष्टोपदेश)

अर्थात् ममत्वबुद्धि वाला जीव कर्मों से बंधता है तथा ममता रहित जीव कर्मों से मुक्त होता है, इसलिए सब तरह प्रयत्न करके निर्ममत्व भाव का चिन्तवन करना चाहिए।

अब मिथ्यादृष्टि के आशय को आगे की गाथा में प्रगट करते हैं—

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहि सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २४७ ॥

हिंस्येऽहं च परैः सत्त्वैर्हिनस्म्यन्यांश्च मन्यते ।
अज्ञः स नैव जानाति नात्मा हन्ति न हन्यते ॥ २४७ ॥

भावार्थ— जो पुरुष ऐसा मानता है, कि मैं परजीवों को मारता हूं और मैं परजीवो के द्वारा मारा जाता हूं वह मोही, अज्ञानी है। क्योंकि आत्मा न मरती है और न मारती है।

विशेषार्थ— जो ऐसा मानता है कि मैं अन्य जीवों को मारता हूँ व अन्य जीवों के द्वारा मैं मारा जाता हूं, वह जीव निश्चय से अज्ञानी है। यही अज्ञानभाव कर्मबंध का कारण है। परन्तु तत्वज्ञानी आत्मा इससे विपरीत है, उसके हिंसारूप व हिंस्यरूपभाव नहीं होते। जो कोई जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुख, शत्रु, मित्र, निन्दा, प्रशंसा आदि विकल्पों में राग, द्वेष नहीं करता हुआ शुद्धात्मिक भावना से उत्पन्न होने वाले परमानन्द सुख के आस्वाद में व भेदविज्ञान मे ही रत रहता है, वह ज्ञानी है।

यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? उत्तररूप गाथा कहते हैं—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं॥ २४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेसिं॥ २४६॥

आयुःक्षयेण जीवानां प्रज्ञप्तं मरणं जिनैः।
नायुर्हरसि तेषां त्वं न मरणं कृतं त्वया॥ २४८॥
आयुःक्षयेण जीवानां प्रज्ञप्तं मरणं जिनैः।
हरत्यन्यो न चायुस्ते किं तेन मरणं कृतम्॥ २४९॥

भावार्थ— निश्चयकर जीव का मरण उसके आयुकर्म के क्षय से ही होता है। यदि आयु का क्षय न हो तो उसको कोई नहीं मार सकता। तथा अपना आयुकर्म अन्य द्वारा हरा नहीं जा सकता, आयुकर्म तो अपने उपभोग से ही क्षय को प्राप्त होता है, इसलिए अन्य, अन्य का मरण किसी तरह भी नहीं कर सकता है। इसलिए जो ऐसा मानता है, कि मैं परजीव को मारता हूं तथा परजीव मुझे मारता है ऐसा अध्यवसाय निश्चय से अज्ञान है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम्॥

(कलश)

भावार्थ— अज्ञानी जीव व ज्ञानी जीव की मान्यता मे महान् अन्तर है। अज्ञानी जीव की ऐसी मान्यता है कि एक जीव दूसरे जीव को सुखी, दुःखी कर सकता है, जीवित कर सकता है तथा मार सकता है। किन्तु ज्ञानी जीव मानता है, कि जब तक किसी जीव का आयुःकर्म शेष है। तब तक वह अवश्य जीवित रहेगा। जिस के पुण्यकर्म का उदय होगा वह अवश्य सुखी होगा पापकर्म का उदय होने पर उसे कोई सुखी नहीं कर सकता, ऐसा विचार कर ज्ञानी सिंहवृत्ति से निर्भय हो विचरता है।

आगे आचार्य रक्षा के सम्बन्ध में कहते हैं—

जो मरणदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५० ॥

जीव्ये तथा परैः सत्वैर्जीवयामि च मन्यते ।
विमूढात्मा स चाज्ञानी ज्ञानी नैव विमुह्यति ॥ २५० ॥

भावार्थ— जो जीव ऐसा मानता है, कि मैं परजीवों की रक्षा करता हूं, तथा परजीव मेरी रक्षा करते हैं। वह मूढ़ अज्ञानी है। किन्तु ज्ञानी इस से विपरीत है अर्थात् ऐसा नहीं मानता है।

विशेषार्थ— परजीवों को मैं जीवित करता हूँ तथा परजीव मुझे जीवित करते हैं। इस प्रकार का आशय निश्चय से अज्ञान है। जिसका यह आशय हो वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। और जिसका ऐसा आशय नहीं है, वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है।

अर्थात् आचार्य कहते हैं, कि जो व्यक्ति इस बात का अभिमान करता है कि मैंने इसे जिला दिया अथवा मैंने इसको मार दिया यह अभिमान उसका मिथ्या अभिमान है। क्योंकि मरना और जीना तो आयुकर्म के आधीन है। इसलिए उक्त प्रकार का अभिमानयुक्तभाव बन्ध का ही कारण है। किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के इस प्रकार का रागात्मकभाव उत्पन्न नहीं होता। अतः उसके बन्ध भी नहीं होता।

इसी विषय पर श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥
(कलश)

भावार्थ— मिथ्यादृष्टि कर्मोदय के फल को न जानता हुआ यह मानता है कि एक जीव, दूसरे जीव को मारता है, जिलाता है तथा सुखी, दुःखी करता है। ऐसे मिथ्यादृष्टियों को कभी आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं होता। इसीलिए वह संसार मे भ्रमण करता रहता है।

ये रागादिभाव कैसे अज्ञानरूप है ? यह बताते हैं—

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कह तए जीवियं कयं तेसिं ॥२५१॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु जीवियं कयं तेहिं ॥२५२॥

एवं वदन्ति सर्वज्ञाः जीवो जीवति चायुषा ।
जीवितं किं कृतं तस्य न त्वमायुर्ददासि चेत् ॥ २५१ ॥

स जीवत्यायुषाजीवः कथितश्च जिनैरिति ।
परस्ते न ददात्यायुः किं तव जीवितं कृतम् ॥ २५२ ॥

भावार्थ— जीव अपनी आयु के उदय से जीता है ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। इसलिए तू परजीव को आयुकर्म नहीं देता, तो तूने उन परजीवों को जीवित कैसे किया? तथा परजीव तुझे आयुकर्म नहीं देते, तो उन्होने तुझे जीवित कैसे किया?

विशेषार्थ— जीव का जीवित रहना अपने आयुकर्म के उदय से होता है। और यदि आयुके उदय का अभाव हो, तो उसका जीवित रहना अशक्य है। तथा अपना आयुकर्म एक दूसरे को नहीं दे सकता, वह आयुकर्म अपने परिणामों से ही बंधता है, इसलिए एक दूसरे को जीवित किसी तरह भी नहीं कर सकता। अतः मैं पर को जिलाता हूँ तथा पर मुझे जिलाता है, यह केवल अज्ञानभाव ही है।

जैसा कि कहा है—

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम् ।
आयूरक्षति मर्माणि आयुरन्नं प्रयच्छति ॥

अर्थात् अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएं थी। (१) न तो किसी के सामने दीनता के वचन कहना (२) युद्ध से नही भागना। क्योकि उसका अटल विश्वास था कि आयु शेष रहने पर मर्मस्थलो की रक्षा अवश्य होगी और जब तक आयु है तब तक अन्न अवश्य मिलेगा।

सुख, दुःख भी कर्मोदय से ही होते है, अब यह बताते हैं—

जो अप्पाणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एदो दु विवरीदो ॥ २५३ ॥

दुखितान्सुखितान्सत्वान् करोमीति यो मन्यते ।
स तु मन्दमतिर्मूढो विपरीतो भवेद्बुधः ॥ २५३ ॥

भावार्थ— जो जीव ऐसा मानता है, कि मैं परजीवो को दुःखी, सुखी करता हूँ। वह अज्ञानी है, मूर्ख है। तथा ज्ञानी इस से विपरीत है।

विशेषार्थ— परजीवो को मैं दुःखी तथा सुखी करता हूं तथा परजीव मुझे दुःखी सुखी करते हैं। यह केवल अज्ञान है। वह जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। तथा जिसके यह अज्ञान नही है, वही ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है।

इसी विषय को पुनः पुष्ट करते हैं—

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते ॥२५४॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥ २५५ ॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥ २५६ ॥

दुःखिताः सुखिताः सर्वे कर्मोदयेन सन्ति वै ।
न च कर्म ददासि त्वं कथं ते दुःखिताः कृताः ॥ २५४ ॥
दुःखिताः सुखिताः सर्वे भवन्ति कर्मणा यदि ।
ददति नैव ते कर्म कथं तै र्दुःखितः कृतः ॥ २५५-२५६ ॥

भावार्थ— सब जीव अपने कर्म के उदय से सुखी दुःखी होते हैं, इसलिए तू उनको कर्म नहीं दे सकता, फिर तू उनको सुखी व दुःखी कैसे कर सकता है ? सब जीव, तुमको कर्म नहीं दे सकते तो फिर वे तुझे सुखी व दुःखी कैसे कर सकते हैं।

विशेषार्थ— जीवों के सुख दुःख अपने कर्म के उदय से होते हैं, तथा एक जीव अपना कर्म दूसरे को नहीं दे सकता। क्योंकि वह कर्म अपने अपने परिणामों से ही उत्पन्न होता है। इसलिए एक, दूसरे को सुख दुःख किसी भी तरह नहीं दे सकता है । अतः जो ऐसा मानता है कि मैं परजीवों को सुखी दुःखी करता हूँ, तथा परजीव मुझे सुखी दुःखी करते हैं, यह अज्ञान है।

आगे इसी अर्थ को गाथा मे कहते हैं—

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥ २५७ ॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
तह्मा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥

जायते म्रियते सर्वः कर्मणा दुःखितस्तथा ।
मारितो दुःखितश्चन्वै रिति मिथ्या मतिस्तव ॥ २५७ ॥
म्रियते दुःखितो यो न कर्मोदयेन सोऽपि च ।
तास्माच्च मारितो नैव दुःखितश्चेति नैव वा ॥ २५८ ॥

भावार्थ— उत्पन्न होना, मरना दुःखी, सुखी होना यह कर्मोदय से ही होता है। इसलिए तेरा यह (मैं मारा गया, दुःखी किया गया) ज्ञान क्या मिथ्या नहीं है ? अर्थात् मिथ्या ही है। तथा न मरना, न दुखी होना, यह भी कर्मोदय से ही होता है। अतः (मैं मारा गया दुःखी किया गया) यह सब मिथ्या ज्ञान ही है।

विशेषार्थ— जो मरता है, उत्पन्न होता है, तथा सुखी, दुःखी होता है, वह अपने कर्मोदय से ही होता है। इसलिए "मैं मारा गया, मैं जिलाया गया मैं सुखी किया गया, मैं दुःखी किया गया" ऐसा भाव केवल मिथ्यात्व ही है।

अर्थात् कोई किसी का मारा मरता नहीं, और न किसी का जिलाया हुआ जीता है तथा नही अन्य के द्वारा सुखी, दुःखी हो सकता है। इसलिए मारने, आदि का जो भाव है, वह मिथ्याभाव ही है। यह कथन निश्चयदृष्टि से किया है।

मिथ्याज्ञान ही शुभाशुभ कर्मों के बन्ध का कारण है, अब यह बताते हैं—

एसा दु जा मई दे दुःखिद सुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥ २५६ ॥

दुःखितान्सुखितान्सत्वान् धीरस्येति करोम्यहम् ।
शुभाशुभं स बध्नाति कर्म मन्दमतिः सदा ॥ २५९ ॥

भावार्थ— जिसकी यह बुद्धि है, कि मैं जीवों को सुखी दुःखी करता हूं। यह उसकी मूढ़ बुद्धि ही शुभाशुभ कर्मों का बन्ध करने वाली होती है।

विशेषार्थ— मै परजीवो को मारता हूं, सुखी करता हूं, दुःखी करता हूँ, यह अज्ञान अर्थात् मिथ्यात्व है, यही रागादिरूप होने से शुभाशुभ कर्मों के बन्ध का कारण है।

आगे बतलाते हैं कि मिथ्या अध्यवसाय ही नियम से बन्ध का कारण है—

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुराणस्स वा बंधगं होदि ॥ २६० ॥
मारेमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुराणस्स वा बंधगं होदि ॥ २६१ ॥

दुःखितान्सुखितान्सत्वान् करोमीति च भावतः ।
पापं पुण्यं च बध्नाति भवति तेन बंधकः ॥ २६० ॥
मारयामि तथा सत्वान् जीवयामीति भावतः ।
पापं पुण्य च बध्नाति भवति तेन बधकः ॥ २६१ ॥

भावार्थ— मैं जीवो को सुखी, दुःखी करता हूं इस प्रकार का जो भाव है वही पुण्य तथा पाप के बंध का कारण है। तथा मैं जीवो को मारता हूँ, अथवा जिलाता हूँ यह जो भाव है वही पाप अथवा पुण्य बध का कारण है।

विशेषार्थ— मैं जीवों को मारता हूं या जिलाता हूं, जो ऐसा तेरा भाव है वह रागादि भाव है। यह तेरे उसी समय होता है जब तू शुद्धात्मा के श्रद्धान ज्ञान तथा आचरण से रहित होता है और यही रागादिभाव तेरे पाप या पुण्य बंध का कारण है।

पुनः इसी विषय को पुष्ट करते हैं—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेऊ ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २६२ ॥

बन्धश्चाध्यवसायेन सत्वान्मारय वा न वा ।
एष बन्धसमासो वै जीवानां निश्चयान्नयात् ॥ २६२ ॥

भावार्थ— निश्चयनय का यह पक्ष है, कि जीवो को मारो अथवा मत मारो, जीवो के यह कर्मबन्ध, अध्यवसाय से ही होता है। यही बधतत्त्व का सक्षेप से सार है।

हिसा आदि का अध्यवसान ही अन्य कार्यों में भी पुण्यपाप के बन्ध का कारण है, ऐसा दिखाते हैं—

एवमलिए अदत्ते अवंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झए पावं ॥ २६३ ॥
तहवि य सच्चे दत्ते वंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झए पुण्णं ॥ २६४ ॥

अलीकेऽब्रह्मचर्ये वै स्तेये परिग्रहे तथा।
क्रियतेऽध्यवसानं यत् पापं तेन तु बध्यते ॥ २६३ ॥
अहिंसास्तेयसत्येषु तथाऽपरिग्रहादिषु।
क्रियतेऽध्यवसानं यत् पुण्यं तेन तु बध्यते ॥ २६४ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार हिंसा मे अध्यवसान होता है, उसी प्रकार असत्य, चोरी आदि से भी, बिना दिये परधन का लेना, स्त्री का ससर्ग, धनधान्यादिक इनमें जो अध्यवसान किया जाता है उससे तो पाप का बध होता है। तथा उसी प्रकार अहिसा में, सत्य मे, दिया हुआ लेने मे, ब्रह्मचर्य मे और अपरिग्रह में जो अध्यवसान किया जाता है, उससे पुण्य-बध होता है।

विशेषार्थ— जिस तरह हिसा मे अध्यवसान होता है उसी तरह असत्यभाषण मे, बिना दी हुई वस्तु के लेने मे, कुशीलभाव मे, धनधान्यादि परिग्रह मे, जो रागादि अध्यवसान किया जाता है। उसी रागभाव से पाप का बध होता है। वैसे ही अचौर्य में सत्य मे, ब्रह्मचर्य मे तथा परिग्रह के त्याग मे किया गया जो रागादि अध्यवसान हैं, उसी रागभाव से पुण्य का बध होता है।

आगे बाह्यपदार्थ रागादि परिणाम के कारण है और वे रागादि परिणाम कर्मबध के कारण हैं, ऐसा कथन करते हैं—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥ २६५ ॥

वस्तु प्रतीत्य जीवानां रागाद्याश्च भवन्ति वै।
न बधो वस्तुतो जातु बंधोरागाद्भवेद्ध्रुवम् ॥ २६५ ॥

भावार्थ— वस्तु के आश्रय से जीवो के अध्यवसान अर्थात् रागादिभाव होते हैं। किन्तु वस्तु से बन्ध नहीं होता है, बन्ध तो अध्यवसान से ही होता है।

विशेषार्थ— चेतन व अचेतन पांचों इन्द्रियो के ग्रहण मे आने योग्य पदार्थों को प्रतीति मे लेकर व उनके आश्रय से ससारी जीवो के यह प्रसिद्ध रागद्वेषभावरूप अध्यवसान होता है। बाह्य वस्तुओं की निकटता होने से कर्मो का बध नही होता है। किन्तु उन पदार्थों मे रागादिरूप अध्यवसान से ही बंध होता है।

अब यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है, कि चेतन पदार्थ, स्त्री, पुत्र मित्रादि, अचेतन पदार्थ धन, धान्यादि इनकी निकटता होने से कर्मों का बन्ध क्यों नही होता है ? आचार्य महाराज उत्तर देते हैं, कि बाह्य वस्तु तथा कर्मों के बंध का परस्पर अन्वय व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता, किन्तु व्यभिचार आता है । क्योकि यह नियम नहीं है कि बाह्य वस्तुओं के होते हुए नियम से कर्मों का बंध होवे ही । इसलिए अन्वयपना नहीं है । इसी प्रकार यह भी नियम नहीं है कि बाह्यवस्तुओं के सम्बन्ध न होने पर कर्मों का बंध न हो, इससे व्यतिरेकपना भी नहीं है ।

अब यहां पर फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि जब यह बात है तब किस लिए बाहरी वस्तुओ का त्याग किया या कराया जाता है ?

इसका उत्तर यह है, कि रागादि भावो के त्याग करने के लिए बाहरी पदार्थों का त्याग किया जाता है ।

साराश यह है कि बाह्य पाचो इन्द्रियों के विषयरूप पदार्थों के होते हुए अज्ञानभाव से रागादिक अध्यवसान होता है और उस रागादिभाव से कर्मों का बंध होता है, इसलिए परम्परा से चेतन व अचेतन बाह्य वस्तु बध का कारण होती हैं । वे साक्षात् बध का कारण नही है । परन्तु रागादि अध्यवसान निश्चय से साक्षात् बध का कारण होता है ।

अब रागादि का मिथ्यात्व सिद्ध करते है—

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढमई णिरत्थया साहु दे मिच्छा ॥ २६६ ॥

दुःखितान्सुखितान्जीवान् करोमि बंधयामि वा ।
मोचयामीति बुद्धिस्ते मोहरूपा निरर्थिका ॥ २६६ ॥

भावार्थ— जो तेरी ऐसी मूढ़ बुद्धि है कि मैं जीवो को दुःखी करता हूं सुखी करता हूं, बांधता हूँ व छुड़ाता हूं, यह तेरी मोहस्वरूप बुद्धि निरर्थक है ।

विशेषार्थ— मै परजीवो को दुःखी करता हूं, सुखी करता हूँ, बांधता हूँ तथा छुड़ाता हूँ इत्यादि जो यह अध्यवसान है, वह सभी मिथ्या है । क्योकि परभाव का परमे व्यापार न होने से यह भाव स्वार्थ क्रियाकारी नही है, परभाव परमें प्रवेश नही करता है । अतः दूसरे की रक्षा करना अशक्य है । क्योकि सुखदुःखादि सब अपने कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होते हैं ।

यह अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया का कर्ता क्यों नहीं है ? अब यह बतलाते हैं—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा वज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करोसि तुमं ॥ २६७ ॥

बध्यन्ते कर्मणा जीवा रागभावेन चेत्तदा ।
करोष्यध्यवसानं किं मुच्यन्ते मोक्षमार्गिणः ॥ २६७ ॥

भावार्थ— रागद्वेषादि अध्यवसान के निमित्त से ये जीव यदि कर्मों से बंधते हैं तथा जो मोक्षमार्ग में स्थित है वे कर्मों से मुक्त होते हैं तो, तू क्यो रागादिभाव करता है ?

विशेषार्थ— यदि निश्चय से यह जीव, अपने ही मिथ्यात्व व रागद्वेषादि अध्यवसान के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों के द्वारा बंध को प्राप्त होता है तथा शुद्धात्मा के यथार्थश्रद्धान, ज्ञान तथा आचारणरूप निश्चय रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग मे स्थित होकर कर्मों से मुक्त होता है, तो तू रागादि अध्यवसान क्यो करता है ?

इसी अर्थ को गाथा मे स्पष्टरूप से कहते हैं—

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥ २६८ ॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणम् ॥ २६९ ॥

नारकतिर्यगादीन्वा रागादिभिः करोतिचित्।
देवांश्च मनुजान्सर्वान् पुण्य पाप च नैकधम् ॥ २६८ ॥
जीवाजीवौ तथा लोकं धर्माधर्मं जगत्तथा।
रागभावेन चात्मानं जीवः सर्वान्करोति वै ॥ २६९ ॥

भापार्थ— जीव, अध्यवसान के द्वारा ही नारक तिर्यञ्च, देव, मनुष्यादि सभी पर्यायो को प्राप्त करता है। तथा अनेक प्रकार के पुण्य पापो को प्राप्त करता है। एव धर्म, अधर्म जीव, अजीव, लोक और अलोक इन सभी को अध्यवसान के द्वारा आत्मस्वरूप कर लेता है।

विशेषार्थ— यह आत्मा, रागरूप अध्यवसान के निमित्त से सब ही उदय मे प्राप्त नरकगत्यादि कर्मोदय के वश से नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवरूप, नाना प्रकार के पुण्य व पापरूप सब भावो को अपना कर लेता है। अर्थात विकार रहित परमात्मतत्व के ज्ञान को भूलकर मैं नारकी हूं, तिर्यंच हूँ इत्यादि उदय मे प्राप्त कर्मो द्वारा होने वाले विभावरूप परिणामो का अपनी आत्मा के साथ सम्बन्ध कर लेता है। तथा रागादिरूप विकल्प अर्थात् अध्यवसान के द्वारा धर्म, अधर्म, जीव, अजीव, लोक, और अलोक आदि सब ज्ञेय पदार्थो को अपना मान लेता है अर्थात अपनी आत्मा से उनका सम्बन्ध जोड लेता है।

साराश यह है, कि जैसे घट के आकार रूप परिणमन करने वाले ज्ञान को उपचार से घट कहते हैं, वैसे ही धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थों के विषय मे यह धर्म है, यह अधर्म है इत्यादि जो जाननेरूप विकल्प है उसको भी उपचार से धर्मास्तिकाय आदि कहते हैं। ऐसा क्यो कहते है ? यह प्रश्न उपस्थित हुआ।

उत्तर— उस जाननेरूप विकल्प का विषय धर्मास्तिकाय आदिक है। जब यह आत्मा स्वस्थभाव अर्थात आत्मा मे लीनरूप समाधिभाव से च्युत होकर यह विकल्प करता है, कि यह धर्मास्तिकाय है व यह अधर्मास्तिकाय है इत्यादि । तब इस प्रकार के विकल्प के करते हुए धर्मास्तिकाय आदि ही उपचार से किये गए, ऐसा कहने मे आता है । अर्थात् उस आत्मा का सम्बन्ध ज्ञेय पदार्थों से ज्ञेयाकार हो रहा है।

आगे कहते हैं, कि जिनके ऐसा अध्यवसान नही है, वे मुनि कर्म से लिप्त नहीं होते हैं—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥ २७० ॥

येषामध्यवसानानि नैवमादीनि सन्ति ते ।
मुनयो नैव लिप्यन्ति शुभाशुभेन कर्मणा ॥ २७० ॥

भाषार्थ— इस प्रकार जो उपर्युक्त शुभ या अशुभ कर्मबन्ध के निमित्तभूत, रागादि अध्यवसान से रहित हैं, वे ही मुनि शुभाशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं।

सारांश यह है, कि जिस समय शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप निश्चय रत्नत्रयमई भेदविज्ञान इस जीव के नहीं होता है, तब यह कभी हिंसा सम्बन्धी अध्यवसान करता है कि मैं जीवों की हिंसा करता हू, कभी कर्मोदयरूप अवस्था का अध्यवसान करता है कि मै नारकी आदि हूँ, कभी ज्ञेय पदार्थों में जाननेरूप अध्यवसान करता है कि यह धर्मास्तिकाय आदि है इत्यादि। इन अध्यवसानो को विकल्प रहित शुद्धात्मा से भिन्न नहीं जानता है। इस तरह इन अध्यवसानो को शुद्धात्मा से अभिन्न अनुभव करता हुआ हिंसा आदि के अध्यवसान सम्बन्धी विकल्पो के साथ अपनी आत्मा का अभेदरूप से श्रद्धान करता है, जानता है, अनुभव करता है तब यह मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होजाता है। इसी से इसके कर्मों का बन्ध होता है।

अब आचार्य अध्यवसान का स्वरूप बतलाते हैं—

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं ।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥ २७१ ॥

विज्ञानबुद्धिभावाश्च मतिरध्यवसानकम् ।
परिणामश्च चित्तं वा व्यवसायः समार्थकम् ॥ २७१ ॥

भाषार्थ— बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान चित्त, भाव और परिणाम ये सब शब्द, एकार्थ वाचक है। इनमे केवल नामभेद है। परन्तु इनका अर्थ पृथक् २ नहीं है।

विशेषार्थ— बुद्धि अर्थात् समझ, व्यवसाय अर्थात् जानने रूप व्यापार, अध्यवसान अर्थात् परपदार्थ मे ममत्व बुद्धि मति अर्थात् मनन या पर्यालोचन, विज्ञान अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाय, चित्त अर्थात् चिन्तवनरूप व्यापार, परिणाम अर्थात् परिणमन इत्यादि सब शब्द एकार्थवाची ही हैं। इनमे शब्दभेद होने पर भी अर्थभेद नहीं है। किन्तु रूढनय की अपेक्षा से सब ही अध्यवसान के ही अर्थ हैं। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन शब्दो मे व इनके कार्यरूप अर्थों में भेद होने पर भी ये सब समभिरूढनय से इन्द्र ही के नाम हैं। वैसे ही बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त भाव और परिणाम मे शब्द और क्रिया का भेद होते हुए भी सब ही समभिरूढ-नय की अपेक्षा से अध्यवसान के ही वाचक हैं।

आगे इसी अर्थ को गाथा मे कहते हैं—

एवं ववहार णओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ २७२ ॥

व्यवहारो निषिद्धःस्यात् नयेन निश्चयेन वै ।
मुनयो निश्चये लीना मोक्षं यान्ति न संशयः ॥ २७२ ॥

भावार्थ— उपर्युक्त रीति से निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय निषेध करने योग्य है ऐसा जानो। क्योंकि निश्चयनय मे संलग्न मुनि, ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

विशेषार्थ— पूर्वोक्त प्रकार से परद्रव्य का आश्रय लेने वाला व्यवहारनय, शुद्धात्मिक द्रव्य का आश्रय लेने वाले निश्चयनय की अपेक्षा से निषिद्ध है । क्योंकि निश्चय में आश्रयीभूत मुनि ही, मोक्ष प्राप्त करते हैं।

सारांश यह है, कि प्राथमिक शिष्य की अपेक्षा से प्रारम्भ की अवस्था मे अर्थात् विकल्प सहित दशा मे श्रावक व मुनि के बाह्य आचरणों का अभ्यास करते हुए यह व्यवहारनय, निश्चयनय को सिद्ध करने वाला है। इससे सप्रयोजन है— कार्यकारी है। तथापि जो विशुद्धज्ञान-दर्शन लक्षण को रखने वाले शुद्धात्मा के स्वरूप मे स्थित मुनि, तपस्वी व ध्यानी हैं उनके लिए यह व्यवहारनय प्रयोजनभूत नहीं है। इसपर प्रश्न उपस्थित होता है कि यह अप्रयोजनीय क्यो है ?

उत्तर— आचार्य महाराज कहते है, कि इसका आश्रय वह अभव्य भी लेता है जो कर्मो से मुक्त नही हो सकता, अर्थात् यह नय आत्मा को कर्मों से मुक्त करने मे कारणरूप नहीं है।

अभव्य जीव व्यवहारनय को कैसे आश्रय करता है ? इसके उत्तररूप गाथा कहते है—

वद समिदी गुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पराणत्तं ।
कुव्वंतोवि अभव्वो अराणाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥ २७३ ॥

जिनैः प्रोक्त व्रतशीलतपःसमितिगुप्तिकम् ।
कुर्वन्नपि तथाऽभव्यो मिथ्यादृष्टि र्भवेद्ध्रुवम् ॥ २७३ ॥

भावार्थ— व्रत, समिति, गुप्ति, शील तप, जो जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे गये है उनको करता हुआ भी अभव्य जीव, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है।

विशेषार्थ— जिनेन्द्रदेव ने व्रत, समिति, गुप्ति, शील, व तपश्चरणादि को व्यवहारधर्म कहा है। अभव्य जीव, मन्दमिथ्यात्व और मन्दकषाय के उदय से इन व्रतादिको को पालता हुआ भी अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही कहलाता है। क्योंकि उसके मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व और चार अनन्तानुबन्धी कषाय, इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय नही होता है। इससे उसके यह श्रद्धान नही होता, कि शुद्धात्मा ही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है अर्थात सम्यक्त्व के अभाव मे उसके यथार्थ मोक्षमार्ग नहीं होता है। इससे सिद्ध हुआ, कि सम्यक्त्व के बिना व्यवहार धर्म मोक्षमार्ग का कारण नहीं है।

अभव्य को ग्यारह अंग का ज्ञान होता है उसको अज्ञानी कैसे कहा ? उत्तररूप गाथा कहते हैं—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥ २७४ ॥

मोक्षमश्रद्दधानस्य सर्वशास्त्रविदोऽपि वा ।
आत्मश्रद्धां विना तस्य ज्ञानं पाठः करोति न ॥ २७४ ॥

भावार्थ— मोक्ष का श्रद्धान नहीं करने वाला अभव्य जीव शास्त्र को पढ़ता है। किन्तु उसका यह शास्त्राभ्यास यथार्थ ज्ञान को प्रगट नहीं करता है। क्योंकि उसको शुद्धात्मा के ज्ञान का श्रद्धान नहीं होता।

विशेषार्थ— मोक्षतत्व का श्रद्धान नहीं करने वाला अभव्य जीव, यद्यपि अपनी ख्याति के लिए शास्त्राभ्यास करता है। किन्तु शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुष्ठानरूप निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभवने योग्य शुद्धात्मा के स्वरूप का श्रद्धान न होने अर्थात् निजात्मीय तत्व की रुचि न होने के कारण उसका वह शास्त्राभ्यास शुद्धात्मा के अनुभवरूप गुण प्रगट नहीं करता।

यह अभव्य जीव दर्शन और चारित्रमोहनी के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय के बिना शुद्धात्मस्वरूप का श्रद्धान नहीं कर पाता है। सम्यक्त्व की नाशक प्रकृतियों का उपशम इस अभव्य जीवके नहीं होता। क्योंकि इस जीव के अभव्यनामक पारिणामिकभाव का सद्भाव है।

अभव्य को धर्म का श्रद्धान तो होता है फिर निषेध कैसे किया जा सकता है? इसके उत्तररूप गाथा कहते है—

सद्दहदि य पत्तेदिय रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ २७५ ॥

प्रत्येति श्रद्धात्येव स्पृशति रोचयत्यहो।
धर्मं भोगनिमित्तं न स कर्मक्षयकारणम् ॥ २७५ ॥

भावार्थ— अभव्य जीव सांसारिक भोगो के लिए धर्म का श्रद्धान करता है जानता है, रुचि करता है तथा उसका आचरण करता है। किन्तु कर्मों के नाश का कारणभूत जो निश्चय धर्म है, उसका श्रद्धान, ज्ञान व आचरण नहीं करता।

विशेषार्थ— अभव्य जीव, इन्द्रादिक के भोगों अर्थात् उत्तमोत्तम सुखो की प्राप्ति के लिए पुण्यरूप शुभोपयोग धम मे श्रद्धान करता है, उसको ज्ञानरूप से समझता है तथा रुचि करता है और उसी का आचरण भी करता है। किन्तु संसार कारण के कर्मों का क्षय करने वाले निश्चय धर्म का न श्रद्धान करता है न जानता है और न उसका आचरण करता है।

अब आचार्य निश्चयनय का स्वरूप बताते हैं—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥ २७६ ॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥ २७७ ॥

आगमादि तथा ज्ञानं ज्ञेयं जीवादि दर्शनम्।
जीवरक्षात्मकं वृत्तं मोक्षमार्गो विकल्पतः ॥ २७६ ॥

आत्मा मे दर्शनं ज्ञानमात्मा च चरणं तथा।
प्रत्याख्यानश्च योगश्च ह्यात्मा संवर इत्यपि ॥ २७७ ॥

भावार्थ— आचारांगादि शास्त्र ज्ञान है तथा जीवादि तत्त्व दर्शन है और छःकाय के जीवों की रक्षा चारित्र है। इस तरह व्यवहारनय का कथन है। तथा मेरा आत्मा ही दर्शन है मेरा आत्मा ही चारित्र है, मेरा आत्मा प्रत्याख्यान है, और मेरा आत्मा ही संवर और योग है। यह ही निश्चयनय है।

विशेषार्थ— आचार सूत्रादि ग्यारह अंग का शब्द शास्त्र, ज्ञान का आश्रय होने के कारण से ज्ञान है। और जीवादि सप्ततत्त्व व पुण्य-पाप, ये नवपदार्थ श्रद्धान के विषयीभूत हैं। तथा निश्चय सम्यक्त्व के आश्रयरूप व निमित्तरूप है। किन्तु व्यवहार से नवपदार्थ सम्यक्त्वरूप हैं। पृथ्वीकाय आदि छहकाय के जीवों की दया पालना चारित्र के आश्रयरूप व निमित्त कारण होने से व्यवहार से चारित्र है। यह कथन तो व्यवहारनय का है। अर्थात् शास्त्रपाठ, जीवादि-तत्त्वों का श्रद्धान और छहकाय के जीवों की रक्षा, व्यवहार मोक्षमार्ग कहा गया है।

अपना शुद्धात्मा ही ज्ञान का आश्रय व निमित्त होने से निश्चयनय से मेरा सम्यक्ज्ञान है। अपना शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन का आश्रय व कारण होने से निश्चय से सम्यक् दर्शन है। तथा अपना शुद्धात्मा ही चारित्र का आश्रय व कारण होने से निश्चय से चारित्र है। शुद्धात्मा ही रागद्वेषादि विभावरूप भावों का परित्यागरूप लक्षणमई प्रत्याख्यान का आश्रय व कारण होने से निश्चय से प्रत्याख्यान है। अपना शुद्धात्मा ही अपने शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति के बल से हर्ष विषादादि कुभावों के रोकने रूप लक्षण को रखने वाले संवर का आश्रय होने से संवर है। तथा शुभाशुभ चिन्ता रोकने रूप लक्षण को रखने वाले परम ध्यानमई योग का आश्रय होने से यह आत्मा ही परम योग है। इस तरह शुद्धात्मा का आश्रय लेकर निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप जानना चाहिए। इस तरह यह व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का कथन किया गया है।

आगे रागादि का निमित्त कारण क्या है ? यह बतलाते हैं—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहि दु सो रत्तादीहि दव्वेहिं ॥ २७८ ॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहि दु सो रायादीहिदोसेहिं ॥ २७९ ॥

शुद्धो मणिश्चरागाद्यै न परिणमते स्वयम्।
स च रक्तादिभिर्द्रव्यै रज्यतेऽन्यैश्च वै स्फुटम् ॥ २७८ ॥
न परिणमते रागाद्यैर्ज्ञानी शुद्धः स्वयं तथा।
स तु रागादिभिर्दोषै रन्यैश्चरज्यते तथा ॥ २७९ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वभावतः निर्मल होती है, इसलिए स्वयं लाल रंगादिरूप परिणमन नहीं करती है। किन्तु जपाकुसुमादि लाल पीले रंग के द्रव्यों के निमित्त से वह लाल पीली दिखलाई पड़ती है। इसी तरह ज्ञानी स्वभावतः शुद्ध निर्विकार है, इसीलिए वह

स्वयं रागद्वेषादिभावरूप परिणमन नहीं करता है। किन्तु वह अन्य पुद्गलमय मोहनीय आदि कर्म पुद्गलो के उदय के निमित्त से रागद्वेषरूप होजाता है।

विशेषार्थ— जैसे स्फटिक मणि स्वभाव से तो निर्मल है, इसलिए वह लाल रंग आदि अवस्थारूप परिणमन नहीं करती। किन्तु अन्य बाह्य पदार्थों के निमित्त से अन्य वर्णरूप परिणमन करती है। इसी तरह सम्यक् ज्ञानी पुरुष स्वभाव से शुद्ध होता है। इसलिए रागादिक विकारभावरूप परिणमन नहीं करता है। किन्तु अपने स्वाभाविक आत्मीय स्वभाव से च्युत होकर अन्य कर्मो के उदयरूप रागादि दोषो के निमित्त से रागद्वेषरूप परिणत किया जाता है। अतः यह सिद्ध होगया कि ये रागादिभाव कर्मोदय जनित हैं। ज्ञानी जीव के द्वारा उत्पन्न नहीं किये गये हैं।

इसी आशय को आगे की गाथा में कहते हैं—

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारको तेसिं भावाणं॥ २८०॥

ज्ञानी कषायभावं वा द्वेषं मोहं करोति न।
स्वयं तेनात्मन स्तेषां भावानां नैव कारकः॥ २८०॥

भावार्थ— ज्ञानी, राग, द्वेष, मोह व कषायभाव स्वय अपनी आत्मा के नहीं पैदा करता है। इसलिए वह ज्ञानी रागादिभावो का स्वय कर्त्ता नहीं होता है।

विशेषार्थ— सम्यग्ज्ञानी आत्मा रागद्वेषादि विभावो से रहित शुद्धात्मिक स्वभाव से पृथक् २ राग, द्वेष, मोह को अथवा क्रोधादि कषाय भाव को स्वयं कर्मोदयरूप सहकारी कारण के बिना शुद्धात्मिकभाव के द्वारा अपनी आत्मा के सम्बन्ध मे नहीं करता है। इस कारण से वह ज्ञानी, उन रागद्वेषादिभावो का कर्त्ता नही होता।

अज्ञानी रागादि का कर्ता कैसे होता है, अब यह बतलाते हैं—

रायह्मि य दोसह्मि य कसाय कम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणोवि॥ २८१॥
रायह्मि य दोसह्मि य कसाय कम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा॥ २८२॥

रागे द्वेषे च ये भावाः कषायकर्मणीह च।
रागादिकन्तु बध्नाति तैश्चित् परिणमन्सदा॥ २८१-२८२॥

भावार्थ— राग, द्वेष व कषायरूप द्रव्यकर्मों के उदय से जो रागादि विभाव परिणाम होते हैं, उनमे परिणमन करता हुआ यह जीव, फिर भी रागादिरूप द्रव्यकर्मों को बांधता है।

विशेषार्थ— राग, द्वेष व कषायरूप द्रव्यकर्मों के उदय होने पर आत्मस्वभाव से भ्रष्ट जीव के जो जीव सम्बन्धी रागादिभाव या परिणाम होते हैं उन्हीं के द्वारा मैं रागादिरूप ऐसी अभेद प्रतीति करके परिणमन करता हुआ फिर भी वह रागी, द्वेषी जीव आगामी काल में रागादि

कर्मों को उत्पन्न करने वाले द्रव्यकर्मों को बांधता है। अतः यह स्पष्ट है, कि रागादिभावों का कर्त्ता अज्ञानी जीव है।

अज्ञानी के रागादि बंध के कारण हैं, तो आत्मा रागादि का अकर्ता है यह क्यों कहा? इसका समाधान करते हैं—

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया॥ २८३॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया॥ २८४॥
जावं अपडिक्कमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो॥ २८५॥

अप्रतिक्रमणं द्वेधाऽप्रत्यख्यानं तथैव च।
एतेन चोपदेशेन ह्यात्माचाकारको मतः॥ २८३-२८४॥
अप्रतिक्रमणं द्रव्य-भावयोश्च करोति यः।
कर्त्ता भवति तावत्स जीवश्चेति विदुर्बुधाः॥ २८५॥

भावार्थ— अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है (१) भावरूप (२) द्रव्यरूप। उसी तरह अप्रत्याख्यान भी द्रव्यमय तथा भावमय दो प्रकार का है। इस उपदेश के द्वारा आत्मा अकारक है, ऐसा माना गया है। जब तक आत्मा द्रव्य और भाव मे अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है, तब तक वह आत्मा कर्ता होता है।

विशेषार्थ— प्रतिक्रमण न करना सो अप्रतिक्रमण है। पूर्व मे अनुभव किये हुए विषयों का अनुभव व रागादिरूप भाव अप्रतिक्रमण है। पूर्व अनुभूत रागभावों का स्मरण कर वे मिथ्या हों ऐसी भावना करना प्रतिक्रमण है। मेरे पाप मिथ्या हो ऐसी भावना न करके उन पापो व रागादिरूप होने वाली पूर्व स्थिति को याद कर उसमे लीन होना, अप्रतिक्रमण है। यह दो प्रकार का है एक द्रव्यरूप व दूसरा भावरूप। मन सम्बन्धी विचार भावरूप है। वचन और काय से उसका प्रकाश, द्रव्यरूप है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी द्रव्य और भावरूप दो प्रकार का है। इसी रूप परमागम के उपदेश से ही तत्वज्ञानी आत्मा इन दो प्रकार के अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानो से रहित होने के कारण द्रव्यकर्मों का कर्त्ता नही है। क्योंकि अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दोनों ही द्रव्य और भाव से दो २ प्रकार के हैं। इस ही परमागम के उपदेश से यह बंध के कारण हैं। इससे ज्ञात होता है, कि द्रव्य और भावरूप अप्रतिकमण और अप्रत्याख्यान में परिणमन होता हुआ अज्ञानी जीव शुद्धात्मा की भावना से गिरकर द्रव्य कर्मों का कर्ता होता है। तथा इस से विपरीत ज्ञानी आत्मा कर्मों का कर्त्ता नही है।

जिस समय तक द्रव्य और भावरूप विकार रहित स्वसवेदन लक्षण स्वरूप प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण नही है उस ही समय तक परम समाधिमई भाव को न पाकर यह अज्ञानी जीव कर्मों का कर्ता होता है।

सारांश यह है, कि अप्रतिक्रमण व अप्रत्याख्यानरूपभाव ही कर्मों के करने वाले हैं। ज्ञानी जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है। यदि आत्मज्ञानी अनुभवी आत्मा भी कर्मोंका कर्त्ता मान लिया जाय तो इस जीव के कर्मों का कर्त्तापना सदैव बना रहे। क्योंकि जीव की सत्ता सदा ही रहती है। यथा अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानरूपभाव रागादि विकल्पभाव हैं और अनित्य हैं ये भाव आत्मा में स्थितिरूप जो वीतरागभाव उससे च्युत जीवों के होते हैं। सदा नहीं होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जब यह जीव स्वास्थ्य अर्थात् आत्मानुभवरूपीभाव से गिर जाता है तब अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यामरूपी भावरूप परिणमन करता है। और तब कर्मों का कर्त्ता होता है। किन्तु जब तक स्वस्थभाव में लीन रहता है तब तक कर्मों का कर्त्ता नहीं होता है।

अब द्रव्य और भावमें निमित्त-नैमित्तकभाव का उदाहरण गाथा द्वारा कहते हैं—

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणाउ जे णिच्चं ॥२८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पुग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होय कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥२८७॥

पुद्‌गलस्य च ये दोषा अधः कर्मादयो मताः।
कथ करोति तान्ज्ञानी परद्रव्यगुणांस्तथा ॥ २८६ ॥
तत्पुद्‌गलमयं द्रव्यमधः कर्मोएदेशिकम्।
नित्यमचेतनं तच्च कथं भवति मे कृतम् ॥ २८७ ॥

भावार्थ— अधः कर्म आदि जो पुद्‌गलद्रव्य के दोष हैं, उनको ज्ञानी कैसे करता है? क्योंकि ये सदा ही पुद्‌गलद्रव्य के गुण हैं तथा ये अधः कर्म पर उद्देशिक हैं, वे पुद्‌गलमय द्रव्य है उनको यह ज्ञानी जानता है, कि सदा अचेतन हैं, वे मेरे किए कैसे हो सकते हैं।

बन्धतत्त्व

बन्ध— आत्मा के निज गुणो में परिवर्त्तन का नाम बन्ध है। अथवा कार्माण वर्गणाओं (जिनका कथन हम आस्रवतत्व मे कर चुके हैं) का कर्मरूप होकर जीव के साथ एकरूप होजाने को बंध कहते हैं। वह बंध तीन प्रकार का है।

(१) भाव बंध (२) द्रव्यबंध (३) उभयबंध। इनमे से भावबंध और द्रव्यबंध भिन्न २ स्वतन्त्र हैं। तीसरा उभयबंध, जीव और पुद्‌गल के मेल से होता है। रागद्वेषादि परिणाम भावबंध हैं, इसी को जीव बंध भी कहते हैं। पुद्‌गल के कार्माणवर्गणारूप पिंड को द्रव्यबंध कहते हैं। यह बंध पुद्‌गल की स्निग्धरूक्षशक्ति से होता है। भावबंध के निमित्त से जीव प्रदेशों का और द्रव्यकर्मों का परस्पर एकरूप होने को उभयबंध कहते हैं। इस अवस्था मे यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि नित्य शुद्धबुद्ध, मुक्तस्वभाव अमूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक पुद्‌गल का बंध कैसे होजाता है?

इसका उत्तर श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निम्न प्रकार से दिया है—

अमूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्मों का बंध अनेकान्त से असिद्ध नहीं है। क्योंकि किसी अपेक्षा से आत्मा के मूर्तिपना सिद्ध है। इस अमूर्तिक आत्मा का भी द्रव्यकर्मों के साथ प्रवाहरूपेण अनादि काल से धारावाही सदा से सम्बन्ध चला आ रहा है। इसी से उन मूर्तिक द्रव्यकर्मों के साथ एकता होने से आत्मा को भी मूर्तिक कहते हैं। बंध होने पर जिसके साथ बंध होता है उसके साथ एक दूसरे में प्रवेश हो जाने पर परस्पर एकता हो जाती है जैसे सुवर्ण और चाँदी को एक साथ गलाने से दोनों एक रूप हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव और कर्मों का बंध होने से परस्पर एकरूप बंध हो जाता है। तथा यह कर्मबद्ध ससारी आत्मा मूर्तिमान् है, क्योंकि मदिरा आदि से इसका ज्ञान विकृत हो जाता है। यदि अमूर्तिक होता तो जैसे अमूर्तिक आकाश मे मदिरा रहते हुए भी वह आकाश को मद युक्त नही कर सकती वैसे आत्मा के कभी ज्ञान मे विकार न होता। संसारी आत्मा मूर्तिक है इसी से उसके कर्मबध होता है। जैसे आत्मा निश्चयनय से अमूर्तिक है वैसे ही उसके निश्चयनय से बध भी नहीं होता है। जैसे आत्मा व्यवहारनय से मूर्तिक है वैसे उसके व्यवहारनय से ही बंध भी होता है। इस तरह अनेकान्त से समझ लेने मे किसी प्रकार की शका नहीं रहती है। सर्वथा शुद्ध, अमूर्तिक ही यदि आत्मा होता तो मूर्तिकपदार्थ से इसका बध नही हो सकता था। अनादि से ससार मे कर्मसहित ही आत्मा है। जैसा अब प्रगट है वैसा ही अनादि से चला आ रहा है। इसी से कर्मबन्ध की व्यवस्था सिद्ध होती है।

("तत्वार्थसार" अध्याय ५ श्लोक १६–१९ तक)

तथा च—

स्वय भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार मे लिखा है कि—

रूवादि एहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥ २१८ ॥

अर्थात जैसे, रूपादि रहित आत्मा पुद्गल आदि रूपी द्रव्यो को तथा रूप, रस आदि अनेक गुणो को जानता है व देखता है उसी प्रकार रूपातीत जीव रूपी कर्म पुद्गलों द्वारा बाधा जाता है। यदि कर्मद्रव्य से अमूर्तिक आत्मा का बंध नहीं माना जायेगा तो उस आत्मा द्वारा मूर्तिक पदार्थों का जानना, देखना आदि भी नही बन सकेगा। इसी बात को श्री अकलदेव ने राजवार्तिक मे निम्न प्रकार स्पष्ट किया है कि—

"अनादिकाल से शृंखलाबद्ध आई हुई कर्म की परम्परा से पराधीन संसारी आत्मा के अमूर्तिकत्व के सम्बन्ध मे एकान्त नही है। अर्थात् ससारी आत्मा द्रव्यदृष्टि से अमूर्तिक होते हुए भी पर्यायदृष्टि से मूर्तिक है। क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि मादक मदिरा का पान करके मनुष्य आदि प्राणी काष्ठ की भाँति जडवत् और मोही हो जाता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जैसे मूर्तिक मदिरा आदि पदार्थों का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार मोह आदि कर्मों के प्रभाव से जीव के ज्ञानादि गुण विकसित नही होने पाते और विकृत भी हो जाते हैं। इससे सिद्ध है कि मूर्तिक पदार्थों का आत्मा पर प्रभाव पड़ने से आत्मा भी मूर्तिक है।" (अ० २ सू० ७)

तथा सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने द्रव्यसंग्रह मे लिखा है कि— "जीव में

रूप, रस, गंध, स्पर्श, गुण निश्चयनय की दृष्टि से नहीं पाये जाते। किन्तु व्यवहारदृष्टि से आत्मा, बन्ध की अपेक्षा से मूर्तिक भी है।"

तथा च—

जिस प्रकार किया हुआ भोजन, मांस, मज्जा आदि में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार यह जीव, अपने भावों से कार्माण वर्गणाओं को ग्रहण करता है। वह कर्म भी ज्ञानावरणादि अनेक रूपों में परिणत हो जाता है।

तथा च—

जिस प्रकार आसव बनाने के लिए मटके में रखे गये अनेक रस वाले बीज, पुष्प, फल आदि आसवरूप मे परिणत हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा मे स्थित पौद्‌गलिक कर्म भी क्रोध, मान माया, लोभ आदि कषायरूप परिणित हो जाते हैं।

साराश यह है कि— जैन सिद्धान्तानुसार आत्मा मे एक वैभाविक शक्ति है, जो पुद्‌गल के निमित्त से आत्मा मे विकृति उत्पन्न करती है। उस विकृति से आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन अर्थात् कम्पन होता है। उस परिस्पन्दन से पौद्‌गलिक कर्म आकर्षित होकर आत्मा के साथ संश्लिष्टरूप मे एकीभाव को प्राप्त होजाते हैं। उस आत्मा व कर्म के एकत्वभाव को बन्ध कहते हैं। अभिप्राय यह है कि— यह अज्ञानी जीव, परपदार्थ मे इष्ट, अनिष्ट, प्रिय, अप्रिय आदि की कल्पना करता है। जिस से राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं। और राग, द्वेष आदि से बन्ध होता है। तथा उस बन्ध से राग, द्वेषादि उत्पन्न होते है। इस प्रकार यह कर्म परम्परा अनादिकाल से चली आरही है।

इस परम्परा का वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने "पञ्चास्तिकाय" मे जो लिखा है, उस भाव को हमने निम्न श्लोको मे संगृहीत किया है—

> नित्य ससारिजीवस्य परिणामो भवत्यहो।
> परिणामाद्भवेत्कर्म कर्मणो गतिरेव च ॥ १२८ ॥
> गत्यधिगमनाद्देहः स्युर्देहादिन्द्रियाणि वा।
> विषयग्रहणं तेभ्यो रागद्वैषौ ततः पुनः ॥ १२९ ॥
> जीवस्य जायते भावश्चैवं संसारचक्रकृत्।
> अनादिनिधनः प्रोक्तो जिनैः स निधनस्तथा ॥ १३० ॥

ससारी जीव के रागद्वेषादि भाव उत्पन्न होते हैं उन भावों से कर्म आते है और उन कर्मों से मनुष्य आदि की गति बनती है। गतियो में शरीर की उत्पत्ति होती है और शरीर से इन्द्रियो द्वारा विषयो का ग्रहण होता है। जिस से पुनः रागद्वेषादिभाव उत्पन्न होते हैं इस प्रकार संसार चक्र का निर्माण करने वाले भाव, सन्तति की अपेक्षा अनादि निधन है और पर्याय की अपेक्षा से अनादि, सान्त भी हैं ऐसा भगवान् ने कहा है।

इसी भाव को श्रीमज्जयसेनाचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

> संकल्पवशगो मूढो वस्त्विष्टानिष्टतां नयेत्।
> रागद्वेषौ ततस्ताभ्यां बन्धं दुर्मोचमश्नुते ॥
> (आदिपुराण)

अर्थ— यह अज्ञानी जीव इष्ट, अनिष्ट कल्पना द्वारा वस्तु में प्रिय, अप्रिय बुद्धि कर लेता है। जिस से राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं। उन राग, द्वेषों से कर्मों का बन्धन होता है। इस प्रकार यह कर्मचक्र अनादिकाल से सततप्रवाहरूप से चला आरहा है। और जब तक आत्मा में मोहजनित रागद्वेषादिभाव रहेंगे उस समय तक यह चलता ही रहेगा।

इति बन्धाधिकारः ॥ ७ ॥

अथ मोक्षाधिकारः (८)

अब आचार्य भेदज्ञान की स्थिरता से कर्मबन्ध के अत्यन्ताभावरूप मोक्ष वर्णन करते हैं—

जहणाम को वि पुरिसो बंधयह्मि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥ २८८ ॥
जइ ण वि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बन्धणवसो सं।
कालेण उ बहुएण वि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥२८९॥
इय कम्मबंधणाणं पएसठि इपय डिमेवमणुभागं।
जाणंतो वि ण मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥ २९० ॥

यथा कश्चिज्जनोबद्धो बन्धने च चिराद् ध्रुवम्।
तीव्रमन्दस्वभावं वै कालं जानाति तस्य सः ॥ २८८ ॥
यदि करोति छेदञ्च तस्मान्नैव स मुच्यते।
स नरोऽनन्तकालेऽपि मोक्षं याति न जातुचित् ॥ २८९ ॥
प्रकृतिं कर्मबन्धानां रसं देशं स्थितिश्च वा।
रागी जानन्नमुच्येत विशुद्धस्तु विमुञ्चति ॥ २९० ॥

भावार्थ— जैसे कोई मनुष्य बहु काल से बन्धन में पड़ा हुआ बन्धन के तीव्र अथवा मन्दस्वभाव को और उसके काल को जानता हुआ भी बन्ध का छेद न करे, तो वह मनुष्य बहुत काल में भी उस बन्ध से मुक्त नहीं हो सकता है। इसी प्रकार रागी जीव, कर्मबन्धनो के प्रदेश प्रकृति, स्थिति और अनुराग को जानता हुआ भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। यदि वह विशुद्ध अर्थात् रागरहित हो जाय, तो मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

विशेषार्थ— जो व्यक्ति ज्ञानमात्र से मुक्ति मानते हैं उनके लिए भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं— कि केवल ज्ञानमात्र से मुक्ति नहीं होती। क्योंकि जैसे कोई पुरुष, बन्धन में चिरकाल से पड़ा हुआ है और वह उस बन्धन को तथा बन्धन के कारण आदि को जानता हुआ भी उस बन्धन से तब तक मुक्त नहीं हो सकता जब तक वह उससे छूटने का प्रयत्न नहीं करेगा। इसी प्रकार यह रागी आत्मा कर्मों के प्रकृति स्थिति, अनुभाग आदि भेदों को जानते हुए भी जब तक तप आदि करके इन कर्मों की निर्जरा न करेगा, तब तक इनसे मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि वह मिथ्यादृष्टि रागद्वेषादि-परिणति को नहीं त्यागता है। परन्तु जब वह रागद्वेषादिभावों से रहित होता है, तब अनन्तज्ञानादिगुणस्वरूप परमात्मस्वभाव में स्थित होता हुआ सब कर्मों से मुक्त हो जाता है।

श्री देवसेनाचार्य 'आराधनासार' मे लिखते हैं कि—

उद्वसिते मनोगेहे नष्टे निःशेषकरणव्यापारे।
विस्फुरिते स्वसद्भावे आत्मा परमात्मा भवति ॥ ८५ ॥

अर्थ— मनरूपी घर को उजाड़ देने पर तथा इन्द्रियों के सब व्यापारों के नष्ट कर देने पर जब आत्मा अपने स्वरूप में तन्मय होजाता है तब वह परमात्मा होजाता है।

तथा च— तत्रैव

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुम् ॥

अर्थ— जिस प्रकार वृक्षों की आपस की रगड़ से अग्नि उत्पन्न होजाती है उसी प्रकार आत्मा के ही ध्यान से आत्मा परमात्मा बन जाता है।

आगे इसी भाव को पुष्ट करते हैं—

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावइ विमोक्खं ॥ २९१ ॥

न प्राप्नोति विमोक्षं ना बद्धो बन्धस्य चिन्तनात्।
एवमात्मापि नाप्नोति बद्धो बन्धस्य चिन्तनात् ॥ २९१ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार कारागर मे पड़ा हुआ मनुष्य बन्धन से मुक्त होने के विचारमात्र से बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता उसी प्रकार यह संसारी जीव, निजबन्धन के विचारमात्र से मोक्ष को प्राप्त नही कर सकता।

विशेषार्थ— जैसे, कोई व्यक्ति रस्सी आदि से बधा हुआ होने पर केवल ज्ञानमात्र से उस बन्धन से नहीं छूट सकता है, उसी प्रकार यह ससारी जीव, प्रकृति, स्थिति आदि मे फंसा हुआ होने पर भी इनके चिन्तनमात्र से शुद्धात्मस्वरूप मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण शुभ, अशुभ बाह्यद्रव्यों के आलम्बन से रहित चिदानन्दमय शुद्धात्मा का आलम्बनस्वरूप वीतराग, धर्मध्यान और शुक्लध्यान से रहित जीव, बन्ध के चिन्तारूप सराग धर्मध्यानस्वरूप शुभोपयोग से स्वर्गादि सुख के कारण पुण्य-बन्ध को प्राप्त करता है, परन्तु मोक्ष को प्राप्त नही करता है।

आगे मोक्ष का कारण बतलाते हैं—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥ २९२ ॥

बद्धो याति यथा मोक्षं बन्धंछित्वा च मानवः।
जीवः प्राप्नोति मोक्षं वै बन्धांछित्वा तथैव च ॥ २९२ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार बन्धन से बंधा हुआ व्यक्ति बन्धन को काट कर ही बन्धन से मुक्त होता है उसी प्रकार कर्म के बन्ध को छेद कर यह जीव मोक्ष प्राप्त करता है।

विशेषार्थ— जैसे बन्धन में पड़ा हुआ कोई पुरुष, अपने पुरुषार्थ या विशेषज्ञान द्वारा बन्धन (रस्सी, जजीर आदि) को तोड़कर या काट कर बन्धन से छुटकारा पाता है, वैसे ही जीव भी वीतराग, निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानरूपी हथियार से कर्मबन्धनों को काटकर शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त कराने वाले मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

आगे आचार्य मोक्षमार्ग को बताते हैं—

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च ।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई ॥ २९३ ॥

स्वभावमयश्चिदो ज्ञात्वा बन्धानामपि निश्चयात् ।
विरज्यते च बन्धेषु कर्ममोक्षं करोति सः ॥ २९३ ॥

भावार्थ— जो पुरुष बन्ध तथा आत्मा का स्वभाव जानकर बन्धों से विरक्त होता है वह पुरुष कर्मों से मुक्त हो जाता है।

विशेषार्थ— मिथ्यात्व रागद्वेषादिभाव बन्धों के स्वभाव को जानकर त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य तत्वों के विषय में जो विपरीतभाव है वह मिथ्यात्व का स्वभाव कहा गया है तथा रागादिकों का स्वभाव पचेन्द्रियों के विषयों में इष्ट और अनिष्ट परिणाम है अर्थात् यह भाव कि, इष्ट विषय ग्रहण करने व अनिष्ट विषय त्यागने योग्य है तथा अनन्त ज्ञानदर्शन सुख आदि गुणमय शुद्ध आत्मा के स्वभाव को जानकर अर्थात् कर्मबन्ध और कर्म रहित आत्मा का यथार्थ अनुभव करके जो विवेकी भव्य जीव निर्विकल्प समाधि के बल से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करता है, वह कर्मों से आत्मा को विमुक्त करता है।

आगे आत्मा और बन्ध के पृथक् करने का उपाय बताते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जन्ति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णाच्छेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥ २९४ ॥

जीवबन्धौ हि छिद्येते स्वस्वलक्षणतः स्फुटम् ।
छिन्नौ नानात्वमापन्नौ धीछेदकेन सर्वतः ॥ २९४ ॥

भावार्थ— जीव और बन्ध इन दोनों को अपने २ लक्षणों द्वारा बुद्धिरूपी छेनी से इस प्रकार काटना चाहिए कि जिस से ये अनेकत्व को प्राप्त होकर पृथक् पृथक् हो जायं।

विशेषार्थ— यह जीव तथा कर्मबन्ध दोनों ही अपने २ लक्षणों को रखते हैं, इस कारण भेदविज्ञानरूपी छेनी से ही ये पृथक् २ किये जा सकते हैं। अतः ज्ञानी का कर्तव्य है, कि भेदविज्ञानरूपी पैनी छेनी द्वारा आत्मा और कर्म को भिन्न २ करके स्वात्मस्वरूप में लीन होता हुआ मोक्ष की प्राप्ति करे।

इसी विषय को श्रीमदमृतचन्द्राचार्य ने निम्न प्रकार से कलश में स्फुट किया है—

प्रज्ञाच्छेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः ।
सूक्ष्मेऽन्तः सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ॥

आत्मानं मग्नमन्तः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे ।
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥

अर्थ— आत्मा और कर्मबन्ध के पृथक् २ करने को यह बुद्धिरूपी छेनी (भेदविज्ञान) अति तीक्ष्ण है। जो चतुर (ज्ञानी) पुरुष हैं वे सावधानतया आत्मा और कर्म इन दोनों के सूक्ष्म सन्धिस्थल में यत्नपूर्वक इसको इस प्रकार पटकते हैं कि यह वहां गिर कर शीघ्र ही आत्मा और कर्म को पृथक् २ कर देती है। तथा आत्मा को निजस्वरूप में स्थिर करके देदीप्यमान, ज्योतिर्मय, चैतन्यप्रवाह में मग्न कर देती है। तथा बन्ध को आत्मा से पृथक् कर अज्ञानभाव मे फेंक देती है। अर्थात् आत्मा को मोक्ष मे पहुँचा देती है।

आत्मा और कर्म को पृथक् करके क्या करना चाहिये ? इसके उत्तररूप गाथा कहते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥ २६५ ॥

आत्मबन्धौ हि भिद्येते स्वस्वलक्षणतो ध्रुवम् ।
शुद्धात्मैव गृहीतव्यो बन्धश्छेत्तव्य एव च ॥ २९५ ॥

भावार्थ— जीव और बन्ध इन दोनो को इस प्रकार अपने २ लक्षणो से भिन्न २ किया जाय, कि बन्ध तो पृथक् कर दिया जाय और आत्मा को ग्रहण किया जाय।

विशेषार्थ— यह जीव तथा कर्मबन्ध दोनो अपने २ भिन्न २ लक्षणो द्वारा छिदकर पृथक् २ होजाते हैं, इसलिए आचार्य कहते हैं कि विशुद्धज्ञानदर्शन स्वभाव वाले परमात्मतत्व का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप जो रत्नत्रयमय भेदविज्ञानरूपी छुरी है उससे मिथ्यात्व व रागद्वेषादिभावरूप बन्ध को शुद्धात्मा की निकटता से दूर करदेना चाहिए और शुद्ध आत्मा को वीतराग सहज परमानन्दमय लक्षण रखने वाले सुखरूप समतारसमयभाव से ग्रहण करना चाहिए।

आगे आत्मा और कर्म के पृथक्करण का प्रयोजन बताते हैं—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥ २९६ ॥

कथं स गृह्यते जीवः ? प्रज्ञया स तु गृह्यते ।
प्रज्ञयैव गृहीतव्यो विभक्तः प्रज्ञया खलु ॥ २९६ ॥

भावार्थ— शिष्य पूछता है कि वह शुद्धात्मा किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है ? आचार्य उत्तर देते हैं कि— यह शुद्धात्मा भेदविज्ञानरूपी मेधा से ग्रहण किया जाता है। जिस प्रकार पहले प्रज्ञा से पृथक् किया था उसी प्रकार प्रज्ञा से हो ग्रहण करना चाहिए।

विशेषार्थ— वह आत्मा रूप, रस, गन्धादि से रहित होने के कारण इन्द्रियों का विषय नहीं है इसलिए उसे प्रज्ञा अर्थात् आत्मज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् जिस आत्माभिमुखी प्रज्ञा द्वारा आत्मा और कर्म को पृथक् २ किया था उसी स्वानुभूतिजनित प्रज्ञा द्वारा आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं कि—

त्याज्या सर्वा चिन्तेति बुद्धिराविष्करोति तत्तत्त्वम् ।
चन्द्रोदयायते यच्चैतन्यमहोदधौ झटिति ॥

अर्थ— सर्व प्रकार की चिन्ता त्यागने योग्य है, जिस समय ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है उस समय वह बुद्धि उस तत्व को प्रगट करती है कि जो तत्व चैतन्यरूपी प्रबल समुद्र में शीघ्र ही चन्द्रमा के समान आचरण करता है। (पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका)

प्रज्ञा से आत्मा किस प्रकार ग्रहण किया जाता है, आगे यह बताते हैं—

पएणाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥ २९७ ॥

प्रज्ञया तु गृहीतव्यः सोऽहं चेतयिता ध्रुवम् ।
ज्ञातव्याः शेषभावा वै ते च मम परा इति ॥ २९७ ॥

भावार्थ— जो चैतन्यस्वरूप आत्मा है निश्चय से वह मैं हूं, इस प्रकार प्रज्ञा से ग्रहण करने योग्य है और शेष जो भाव हैं वे मुझ से पर हैं, इस प्रकार आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

विशेषार्थ— शुद्धात्मस्वरूप का अवलम्बन करने वाली जिस प्रज्ञा से चैतन्यस्वरूप आत्मा को भिन्न किया था वह आत्मस्वरूप मैं ही हूँ, अन्य पुद्गलरूप कर्म व विभावरूप रागादि-भाव हैं, वे सब जड़ात्मक होने के कारण निश्चय ही मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं। अतः मैं अपने ही द्वारा अपने ही लिए अपने से ही अपने में अपने को ही ग्रहण करता हूँ। आत्मा का गुण तथा क्रिया एक चेतनमात्र ही है इसलिए मैं एकमात्र साक्षी अर्थात् ज्ञाता, द्रष्टा हूं।

यहां श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते है कि—

भित्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं न यच्छक्यते ।
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि ।
भिद्यंतां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥

भावार्थ— जिस ज्ञानी को स्वात्मानुभव होता है वह एक रूप अभेद निज आत्मा को उसके शुद्ध लक्षण को ग्रहण कर अनुभव करता है। उसके अनुभव में द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म से तो भिन्नता दीखती ही है। इसके अतिरिक्त जितने विकल्प आत्मा के सम्बन्ध में व्यवहार में वचन द्वारा कहे जाते हैं कि यह प्रत्येक स्वभाव व प्रत्येक गुण वाला है ऐसे विकल्प भी नहीं उठते हैं। शुद्ध ज्ञान चेतनारूप ही स्वानुभव होता है।

इसी विषय को फिर पुष्ट करते हैं—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥ २९८ ॥

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्चयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥ २६६ ॥

प्रज्ञया च गृहीतव्यो द्रष्टा सोऽहञ्च निश्चयात्।
ज्ञातव्याऽशेषभावाश्च ते च मम परा इति ॥ २९८ ॥
प्रज्ञया च गृहीतव्यो ज्ञाता सोऽहञ्च निश्चयात्।
ज्ञापव्याऽशेषभावाश्च ते च मम परा इति ॥ २९९ ॥

भावार्थ— जो देखने वाला भेदविज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य है वह निश्चय से मैं ही हूं ऐसा जानना योग्य है। मेरे से अतिरिक्त शेष जितने भाव हैं वे सब मुझ से पर है, ऐसा जानना उचित है। तथा जो कोई जानने वाला भेदविज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य है वह निश्चय से मैं ही हूँ, मेरे से अतिरिक्त शेष जितने भाव है वे मुझ से पर हैं, ऐसा जानना चाहिए।

विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि, प्रथम तो सामान्य चेतना का अनुभव कराया। आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना जो पहले कहा था, वह चेतना का अनुभव करना ही ग्रहण करना है, अन्य वस्तु का ग्रहण करना नहीं है। अर्थात् कर्ता कर्म, करण आदि छः कारकों को भेदरूप कह कर निश्चयनय से छः कारको का निषेध किया। जो सामान्य चेतन है वह ज्ञानदर्शनस्वरूप ही है। इसलिए ज्ञाता द्रष्टारूप आत्मानुभूति कराई।

श्री अमृतचन्द्राचार्य इसी अर्थ को कलश द्वारा स्पष्ट करते है—

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजे-
त्तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्माचांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति चित् ॥
एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावा परे सर्वत एव हेयाः ॥

अर्थ— यद्यपि निश्चय से चेतना अद्वैतरूप ही है तथापि अपने दर्शनज्ञानरूप को नहीं त्यागती है। यदि वह अपने दर्शनज्ञानरूप का त्याग कर दे, तो अपने सामान्य और विशेषरूप का त्याग करने से वह चेतना अपने अस्तित्व को भी त्याग देवे। पुनः अस्तित्व छोड देने से वह चेतना भी जडरूप हो जावे तथा व्याप्य बिना व्यापक के नहीं रह सकता इस से चेतना के बिना आत्मा का भी अत होजावे सो ऐसा हो नहीं सकता। अतः वह चेतना दर्शनज्ञानरूप है, चैतन्यात्मा का एक चैतन्यमात्रभाव ही हैं। उसके सिवाय सब ही अन्यभाव निश्चय से परद्रव्यों के हैं। अतः चैतन्यमात्रभाव ही ग्रहण करने चाहिए और उनके अतिरिक्त अन्य सब भाव त्यागने के योग्य है। यहा ऐसा जानना चाहिए कि मेरे चिदानन्दमय एक चैतन्यभाव के सिवाय शेष सभी (रागद्वेषादि) विभाव परिणाम, पर हैं।

अब इसी उपदेश की गाथा कहते हैं—

को णाम भणिज्ज वुहो णाउं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ३०० ॥

आत्मानं विमलं ज्ञात्वा ज्ञात्वा सर्वान् परांस्तथा।
वचनं कथयेदत्र ममेदमिति को बुधः ॥ ३०० ॥

भावार्थ— आत्मा को अनुभव करता हुआ तथा रागादिभावों को कर्मों के उदय से उत्पन्न जानकर कौन ऐसा बुद्धिमान् प्राणी होगा जो यह वचन कहे, कि ये परभाव मेरे हैं। अर्थात् ज्ञानी पण्डित तो कभी भी ऐसा नहीं कह सकता, क्योंकि वह तो अपनी आत्मा को शुद्ध मानता है।

विशेषार्थ— जो पुरुष आत्मा और परके लक्षणों द्वारा भेदविज्ञानी होगया है वह पुरुष निश्चितरूप से एकचैतन्यमात्र को अपना भाव जानता है। शेष सभी भावों को परके मानता है। इस प्रकार वह भेदविज्ञान द्वारा आत्मा और पर को पृथक् कर पर से उदासीन होता हुआ आत्मा में लीन होकर कर्मों से मुक्ति पा लेता है।

इसी कथन को दृष्टान्त पूर्वक गाथा मे कहते हैं—

थेयाई अवराहे जो कुव्वइ सो उ संकिदो भमई।
मा वज्झेज्जं केणवि चोरोत्ति जणह्मि वियरंतो ॥ ३०१ ॥
जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको दु जणवए भमदि।
णवि तस्स वज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ॥ ३०२ ॥
एवं हि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेया।
जइ पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि ॥ ३०३ ॥

स्तेयादीनपराधान्यः करोति स च शंकितः।
केनाप्यहं च मा बध्ये तस्करो विचरन्भुवि ॥ ३०१ ॥
न करोत्यपराधान्यो निःशंको भ्रमतीह सः।
बद्धुं चिन्ता न तस्याहो भीतिर्नोत्पद्यते क्वचित् ॥ ३०२ ॥
सापराधो भवेद्भीतो बद्धोऽहमस्मि सर्वदा।
पुनर्निरपराधो यो निःशंको याति स ध्रुवम् ॥ ३०३ ॥

भावार्थ— जो पुरुष चोरी आदि अपराध करता है वह शंका युक्त होकर पृथ्वी पर घूमता है और मन मे सोचता है कि मैं किसी से मारा न जाऊँ अथवा पकड़ा न जाऊँ। किन्तु जो पुरुष अपराध रहित होता है वह सर्वत्र शंका रहित होकर घूमता है उसको न तो बंधने की चिन्ता है और अन्य किसी प्रकार का भय ही। इसीलिए ज्ञानी विचारता है कि यदि मैं अपराधी हू तो बन्धन मे पड़ूंगा या मारा जाऊँगा और यदि निरपराध हूँ तो मैं निःशंक और निर्भय हू अतः न बन्धन में पड़ूंगा और न मारा जाऊँगा।

विशेषार्थ— जो मनुष्य, परस्त्री गमन चोरी आदि अपराध करता है, तो उसके मन में निरन्तर यह शङ्का बनी रहती है, कि जब मैं जनता मे जाऊँगा या इधर उधर घूमूंगा, तो चोरी आदि के अपराध के कारण किसी पुलिस के आदमी से पकड़ा न जाऊँ या मारा न जाऊँ। परन्तु जो व्यक्ति चोरी, परस्त्री गमन आदि अपराध नहीं करता है वह जनसमूह के बीच में

निःशंक एवं निडर होकर घूमता है। ऐसे निरपराधी पुरुष के मन में कभी भी पकड़े जाने आदि की चिन्ता ही उत्पन्न न होगी।

इसी प्रकार जो मनुष्य, रागद्वेषादि परद्रव्य को ग्रहण करता है या स्वीकार करता है वह अपनी आत्मा में स्थित भाव से पतित है, अपराधी है। वही अपराधी चेतनस्वरूप आत्मा विचारता है कि मैं ज्ञानावरणादि कर्मों से बंधूँगा। इसीलिए शंकायुक्त होता है और इस कर्मबन्ध से भयभीत होकर अपने को प्रायश्चित व प्रतिक्रमणरूप दण्ड देता है। किन्तु जो राग, द्वेष आदि भावों (अपराधों) से दूर है वह निरपराधी है। अतएव उसके चित्त मे यह दृढ़ता रहती है कि मैं कर्मों से कदापि नहीं बधूँगा तथा यह सदा निःशंक और निर्भीक रहता है। यह बाह्य प्रतिक्रमण आदि दंडो के बिना ग्रहण किये भी अनन्तज्ञान दर्शन, सुखवीर्यादिरूप निर्दोष परमात्मा की भावना से ही शुद्ध होता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कलश में कहते हैं कि—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् वध्यते सापराधवान् ।
वध्येतानपराधेन स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः ॥

अर्थ— परद्रव्य को ग्रहण करने वाला ही अपराधी होता है और वही बन्धन में पड़ता है। तथा जो स्वद्रव्य से ही सन्तुष्ट है वह परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता, वे ही यतीश्वर अपराध रहित होने से नहीं बंधते।

अपराध किसे कहते हैं ? अब यह बताते हैं—

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥ ३०४ ॥
जो पुण निरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ ।
आराहणाए णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥ ३०५ ॥

संसिद्धिः सिद्धिराधौ च साधितमाराधितं समम् ।
यस्यापगतो राधः स निः शंको भवेत्सदा ॥ ३०४ ॥
पुनर्निरपराधो यो निःशंको याति चेत नः ।
नित्यं राधनयाहश्च स जानन्निति वर्तते ॥ ३०५ ॥

भावार्थ— संसिद्धि, सिद्धि, राध, साधित और आराधित ये शब्द समान अर्थ वाले हैं। अर्थात् ये सब शब्द निर्विकल्प समाधिवाचक हैं। इसलिए जो आत्मा, राध अर्थात् समाधि से रहित है वह अपराधी है और जो अपराधी नहीं है अर्थात् शुद्धात्मा मे निरत है वह शंका रहित है तथा अपने को शुद्धात्म-निरत जानता हुआ रहता है व निःशंकित होता है।

विशेषार्थ— सर्वदा रहने वाले मिथ्यात्व व विषय कषायादि विभावपरिणामो से रहित निर्विकल्प समाधि में स्थित शुद्धात्मानुभूति करने को राध कहते है। संसिद्धि, सिद्धि साधित और आराधित ये सब इसी (राध) के पर्यायवाचक अर्थात नाम हैं।

इसलिए जो आत्मा निश्चय से शुद्धात्मा की आराधना को नष्ट करने वाला है अर्थात् रागद्वेषादि विभाव परिणामों का कर्त्ता है वही अपराधी होता है। और जो इससे विपरीत– मन, वचन, काय की गुप्तिरूप समाधि में संलग्न है वह निरपराधी है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः स्पृशति निरपराधो बन्धनं जातु नैव।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो भवति निरपराधः साधुः शुद्धात्मसेवी॥
(कलश)

अर्थ— जो आत्मा अपराधी है वह निरन्तर अनन्त पुद्गलपरमाणुरूप कर्मों से बंधता है और जो निरपराधी है वह बन्धन का स्पर्श तक नहीं करता है। जो सापराध अर्थात् अपनी आत्मा से विमुख है वह अज्ञानी है, अशुद्ध है और जो मुनि अपनी आत्मा में लीन है वह ज्ञानी है, शुद्ध है।

अब आचार्य निश्चयप्रतिक्रमण का वर्णन करते है—

पडिकमणं पडिसरणं पडिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभओ॥ ३०६॥
अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदा गरहा सोही अमकुंभओ॥ ३०७॥

प्रतिकर्म निवृत्तिश्च प्रेरणं धारणा शुचिः।
विषकुम्भोऽष्टधा प्रोक्तो गर्हा निन्दा निवारणम्॥ ३०६॥
विषकुम्भाद् विरुद्धन्तु सुधाकुम्भं विदुर्बुधाः।
तद्प्रतिक्रमादीनां भेदेन कथितं बुधैः॥ ३०७॥

भावार्थ— प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि यह आठ प्रकार का विषकुम्भ है। और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति अनिन्दा अगर्हा और शुद्धि न करना यह अमृत का घड़ा है।

विशेषार्थ— पूर्वकृत दोषों के निराकरण को प्रतिक्रमण कहते हैं। सम्यक्त्व आदि गुणों से प्रेरणा करने को प्रतिसरण कहते है। नमोकार आदि मन्त्रों के तथा अन्य प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्यो के द्वारा चित्त को स्थिर करने का नाम धारणा है। पचेन्द्रिय विषय के भोगो से मन को रोकना, निवृत्ति है। अपनी आत्मा को साक्षी करके स्वकीय दोषो को प्रगट करके उनकी निन्दा करना निन्दा है। गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रगट करना और उनपर लज्जित होना गर्हा है। दोष होने पर उसका प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होने को शुद्धि कहते हैं। इस प्रकार यह आठ भेदरूप शुभोपयोग है। अशुभोपयोग की अपेक्षा से इस को अमृत कुम्भ कहते हैं। किन्तु समयसार में भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य निश्चयनय की दृष्टि से कथन करते हैं इसलिए यह व्यावहारिक अमृतकुम्भ भी निश्चय चारित्र की अपेक्षा से तो विषकुम्भ ही है। क्योंकि व्यवहार प्रतिक्रमण आदि मे रागद्वेष मोहादि का प्रतिभास है इसलिए निश्चय चारित्र की अवस्था में इसको भी विषकुम्भ ही समझना चाहिए। सापराध आत्मा तो अपने आत्मा को

नियम से अशुद्ध ही रखता है और जो निरपराध है वह शुद्ध आत्मा का सेवन करता है। इसलिए उसकी आत्मा तो शुद्ध ही है। अतः प्रतिक्रमण आदि से उसे आत्मा को शुद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं है।

यहां शिष्य ने प्रश्न किया, कि हे भगवन्। शुद्धात्मा की आराधना के परिश्रम से क्या लाभ है ? क्योंकि यह आत्मा प्रतिक्रमण आदि के अनुष्ठानों से ही अपराध रहित होजाता है। इसी प्रश्न का आचार्य समाधान करते हैं— कि,

यहां अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ आदि का भी संकेत सा प्रतीत होता है। तथा यह व्यवहार धर्म परद्रव्य के आश्रित होने से विभावरूप भी है। इसलिए वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित पुरुष के लिए यह विषकुम्भ के समान ही है। क्योंकि उस अवस्था में इस आत्मा के निश्चय प्रतिक्रमणात्मक भाव होते हैं। उसके लिए वे ही शुद्धात्मिकभाव अमृतकुम्भ के समान हैं। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि— विषकुम्भ से विरुद्ध अर्थात् अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा आदि ही अमृतकुम्भ है।

अभिप्राय यह है कि अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है। १— अज्ञानी जनो का २— ज्ञानियो का। अज्ञानियो का अप्रतिक्रमण विषयभोग आदि पापरूप परिणमन होने से विषकुम्भ है। उस विषकुम्भ की अपेक्षा प्रतिक्रमण आदि व्यवहाररूप सरागचारित्र अमृतकुम्भ है और निश्चयनय से अर्थात् शुद्धात्मानुभूति मे स्थित मुनीश्वरो के लिए यही प्रतिक्रमण आदि व्यवहार, चारित्ररूप अमृतकुम्भ भी विष के समान है, अर्थात् हेय है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य इसी विषय को निम्न प्रकार स्पष्ट करते हैं—

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषप्रणीतं तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः॥
(कलश)

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि जहां प्रतिक्रमण अर्थात् पापो के प्रायश्चित्त आदि को ही विष कहा है वहां "अप्रतिक्रमण" अर्थात् पाप आदि अमृत कैसे हो सकते हैं। इसलिए प्रमाद-रूपीगर्त मे पड़कर यह मनुष्य अधोगति का क्यों प्राप्त होता है ? प्रमादरहित होकर अपनी आत्मोन्नति क्यों नही करता ?

सारांश यह है कि पहले तो पाप को छुड़ाने का आचार्य ने उपदेश दिया और पापो से छूटने के लिए प्रतिक्रमणादि का विधान किया। तत्पश्चात् परमसमाधि मे लीन होने का उपदेश देकर प्रतिक्रमण आदि को भी विषवत हेय बताया। महाभारत मे भी लिखा है कि—

त्यज धर्ममधर्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥

अर्थ— बृहस्पति ने कच से कहा है कि धर्म और अधर्म छोड, सत्य और असत्य दोनों को छोड। तथा सत्य और असत्य दोनो को छोडकर जिस (भाव) से इनको छोड़ता है उस को भी छोड़ दे। अर्थात् निर्विकल्प अवस्था ही उपादेय है।

मोक्षतत्त्व

यह मोक्षतत्व भी भावमोक्ष व द्रव्यमोक्ष के भेद से दो प्रकार का है।

१— भावमोक्ष—

सर्वोत्कृष्टविशुद्धिर्बोधमती कृत्स्नकर्मलयहेतुः ।
ज्ञेयः स भावमोक्षः कर्मक्षयजा विशुद्धिरथ च स्यात् ॥

अर्थात् सब कर्मों के क्षय (नाश) को करने वाली स्वयं कर्म विनाश से होने वाली सम्यग्ज्ञानविशिष्ट-अनन्तज्ञानस्वरूप आत्मा की परमोच्चविशुद्धि-पूर्ण निर्मलता को 'भावमोक्ष' जानना चाहिए। भावमोक्ष दो प्रकार का है (१) अपरभावमोक्ष और परमभावमोक्ष।

(१) अपरभावमोक्ष— ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातियाकर्मों के क्षय से तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती संयोगकेवली और अयोगकेवली, जिन की आत्मा मे जो विशुद्धि, निर्मलता होती है उसे अपरभावमोक्ष कहते हैं। और यही विशुद्धि सम्पूर्ण कर्मों के क्षय में कारण होती है।

(२) परभावमोक्ष— अघातिया, वेदनीय, आयुःकर्म, नाम और गोत्र इन चार कर्मों के भी नाश हो जाने पर आत्मा में जो सर्वोच्च विशुद्धि, पूर्ण निर्मलता, सिद्ध-अवस्था प्राप्त होती है उसे परमभावमोक्ष कहते हैं।

२— द्रव्यमोक्ष—

परमसमाधिबलादिह बोधावरणानि सकलकर्माणि ।
चिद्देशेभ्योभिन्ना भवन्ति स द्रव्यमोक्ष इह जीवः ॥

(आप्त परीक्षा कारिका ११६)

अर्थात् उत्कृष्ट समाधि-शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरण आदि समस्तकर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् होना 'द्रव्यमोक्ष' कहा गया है।

द्रव्यमोक्ष के भी दो भेद हैं— (१) अपरद्रव्यमोक्ष और (२) परद्रव्यमोक्ष। ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्मों का आत्मा से छूटना अपरद्रव्यमोक्ष है और घातिया तथा अघातिया आठो ही कर्मों का आत्मा से अलग होना परद्रव्यमोक्ष है। यह दोनो ही प्रकार का मोक्ष, उत्कृष्ट समाधि शुक्लध्यान से प्राप्त होता है। (अध्यात्मकमलमार्तण्ड पृ० १०३)

श्री विद्यानन्द स्वामी लिखते हैं कि—

" स्वात्मलाभस्ततो मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयान्मतः ।
निर्जरासम्वराभ्यां नुः सर्वसद्वादिनामिह ॥"

अर्थ— चूंकि, कर्मपटलों का क्षय होता है, अतः समस्तकर्मों का संवर और निर्जरा द्वारा क्षय होकर जीव (पुरुष) को जो अपने स्वरूप का लाभ होता है वह मोक्ष है। ऐसा सब आस्तिकों ने माना है।

अर्थात् आगामी आने वाले और सञ्चित समस्त कर्मों का संवर और निर्जरा द्वारा समूल क्षय होने से स्वशुद्धात्म लाभ होने को मोक्ष कहते हैं। इस विषय में आत्मवादी आस्तिकों का मतैक्य है। केवल आत्मा और कर्मों के स्वरूप में परस्पर विवाद है।"

तथा च—

" निःशेषकर्मनिर्मोक्षः स्वात्मलाभोऽभिधीयते ।
मोक्षो जीवस्य नाऽभावो न गुणाभावमात्रकम् ॥"

अर्थात् ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों का बन्ध उदय आदि का सर्वथा सर्वदा के लिए नष्ट होने से जो स्वाभाविक शुद्धात्मप्राप्ति होती है उसे मोक्ष कहते हैं। अर्थात् रोगी के रोग दूर होने को स्वास्थ्य कहते हैं, न कि रोगी के नाश होने को। अतः दीपक के बुझने के समान निर्वाण को मानने वाले, माध्यमिक बौद्धो अथवा शून्यवादी बौद्धो के कथनानुसार जीव के सर्वथा अभाव होजाने को मोक्ष नहीं कह सकते। इसी प्रकार ब्रह्माद्वैतवादियो के कथनानुसार अपनी आत्मा का नाम निशान न रहने को भी मोक्ष नहीं कह सकते। तथा च— नैयायिक वैशेषिको के मतानुसार ज्ञान आदि गुणो का नाश होकर आत्मा के जडरूप अस्तित्व को भी मोक्ष नहीं कह सकते।

मोक्ष का प्रकार

"तत्र मिथ्यादृशो बन्धः सम्यग्दृष्ट्या निवर्तते ।
कुचारित्राद्विरत्यैव प्रमादादप्रमादतः ॥
कषायादकषायेण योगाच्चायोगतः क्रमात् ।
तेन योगगुणान्मुक्तः पूर्वं सिद्धा जिनस्थितिः ॥"

(श्लोकवार्तिक)

अर्थ— मिथ्यादर्शन के निमित्त से होने वाला बध तो सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने से निवृत्त हो जाता है। और अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण से होने वाला बध इन्द्रिय-सयम-रूप और प्राणसयमरूप चारित्र से नष्ट हो जाता है। तथा सज्वलन के तीव्र उदय से होने वाला बन्ध सातवें गुणस्थान की अप्रमत्त अवस्था मे दूर हो जाता है। एव सज्वलन कषाय के मन्द उदय से होने वाला बन्ध भी यथाख्यात चारित्र के होने से समाप्त होजाता है। अन्त मे योग से होने वाला बन्ध भी चौदहवें गुणस्थान की अयोग अवस्था से ध्वस्त कर दिया जाता है। इस प्रकार यह उत्तरोत्तर बन्धो का नाश करते हुए मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

नैयायिको ने भी कहा है कि—

' कारण विशेषो से उत्पन्न हुए तत्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान का क्षय होजाता है। मिथ्याज्ञान दो प्रकार का है—

(१) सहज (२) आहार्य।

१— सहजमिथ्याज्ञान— जो स्वभाव से ही वनस्पति कीट, पतग, मूर्ख, तिर्यञ्च आदि के स्वयमेव ही मिथ्या संस्कारवश उत्पन्न होता है, उसे सहजमिथ्याज्ञान कहते हैं। जैन परिभाषा मे इसी को अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

२— आहार्यमिथ्याज्ञान— जो दूसरो के उपदेश से या स्वयं खोटे अध्यवसाय से इच्छा पूर्वक विपरीत कर लिया जाता है। उसे आहार्यमिथ्याज्ञान कहते हैं। इसी को जैन परिभाषा मे गृहीतमिथ्यात्व कहते है। इस प्रकार इन दोनो मिथ्याज्ञानो के नष्ट होने से रागद्वेष आदि दोषो की निवृत्ति हो जाने पर धर्माधर्मात्मक प्रवृत्तियो का अभाव हो जाता है। प्रवृत्तियो के अभाव होने से तज्जन्य-जन्मादि

भी नहीं होते। जन्मादि के अभाव से सांसारिक दुःख नष्ट हो जाते हैं। सब दुःखों के नाश को ही मोक्ष कहते हैं।"

नैयायिकों की मुक्ति का वर्णन पं० बलदेवप्रसाद जी उपाध्याय ने 'भारतीयदर्शन' में निम्नप्रकार से किया है—

"सूत्रकार के शब्दों में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को 'अपवर्ग' कहते हैं (तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः १।१।२२) 'अत्यन्त' का अभिप्राय है कि उपात्त जन्म का परिहार तथा अन्य जन्म का अनुत्पादन। गृहीत जन्म का नाश तो होना ही चाहिए, परन्तु भविष्य जन्म का न होना भी उतना ही आवश्यक है। इन दोनों की सिद्धि होने पर आत्मा की दुःख से आत्यन्तिकी निवृत्ति सम्पन्न होती है। जब तक बसनादि आत्मगुणों का उच्छेद सिद्ध नहीं होता, तब तक दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए मुक्तावस्था में आत्मा के नवों विशेषगुणों, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार का मूलोच्छेद होजाता है। धर्म तथा अधर्म के कारण ही सुख और दुःख की उत्पत्ति होती है। अतः ये दोनो संसाररूपी प्रासाद के स्तम्भरूप हैं। इन गुणों के उच्छेद होने से शरीरादि कार्यों का अभाव होजाता है। भोगायतन शरीर के अभाव मे इच्छा, द्वेषप्रयत्नादिकों के साथ आत्मा का सम्बन्ध कथमपि सिद्ध नहीं होता। अतः न्याय मुक्तावस्था मे आत्मा के विशेष गुणों का अत्यन्ताभाव अंगीकार करता है। मुक्त आत्मा के स्वरूप का सुन्दर परिचय न्यायमंजरी (पृ० ७७) मे दिया गया है—

स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः।
ऊर्मिषट्कादिकं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः।
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम्॥

अर्थात् मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित और अखिल गुणों से विरहित रहता है। 'ऊर्मि' का अर्थ क्लेशविशेष है। भूख, प्यास, प्राण के, लोभ, मोह, चित्त के, शीत, आतप, शरीर के; क्लेशदायक होने से ऊर्मि कहे जाते हैं। मुक्त अवस्था इन छः ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेता है और दुःखक्लेशादि सांसारिक बन्धनो से वह विमुक्त होजाता है।

मुक्त आत्मा में सुख का भी अभाव रहता है अतः मुक्तावस्था मे आनन्दोपलब्धि नहीं होती। इस सिद्धान्त का मण्डन नैयायिको ने बड़े आग्रह के साथ किया है। वेदान्तियो का मत इसके ठीक विपरीत पड़ता है। इसका खण्डन जयन्तभट्ट ने बड़े विस्तार के साथ किया है (पृ० ७८-८१) उनके कथन का सारांश यह है कि सुख के साथ राग का सम्बन्ध लगा हुआ है और यह राग बन्धन का साधन है। अतः मोक्ष को सुखात्मक मानने मे बन्धन की निवृत्ति कथमपि हो नही सकती? 'आनन्दं ब्रह्म' आदि आनन्द-बोधक वाक्यो का तात्पर्य दुःखापाय बोधन में ही है। ज्वर या शिरःपीडादि व्याधि दुःखो के निवृत्त हो जाने पर सुखी होने की कल्पना लोकव्यवहार में भी न्याय्य मानी जाती है। उद्योतकर ने दो प्रकार का निःश्रेयस माना है— (१) अपरनिःश्रेयस तथा (२) पर निःश्रेयस। तत्त्वज्ञान ही इन दोनो का कारण है। जीवन्मुक्ति को अपर निःश्रेयस कह सकते हैं, परनिःश्रेयस, विदेहमुक्ति है। वाचस्पति ने तात्पर्य टीका (पृ० ८०-८१) में इन दोनो का अन्तर विस्तार से विवेचन किया है। आत्मा के विषय मे चार प्रतिपत्तियां हैं— श्रवण, मनन, ध्यान तथा साक्षात्कार। आन्वीक्षिकी का उपयोग संशयादि-तत्त्व तथा प्रमाणतत्व के बोधन में होता है, परन्तु मनन से भी तुरन्त साक्षात्कार का उदय नही होता, क्योंकि विपर्यय ज्ञान के नाश हो जाने पर भी उसकी वासना का उपक्षय नहीं होता। ध्यान-

आत्म-साक्षात्कार के लिए नितरां उपादेय है। बिना योगजध्यान के आत्मतत्व की अपरोक्ष अनुभूति उत्पन्न नहीं होती। चतुर्थी प्रतीति पाने वाले पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं। परन्तु प्रारब्ध कर्मों का सम्बन्ध तब तक भी लगा ही रहता है। इनको भी उपभोग से जब क्षीण कर देते हैं, तभी परनिः श्रेयस का होता है (परं निः श्रेयसं न तावद् भवति यावत् उपभोगादुपात्तकर्माशयप्रचयो न क्षीयते। तस्मात्तत्वसाक्षात्कारात्मानप्रयत्नात् परः तदुपभोगप्रयत्नश्चास्थेयः। तथा च न तुल्यकाल उत्पादः परापरयोर्निःश्रेयसयोः तात्पर्यटीका पृ० ८१)।"

मुक्तिमार्ग—

"अब मुक्ति के साधनो पर विचार करना आवश्यक है। गौतम ने 'दुःखजन्मप्रवृत्ति-दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तराभावात् अपवर्गः' (१।१।२) सूत्र में मोक्षमार्ग के स्वरूप का परिचय दिया है। मिथ्याज्ञान से रागद्वेषादि दोषों का सद्भाव होता है उनसे शुभा या अशुभाप्रवृत्ति का उदय होता है। जिस से शरीर धारण करना पड़ता है। जन्म देने से प्रतिकूल सवेदनात्मक दुःखो की उत्पत्ति होती है। मिथ्याज्ञान आदि का अविच्छेदेन सदा प्रवर्तमान होना संसार है। इस ससारोच्छेद के लिए कारण मिथ्याज्ञान है जिसका समुच्छेदनितान्त स्पृहणीय है। मिथ्याज्ञान का ध्वस होता है तत्वज्ञान से। अतः आत्मस्वरूप-विषयक तत्वज्ञान से ही दुःखात्यन्त निवृत्तिरूप अपवर्ग की सिद्धि होती है। जयन्तभट्ट ने 'न्यायमञ्जरी' (पृ० ८९-९१) में कर्मज्ञान समुच्चयवाद का विशदरूपेण खण्डन कर ज्ञान की ही उपयोगिता पर जोर दिया है। परन्तु तत्वज्ञान से आत्म साक्षात्कार की सिद्धि के लिए ध्यान धारणादि योग प्रसिद्ध उपायो का अवलम्बन श्रेयस्कर है। गौतम ने 'तदर्थयमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः' (न्या० सू० ४।२।४६) सूत्र में प्राणायाम आदि उपायो के आश्रय लेने की बात स्पष्टाक्षरो मे प्रतिपादित की है।" (भारतीयदर्शन पृ० २६४-२६७)

इसी की समीक्षा करते हुए पं० बलदेवप्रसाद उपाध्याय लिखते हैं कि—

"नैयायिकमुक्ति का सिद्धान्त अन्य दार्शनिको के कौतुका वह फटाक्ष- का विषय है मुक्तावस्था मे समस्त अज्ञानावरणो से विमुक्त आत्मा मे नित्य आनन्द को मानने वाले वेदान्ती श्रीहर्ष ने नैषधचरित में नैयायिक मुक्ति की जो दिल्लगी उड़ाई है वह पण्डित समाज मे अपनी रोचकता के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। उनका कथन है जिन सूत्रकारो ने सचेता पुरुषो के लिए ज्ञानसुखादिविरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का परमलक्ष्य बतलाकर उपदेश दिया है उनका अभिधान गौतम शब्दतः ही यथार्थ नही है, अपितु अर्थतः भी है। वह केवल गौ (बैल) न होकर गौतम (अतिशयेन गौःगोतम) पक्का बैल है (१)। वैष्णव दार्शनिको ने भी इसीलिए नैयायिको के ऊपर फबतियाँ सुनाई (उडाई) है। मुक्तावस्था मे आनन्दधाम गोलोक तथा नित्य वृन्दावन मे सरस विहार करने की व्यवस्था बतलाने वाले वैष्णव लोग इस नीरस मुक्ति की कल्पना से घबरा उठते हैं और भक्तो के भावुक हृदय पुकार उठते हैं कि वृन्दावन के सरस निकुञ्जो मे शृगाल बनकर जीवन बिताना हमें मंजूर है, परन्तु हमलोग वैशेषिक मुक्ति को पाने के लिए कथमपि इच्छुक नही है (२)। यह आक्षेप केवल नैयायिको के ऊपर ही नही है। अन्य दार्शनिको के मत से भी मुक्ति मे दुःखाभाव ही रहता है, सुख नही। साख्य आदि समस्त दार्शनिकों के प्रति भी यही आक्षेप हैं। नैयायिक विशेष विद्वान् होने से इस मण्डली का प्रतिनिधित्व करता है।"

(भारतीयदर्शन पृ० २६९)

१— मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥ नैषधचरित १७-७५।

२— वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात् ॥
—सर्वसिद्धान्त संग्रह पृ० २८ ।

सारांश यह है कि बौद्धों की तरह नैयायिकों की मुक्ति को भी मुक्ति नहीं माना जा सकता है। जहां बौद्धों ने आत्मा के नष्ट होने का नाम मुक्ति कहा है वहां नैयायिकों ने आत्मा को जड़ बना दिया है। ऐसी जड़त्वरूप मुक्ति को कोई भी सहृदय बुद्धिमान् स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो सकता। इसीलिए बहुत से नैयायिकों को भी यह बात रुचिकर नहीं हुई, और उन्होंने मोक्ष अवस्था में भी आत्मा में सुख की सत्ता को स्वीकार किया है। इसी प्रकार सांख्य और योगदर्शन ने भी मुक्तात्माओं में ज्ञान और सुख का अभाव माना है। यद्यपि वे मुक्तात्माओं को चिदात्मक मानते हैं, परन्तु यह चैतन्यपना किमात्मक है? इसका निर्णय नहीं होता। इसलिए नैयायिकों की मुक्ति और सांख्यो की मुक्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं।

मीमांसा और मोक्ष—

'मोक्षावस्था के स्वरूपनिर्णय मे भी मीमांसकों में पर्याप्त मतभेद है। गुरुमत मे आत्मज्ञान पूर्वक वैदिक कर्म के अनुष्ठान मे धर्माधर्म के विनाश होजाने पर जो देहेन्द्रियादि-सम्बन्ध का आत्यन्तिक विच्छेद होजाता है वह मोक्ष है। भाट्टो मे दो मत हैं, एक पक्ष के अनुसार मुक्तावस्था मे नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है। बाह्यपदार्थों के साथ सम्बन्ध विलय होने पर बाह्य सुख की अनुभूति मुक्तावस्था मे अवश्य नहीं होती, परन्तु आत्मा के शुद्धस्वरूप के उदय होने से शुद्ध आनन्द का आविर्भाव अवश्यमेव होता है, किन्तु 'पार्थसारथि' दूसरे मत के अनुयायी प्रतीत होते हैं। जिसके अनुसार मुक्तात्मा मे सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है। 'अशरीर वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' अर्थात् शरीर से हीन आत्मा को प्रिय या अप्रिय, हर्ष या शोक, स्पर्श नहीं करते। यदि यह वचन विषय सुख के विषय मे माना जाय तो 'आनन्दं ब्रह्म' में आनन्द का अर्थ दुःखाभाव मानने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है (शा० दी० ३५६) इन दोनों मतों का उल्लेख मधुसूदन ने 'वेदान्तकल्पलतिका' (पृ० ४) में किया है।"

(भारतीयदर्शन पृ० ३६७)

वेदान्तदर्शन और मोक्ष—

मूलवेदान्त सूत्रों के रचयिता का क्या मत था आज यह जानना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव सा है। क्योंकि उन सूत्रों का इतने से संक्षिप्त शब्दों मे कथन किया गया है, कि जिन का अर्थ अपनी २ बुद्धि के अनुसार अनेक प्रकार से लगाया जा सकता है। यही कारण है, कि वेदान्त के सभी भाष्यकारो ने अपने २ मतके अनुकूल उनके अर्थ लगाये हैं। फिर भी यह निर्विवाद है, कि वेदान्तदर्शन की मुक्ति सच्चिदानन्दरूपात्मक है।

इस प्रकार यह सिद्ध होगया, कि समस्त आस्तिकों का एकमत है। अर्थात् सभी आत्मा की शुद्ध अवस्था को मोक्ष मानते हैं *।

जैनाचार्यों ने इसका सुन्दर विवेचन किया है—

*—वेदान्त विषय का विशेष विवेचन हमने 'ईश्वरमीमांसा' नामक बृहद्ग्रन्थ में किया है। जो पाठक वेदान्त के विषय में विशदरूप से जानना चाहते हैं तो वे उक्त ग्रन्थ का स्वाध्याय करने का कष्ट करें।

यथा—

अभावाद् बन्धहेतूनां बन्धनिर्जरया तथा।
कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ २ ॥
बध्नाति कर्म सद्वेद्यं सयोगः केवली विदुः।
योगाभावादयोगस्य कर्मबन्धो न विद्यते ॥ ३ ॥
ततो निर्जीर्णनिःशेषपूर्वसञ्चितकर्मणः।
आत्मनः स्वात्मसम्प्राप्तिर्मोक्षः सद्योऽवसीयते ॥ ४ ॥
आद्यभावाकभावास्य कर्मबन्धनसंततेः।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्तबीजवत् ॥ ६ ॥
(तत्वार्थसार अ० ८)

अर्थ— आस्रव, मिथ्यात्व, कषायादि बन्ध हेतुओं का अभाव होजाने से और बन्धन को प्राप्त हुए कर्मों की निर्जरा होने से सम्पूर्ण कर्मों का नाश होना ही मोक्ष है।

जीव तो कर्मों का सतत बन्ध करते ही हैं, परन्तु संयोग केवली भगवान् भी योग के रहने से एक साता वेदनीय कर्म का बन्ध करते हैं। उपभोग का अभाव होजाने से अयोगकवली के कर्मबन्धन का पूर्ण अभाव हो जाता है।

इस प्रकार नवीन कर्मबन्ध का अभाव होजाने पर पूर्वसञ्चित कर्मों की भी शीघ्र ही सम्पूर्ण निर्जरा होजाती है। अतः स्वस्वरूप की शुद्ध पूर्ण प्राप्ति होने से अथवा शुद्धात्मस्वरूप प्रगट होने मे कुछ भी विलम्ब नहीं लगता। उस स्वरूप का प्राप्त होजाना ही जीव का मोक्ष है। वह मोक्ष संवर पूर्वक निःशेष निर्जरा करने वाले को शीघ्र प्राप्त हो जाता है।

जिस वस्तु की उत्पत्ति का आद्य समय नहीं होता उस को अनादि कहते हैं। जो भाव अनादि होता है उसका अन्त भी कभी नहीं होता। यदि अनादि का अन्त होजाय तो सत् का विनाश मानना पड़ेगा। परन्तु सत् का विनाश, सिद्धान्त से भी विरुद्ध है और युक्ति से भी विरुद्ध है। सिद्धान्त मे द्रव्यमात्र को नित्य कहा है। अकारणक कार्योत्पत्ति न होना यहां युक्ति है। यदि अकारणक उत्पत्ति हो सकती हो, तो अकुरोत्पत्ति के लिए बीज की अपेक्षा किसी का भी न हो।"

अतः यहाँ पर यह शङ्का होती है कि अनादि कर्मबन्ध का नाश कैसे हो सकता है? इसका आचार्य उत्तर देते है कि कर्म अनादि तो हैं, किन्तु जातिरूप से अनादि हैं। व्यक्तिरूप से प्रत्येककर्म उत्पन्न होता है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज अनादिकाल से उत्पन्न हो रहे हैं उसी प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म के उत्पन्न होने का क्रम भी अनादिकाल से ही चला आ रहा है। किन्तु इनका नाश भी किया जा सकता है। जैसे बीज के दग्ध कर देने पर अनादिकाल से चली आरही वृक्षसतति नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार भावकर्म के नष्ट होने से द्रव्यकर्म का भी नाश होजाता है। इस लिए आचार्य कहते हैं कि—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥

अर्थात् जिस प्रकार बीज के भस्मीभूत होने पर अकुर उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार ज्ञानाग्नि से कर्मरूप बीज को जला देने पर ससाररूपी अकुर उत्पन्न नहीं हो सकता।

सारांश यह है, कि आत्मा में दो प्रकार के भाव पाये जाते हैं १— स्वाभाविक २— वैभाविक। दर्शन, ज्ञान व आनन्द आदि आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। ये सदा आत्मा के साथ रहते हैं। जैनदर्शन की दृष्टि से गुण और गुणी में अभेद होने के कारण इन गुणों को ही आत्मा भी कह सकते हैं। दूसरे रागद्वेषादिक वैभाविक गुण हैं जिस प्रकार जल का शीतत्व तो स्वाभाविक गुण है और उष्णत्व अग्नि के निमित्त से उसमें उत्पन्न हुआ है। तथा जिस प्रकार अग्नि के निमित्त से उत्पन्न हुआ उष्णत्व गुण, जल से अग्नि के वियोग से नष्ट होजाता है, उसी प्रकार आत्मा के वैभाविक गुण भी नष्ट होजाते हैं। इन वैभाविक गुणों के नाश होने का नाम ही मोक्ष है।

अन्य गुणों की तरह उर्ध्वगमन भी जीव का स्वाभाविक गुण है। किन्तु वह गुण कर्मों के कारण से विकृत हो रहा है। अतः कर्मों के वश होकर जीव तिर्यग्गति या अधोगति में परिणत हो रहा है। इसलिए जब कर्मों का नाश हो जाता है, तो स्वभावतः जीव उर्ध्वगति करता है, और लोक के अन्तिम भाग में जाकर स्थिर हो जाता है। क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार गति मे निमित्तकारण, धर्मद्रव्य को माना गया है। अतः आत्मा जहां तक धर्मद्रव्य है वहीं गति करके रुक जाता है। उर्ध्वगति के लिए जैनाचार्यों ने निम्न दृष्टान्त दिये हैं—

"पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥

अर्थ— पूर्व प्रयोग (पूर्वसंस्कार) से, सङ्गरहित होने से, कर्मबन्धन के नष्ट होने से और ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।"

'आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥

अर्थ— (१) मुक्त जीव, कुम्भकार के द्वारा घुमाये हुए चाक की तरह पूर्व प्रयोग से उर्ध्वगमन करता है। अर्थात् जिस प्रकार कुम्भकार चाक को घुमाकर छोड़ देता है, उसी प्रकार जीव भी ससार अवस्था मे मोक्ष-प्राप्ति के लिए बराबर अभ्यास करता था। मुक्त होने पर यद्यपि उसका वह अभ्यास छूट गया तथापि वह पूर्व के अभ्यास से ऊपर का गमन करता है। (२) मुक्त जीव, दूर होगया है लेप जिसका ऐसे तूम्बे की तरह ऊपर को जाता है। अर्थात् तूम्बे पर जब तक मिट्टी का लेप रहता है तब तक वह वजनदार होने से पानी में डूबा रहता है पर ज्योंही उसकी मिट्टी गलकर दूर होजाती है त्योंही वह पानी के ऊपर आजाता है। इसी प्रकार यह जीव जब तक कर्मलेप से युक्त रहता है तब तक संसार समुद्र में डूबा रहता है, पर ज्योंही इसका कर्मलेप दूर हो जाता है त्योंही वह ऊपर उठकर लोक के ऊपर पहुँच जाता है। (३) मुक्तजीव, कर्मबन्ध से मुक्त होने के कारण एरण्ड के बीज के समान ऊपर को जाता है। अर्थात् एरण्ड वृक्ष का सूखा बीज जब चटकता है उसकी मिंगी (गिरी) जिस प्रकार ऊपर को जाती है उसी प्रकार यह जीव कर्मों का बन्धन दूर होने पर ऊपर को जाता है। और (४) मुक्तजीव स्वभाव से ही अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्व गमन करता है। अर्थात् जिस प्रकार वायु के अभाव में अग्नि (दीपक आदि) की शिखा ऊपर को जाती है उसी प्रकार कर्मों के बिना यह जीव भी ऊपर को जाता है।" (मोक्षशास्त्र अ० १० सू० ६—७)

इति मोक्षाधिकारः ॥ ८ ॥

अथ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः (९)

अब शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का निषेध करने के लिए सर्वविशुद्ध अधिकार का आरम्भ करते हैं—

दवियं जं उप्पजइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहि दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥ ३०८ ॥

जीवस्सा जीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥ ३०९ ॥

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण स होइ ॥३१०॥

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पं जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥ ३११ ॥

गुणैरुत्पद्यते द्रव्य-मनन्यद्विद्धि तैश्च तत् ।
कंठभूषादिपर्यायैरनन्यत्कनकं यथा ॥ ३०८ ॥

पुद्गलजीवयोः सूत्रे परिणामाः प्रदर्शिताः ।
विद्धि जीवमजीवं तैः परिणामैरनन्यकम् ॥ ३०९ ॥

कुतश्चिदप्यनुत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन चित् ।
नोत्पादयति किञ्चिद् वै तस्मान्न कारणं हि सः ॥ ३१० ॥

कर्म प्रतीत्य कर्ता वै कर्तारं प्राप्य कर्म च ।
नियमाज्जायते नित्यं त्वन्या सिद्धिर्न दृश्यते ॥ ३११ ॥

भावार्थ— जैसे सुवर्ण अपने कटक आदि आभूषणों से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य परिणमन करता हुआ भी अपने गुणों से अभिन्न होता है।

आगम में जो जीव व अजीव के परिणाम बतलाये हैं वे परिणाम क्रम से जीव वा अजीवरूप ही हैं।

यह आत्मा किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ है इसलिए यह किसी का कार्य नहीं है, और निश्चयनय से न आत्मा किसी को उत्पन्न ही करता है। अतः यह किसी का कारण भी नहीं है।

कर्म का आश्रय करके जीव, उपचार से कर्ता होता है तथा जीवरूपी कर्ता का आश्रय

करके उसके कर्म उत्पन्न होते हैं। अन्य प्रकार से कर्त्ता कर्म की सिद्धि नहीं हो सकती है।

विशेषार्थ—जीव अपने परिणामों से उत्पन्न हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है। इस प्रकार अजीव भी क्रम से निश्चित अपने परिणामों से उत्पन्न हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है। क्योंकि सभी द्रव्यों का अपने २ परिणामों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, अर्थात् अभिन्नता है। कोई भी द्रव्य अपने परिणामों से भिन्न नहीं है। जैसे सुवर्ण कंकणादि पर्यायरूप परिणत होने पर भी सुवर्ण ही है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों की भी व्यवस्था है। जैसे अपने परिणामों से उत्पन्न हुए जीव का अजीव के साथ कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। क्योंकि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव नहीं है।

सारांश यह है, कि प्रत्येक द्रव्य का परिणाम पृथक् पृथक् है और प्रत्येक द्रव्य अपने २ परिणामों का कर्ता है। तथा उन द्रव्यों के परिणाम ही उनके कर्म हैं। इसलिए निश्चयनय की दृष्टि से कोई द्रव्य, अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं हो सकता है और न किसी का कर्म हो सकता है। अतः यह सिद्ध हुआ, कि आत्मा अपने परिणामों का कर्ता है और वे परिणाम ही उसके कर्म हैं। इसी प्रकार अजीव भी अपने परिणामों का कर्त्ता है और उसके परिणाम ही उसके कर्म हैं। इस लिए यह आत्मा अन्य द्रव्यों के परिणामों का कर्ता नहीं है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्वत्।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः॥

(कलश)

अर्थ— ज्ञानघन आत्मा का कर्तृत्व व भोक्तृत्व आदि स्वभाव नहीं है। अज्ञान से ही इसको कर्ता व भोक्ता आदि कहा जाता है। जिस समय इस आत्मा का अज्ञान नष्ट हो जाता है, तो इसका कर्तृत्वभाव भी नष्ट होजाता है।

तथा च—

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरित भुवनाभोगभुवनः।
तथाप्यस्यासौ स्यादिह किल बंधःप्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः॥

(कलश)

अर्थ— निश्चयनय से आत्मा शुद्धस्वभाव व ज्ञाता, दृष्टामात्र है। किन्तु जब तक इस की अज्ञान अवस्था है तब तक अज्ञान से यह कर्मकृतभावों में स्वत्व मानकर कर्ता, भोक्ता बनता है, और बन्ध को प्राप्त होकर संसार में भ्रमण करता रहता है।

सारांश यह है कि, जिस प्रकार सूर्य नेत्रों को और वस्तुओं को प्रकाशित करने में निमित्तमात्र होते हुए भी न नेत्ररूप होता है और न वस्तुरूप होता है। अथवा जिस प्रकार दर्पण में अपना मुख देखने वाला न दर्पणरूप होता है और न प्रतिबिम्बरूप ही। किन्तु वह फिर भी प्रतिबिम्बरूप परिणत होने में निमित्तकारण अवश्य है। इसी प्रकार आत्मा कर्मों का कर्ता न होते हुए भी आत्मा उनकर्मों का निमित्तकारण अवश्य है। किन्तु अज्ञानी आत्मा अपने अज्ञानवश

देहादि को अथवा उस कर्मरूप पुद्गल पिण्ड को अपना कार्य समझकर उसी में फंसा रहता है। उसके लिए आत्मज्ञानके सम्बन्ध मे महान् अंधकार ही अंधकार रहता है। वे लोग यही नहीं समझते कि इस शरीर और कर्मों का कर्त्ता आत्मा है अपितु उनको यह दृढ़ विश्वास होता है कि यह शरीर ही आत्मा है अर्थात् शरीर ही मैं हूं। उनको आत्मज्ञान की चर्चा तक भी बुरी मालूम होती है। इसलिए वे देह के सुख-दुःखों को ही अपना सुख-दुःख मानकर सदा दुःखरूपी सागर मे डूबे रहते हैं। जिस प्रकार उल्लू दिन को ही अंधेरी रात समझना है अथवा जिसने जल में प्रतिबिम्बित होते हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब को ही सूर्य मान लिया है उसके लिए जब तक वह पानी का गड्ढा है उसी समय तक सूर्य भी है। इसी प्रकार अज्ञानी जन, इस शरीर में प्रतिबिम्बित आत्मा के प्रतिबिम्ब को ही आत्मा मानकर इस शरीर के नाश से आत्मा का नाश मान लेता है। अथवा जिस प्रकार मलिन पानी मे प्रतिबिम्ब भी मलिन ही प्रतिभासित होता है उसी प्रकार इस शरीर में प्रतिबिम्बित आत्मा भी मलिन प्रतीत होता है। अथवा जिस प्रकार कोई अज्ञान से रज्जू मे सर्प का भ्रम होने से भयभीत होता है और जब तक उसको इस बात का ज्ञान न होजाय, कि वास्तव में यह सर्प नहीं, रस्सी है तब तक उसका भय दूर नहीं होता। इसी प्रकार जब तक आत्मा का यथार्थ ज्ञान न होजाय तब तक मनुष्य भयभीत रहता है। अथवा जिस प्रकार सोया हुआ मनुष्य स्वप्न को ही सत्य मानकर सुखी, दुःखी होता रहता है उसी प्रकार अज्ञानरूपी निद्रा मे सोया हुआ यह आत्मा इन सांसारिक सुख-दुःखो को अपना मानकर दुःखी, सुखी हो रहा है। जिस समय इसके ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं उस समय ससार को स्वप्नवत् समझ इस से उदासीन हो जाता है।

आगे इस अज्ञान की महिमा को प्रगट करते हैं—

चेया ऊ पयडी अट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडोवि चेययट्ठं उपज्जइ विणस्सइ॥ ३१२॥
एवं बंधो उ दुराहं पि अरागोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए॥ ३१३॥

नश्यत्युत्पद्यते चात्मा प्रकृत्यर्थमिति स्फुटम्।
प्रकृतिश्चेतनार्थश्च जायते नश्यति ध्रुवम्॥ ३१२॥
अन्योन्यप्रत्ययादेव बन्धस्तु स्याद् द्वयोरपि।
आत्मनः प्रकृतेश्चाथ संसारस्तेन जायते॥ ३१३॥

भावार्थ— यह अज्ञानी आत्मा, कर्म-प्रकृति के उदय का निमित्त पाकर अपने विभाव परिणामों से उत्पन्न होता है व नष्ट होता है। इसी प्रकार कर्म-प्रकृति भी आत्मा के परिणामो का निमित्त पाकर उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। इसी प्रकार संसारी आत्मा का और ज्ञानावरणीय आदि कर्मवर्गणाओं का परस्पर बन्ध होता है। इसी बन्ध से इस जीव का ससार चक्र चलता है।

विशेषार्थ— यह आत्मा अपने शुद्धबुद्धस्वभाव से च्युत होकर कर्म-प्रकृतियो के औदयिक निमित्त से रागादि विभावरूप परिणत होता हुआ उत्पन्न व नष्ट होता रहता हैं। अर्थात् पूर्व में बांधे हुए कर्मों का निमित्त पाकर जब यह अपने स्वरूप में लीन नहीं रहता तब

यह रागादि परिणामों को करता रहता है और वे परिणाम बार २ उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं। इसी प्रकार कर्मों की प्रकृतियां भी इस रागी जीव के रागद्वेषादि परिणामों के निमित्त से ज्ञानावरणीय आदि रूप में उत्पन्न होती हैं। अर्थात् जीव के रागादिभावों के निमित्त से नवीन कर्मवर्गणाओं का आस्रव व बन्ध होता है। और वह बन्ध अपनी स्थिति पूरी करके नष्ट होजाता है। अर्थात् उसका आत्मा से सम्बन्ध विच्छेद होजाता है। इस प्रकार अपने शुद्धस्वभाव से च्युत आत्मा के आत्मा और कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल पिण्डरूप ज्ञानावरणादि प्रकृतियों का बन्ध होता है। उसी बन्ध से ससार उत्पन्न होता है। किन्तु आत्मा के स्वस्वभाव में लीन होने पर बन्धादि नहीं होते।

सारांश यह है कि— दूसरे के बोझ को अपने ऊपर लाद लेने से जिस प्रकार उस बोझ के भार से दबना पड़ता है उसी प्रकार इस आत्मा ने अज्ञानवश पौद्गलिक विकारों को अपना समझकर उनको अपने ऊपर लाद लिया है, और उनके भार से दब रहा है। जब इसको (सद्गुरु की कृपा से अथवा अपने कर्मों के मन्दोदय के कारण) अपने निजस्वरूप का बोध हो जाता है तब यह इस पराये भार को उतार कर फेंक देता है और इसके दुःखो से भी छूट जाता है।

यह आत्मा कब तक अज्ञानी रहता है और कब ज्ञानी होता है, यह बताते हैं—

जा एसो पयडीयट्ठं चेयाणेव विमुंचए।
अयाणओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥ ३१४॥

जया विमुंचए चेया कम्मफलमणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥ ३१५॥

यावदेष प्रकृत्यर्थमात्मा नैव विमुंचति।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥ ३१४ ॥

विमुञ्चति यदात्मा वै कर्मफलमनन्तकम्।
तदा भवति मुक्तः स ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥

भाषार्थ— जब तक यह आत्मा कर्मों मे ममत्व रखता है अर्थात् अपने को कर्मरूप ही समझता है उस समय तक यह आत्मा मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और असंयमी है। किन्तु जब वह अनन्त शक्तिरूप आत्मा कर्म और कर्म के फल मे ममत्व बुद्धि को त्याग देता है तब यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी और सयमी होता है।

विशेषार्थ— जब तक यह आत्मा, अपने और प्रकृति के पृथक् २ स्वभावरूप लक्षण के भेदविज्ञान के अभाव से अपने ही बन्ध का निमित्त प्रकृति के स्वभाव को अपना स्वभाव मान कर उसका परित्याग नहीं करता है तथा अज्ञानवश कर्मजन्य कार्यों को ही अपना कार्य मानता है तब तक यह मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और असयमी होता है। और उसी समय तक पर और आत्मा के एकत्व का अध्यवसान करने से कर्ता होता है। किन्तु जिस समय यही आत्मा अपने और प्रकृति के पृथक् २ लक्षण के निर्णयरूप ज्ञान से अपने बन्ध का निमित्तरूप प्रकृति के स्वभाव को

त्याग देता है उस समय यह आत्मा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी और संयमी होता है। अभिप्राय यह है, कि जब तक यह आत्मा अपना और पर का स्वभाव न जानकर अज्ञानवश कर्म प्रकृति के उदय को ही अपना समझकर तद्रूप परिणत होता है उस समय यह आत्मा मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और असयमी होकर कर्मबन्ध को करता रहता है। और जब इसको आत्मज्ञान होजाता है उस समय न यह कर्त्ता रहता है और न भोक्ता। ऐसी परिस्थिति मे ज्ञानी के बन्ध भी नहीं होता। उस समय यह केवल ज्ञाता-द्रष्टामात्र रहता है।

सारांश यह है, कि जिस प्रकार किसी की आंख मे पीलिये का रोग होने से उसको पीला ही पीला दिखाई देता है उसी प्रकार आत्मा मे मिथ्यात्व का रोग होने से इस अज्ञानी आत्मा को सारा संसार अनात्मरूप दिखाई देता है। इस लिए यह देहादि को ही आत्मा मानकर अनादिकाल से ससार मे भ्रमण कर रहा है। जब इसका यह अज्ञान नष्ट होजाय तब इसका ससार भी नष्ट हो जायेगा।

जैसा कि पूज्यपाद आचार्य लिखते हैं—

मूलं ससारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः॥ १५॥
(समाधिशतक)

अर्थ— ससार के जितने भी दुःख हैं वे सब शरीर के साथ ही होते हैं। जब तक इस जीव की बाह्य पदार्थों मे आत्मबुद्धि रहती है तब तक ही आत्मा से शरीर का सम्बन्ध होता रहता है और वह भयानक से भयानक दु.खो को भोगते हुए भी इसी संसार मे मग्न रहता है। जिस प्रकार मल मे उत्पन्न हुआ कीडा मल मे ही मग्न हो रहा है उसी प्रकार यह ससारी जीव ससार मे ही मग्न रहता है। जब इस जीव का शरीरादि बाह्य पदार्थों से ममत्व छूट जाता है तब किसी भी बाह्य पदार्थ मे अहकाररूप ममत्वबुद्धि नहीं होती। उस ममत्व बुद्धि के अभाव मे किसी से रागद्वेष नहीं रहता। रागद्वेष के अभाव मे दुःखो का भी अभाव होजाता है।

आगे इसी अर्थ को पुष्ट करते हैं—

अण्णाणी कम्मफलं पयडि सहावट्ठिओ उ वेदेइ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उइयं ण वेदेइ॥ ३१६॥

अज्ञः कर्मफलं भुंक्ते प्रकृतेर्भावसस्थितः।
पुनः कर्मफल ज्ञानी वेत्ति भुंक्ते न वोदितम्॥ ३१६॥

भावार्थ— कर्म प्रकृतियों के स्वभाव मे स्थित अज्ञानी आत्मा, कर्मों के फल का अनुभव करता है। किन्तु ज्ञानी, ज्ञाता, द्रष्टामात्र होने के कारण कर्मों की उदयरूप अवस्था का न कर्त्ता है और न भोक्ता है।

विशेषार्थ— अज्ञानी को शुद्धात्मतत्त्व का ज्ञान न होने से जैसा कर्म उदय में आता है तद्रूप परिणत होता हुआ उसी को अपना जानकर उसको भोगता है। किन्तु ज्ञानी आत्मानुभूति होने के कारण कर्मोदय को अपना स्वभाव न जानता हुआ उससे उदासीन रहता है। अतः वह उसका भोक्ता भी नहीं है।

यहां श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, कि—

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितै रासेव्यतां ज्ञानिता ॥
(कलश)

अर्थ— अज्ञानी पुरुष तो प्रकृति के स्वभाव में रागी (लीन) है और उसी को अपना स्वभाव जानता है। इसलिए वह उसका भोक्ता है और ज्ञानी प्रकृति-स्वभाव से विरक्त होता हुआ उसको परका स्वभाव जानता है अतः उसका भोक्ता नहीं है। आचार्य उपदेश करते हैं कि जो बुद्धिमान् एव चतुर पुरुष हैं वे ज्ञानीपन और अज्ञानीपन के नियम को विचार कर अज्ञानता का त्याग करे और शुद्धात्मा में लीन होकर ज्ञान का सेवन करें।

आगे कहते है कि अज्ञानी नियम से कर्मों का भोक्ता होता है—

ण मुणइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि ।
गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ॥ ३१७ ॥

सम्यक् शास्त्राणि चाधीत्य नाभव्यः प्रकृतिं त्यजेत् ।
गुडदुग्धं पिबन्तोऽपि सर्पा न निर्विषा यथा ॥ ३१७ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार सर्प, गुड और दूध पीने पर भी अपनी विषयरूप प्रकृति का त्याग नही करते हैं उसी प्रकार अभव्य जीव, शास्त्रों का भली भांति अध्ययन करने पर भी कर्म प्रकृति के उदय के स्वभाव का परित्याग नहीं करते हैं।

विशेषार्थ— जिस वस्तु का जो स्वभाव होता है वह उस स्वभाव को कभी नहीं छोड़ सकती। जैसे सर्पों के अन्दर विष होता है, उनको कितनी ही दूध और मिश्री पिलाई जाये किन्तु वे कभी भी अपने विष का परित्याग नहीं करते हैं अर्थात् उनका विष नहीं उतरता है। इसी प्रकार अभव्य जीव, चाहे कितना ही शास्त्रों को पढ़े, पर वह मिथ्यात्वादि रागभावो मे मग्न होता हुआ अपने स्वभाव को नही छोड़ता है। क्योंकि उसमें शुद्धात्मतत्त्व का ऐसा निश्चय नहीं होता जिस से उसके चित्त मे वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का अनुभव हो सके, इसी कारण से अज्ञानी जीव अशुभ कर्मों के उदय से 'मैं दुःखी हूं' इस भाव को लेकर अत्यन्त व्याकुल होता है और जब शुभ कर्मों का उदय होता है तब 'मैं सुखी हूं' इस भाव को लेकर अहंकार करता है। इसी से वह कर्मों का कर्त्ता व भोक्ता हो जाता है। ज्ञाता द्रष्टामात्र नही रहता।

आगे कहते है कि ज्ञानी जीव कर्मफल का भोक्ता नही होता—

णिव्वेयसमावण्णो णाणीकम्मप्फलं वियाणेइ ।
महुरं कडुयं बहुविहंअवेयओ तेण सो होई ॥ ३१८ ॥

निर्वेदमागतो ज्ञानी वेत्ति कर्मफलं सदा।
कटुकं मधुरं चैव किन्तु भुंक्ते न तत्फलम् ॥ ३१८ ॥

भावार्थ— वैराग्य युक्त ज्ञानी, मधुर, कटुक आदि अर्थात् सुखदुःखात्मक कर्मफलों को जानता हुआ भी उनका भोक्ता नहीं है, इसलिए वह ज्ञाता, द्रष्टामात्र कहा गया है।

विशेषार्थ— संसार, शरीर, भोग इन तीनों से विरक्त ज्ञानी उदय में आये हुए शुभ या अशुभ कर्मों के वास्तविक स्वरूप को निर्विकार निजात्मस्वरूप से भिन्न जानता है अर्थात् अशुभ कर्मों के फल को नीम, विष आदि के समान कडुआ अर्थात् हेय समझता है तथा अशुभ कर्मों के फल को गुड़, शक्कर आदि की तरह मीठा जानता है। अभिप्राय यह है, कि जब अशुभ नाम, गोत्र, आयु तथा वेदनीय का उदय होता है तब उनके स्वरूप को विचार लेता है नीम, काजीर आदि के समान कडुआ फल देने वाला है। और जब शुभ नाम, कर्म का उदय होता है तब उसके फल को गुड, खाँड आदि के समान मधुर जानता है। किन्तु यह सब कुछ जानते हुए भी ज्ञानी जन शुद्धात्मानुभूतिजनित अतीन्द्रिय सुख को छोडकर इन्द्रियजनित सांसारिक सुखो मे प्रवृत्त नहीं होता है। इसीलिए वह ज्ञानी इन कर्मों का भोक्ता भी नहीं कहा गया है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते है कि—

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करणवेदनयोरभावाच्छुद्धस्वभावनिरतः स हि मुक्त एव ॥
(कलश)

अर्थ— ज्ञानी स्वतन्त्र होकर न तो कर्म को करता है और न भोगता है केवल यह उसके स्वभाव को जानता ही है। इस प्रकार करने और भोगने के अभाव से शुद्धस्वभाव मे संलग्न होता हुआ यह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

इसी विषय को पुनः पुष्ट करते है—

णवि कुव्वइ णवि वेयइ णाणी कम्माइ बहुपयाराइ।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥ ३१९ ॥

विविधानि च कर्माणि न भुंक्ते न करोति सः।
वेत्ति कर्मफलं बन्धं पुण्यं पापं पुनर्बुधः ॥ ३१९ ॥

भावार्थ— तत्त्वज्ञानी, अनेक प्रकार के कर्मों का न तो कर्ता ही है और न भोक्ता ही है। किन्तु पुण्य पाप, बन्ध और कर्मफल का ज्ञाता मात्र ही है।

विशेषार्थ— ज्ञानी कर्मचेतना और कर्मफल चेतना से रहित होने के कारण इच्छापूर्वक कर्मों का कर्ता और भोक्ता नहीं होता। रागरहित होने के कारण न कर्म को करता है और न भोगता है। ज्ञानी, ज्ञान चेतनामय होने से शुभाशुभ कर्मफल तथा कर्म और कर्म के बन्ध का ज्ञाता मात्र ही है।

पुनः इसी विषय का समर्थन करते हैं—

पुनः इसी विषय का समर्थन करते हैं—

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥ ३२० ॥

ज्ञानमकारकं चक्षुः पश्यत्यवेदकं यथा।
वेत्ति कर्मोदयं तद्वद् बन्धं मोक्षश्च निर्जराम् ॥ ३२० ॥

भावार्थ— जिस प्रकार नेत्र, देखने योग्य पदार्थ को देखता ही है उसका कर्त्ता, भोक्ता नहीं है। उसी प्रकार ज्ञान भी बन्ध, मोक्ष कर्म का उदय और निर्जरा आदि जानता ही है, इनका कर्ता व भोक्ता नहीं है।

विशेषार्थ— जैसे आँख, दृश्य अग्नि का न तो कर्ता ही है और न भोक्ता ही है, अर्थात् जिस प्रकार कोई व्यक्ति अग्नि को उत्पन्न कर रहा है उसी प्रकार चक्षु अग्नि का कर्ता नहीं है इसी प्रकार आँख अग्नि का भोक्ता भी नहीं है अर्थात् जिस प्रकार अग्नि में पड़ा हुआ लोहे का गोला अग्निरूप होकर अग्नि का अनुभव कर रहा है उसी प्रकार आँख अग्नि का अनुभव भी नहीं करती है। क्योंकि आँख, अग्नि से सर्वथा पृथक् है। उसी प्रकार शुद्ध ज्ञान भी शुद्ध निश्चयनय से न तो परभाव और परवस्तु का कर्ता ही है और न भोक्ता ही है। यह ज्ञान तो कर्म बन्ध व मोक्ष के स्वभाव को तथा शुभ व अशुभ कर्मों के उदय को और निर्जरा आदि का ज्ञाता मात्र ही है।

श्री अमृत चन्द्राचार्य कहते हैं कि—

ये कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसावृताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥

(कलश)

अर्थ— जो पुरुष, अज्ञानरूपी अन्धकार से आवृत हो आत्मा को कर्ता ही मानते हैं उनके मोक्ष चाहने पर भी साधारण जन के समान उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

इस तरह सर्वविशुद्ध पारिणामिक परभाव को ग्रहण करने वाले शुद्धद्रव्यार्थिकनय के द्वारा यदि विचारा जाय, तो यह जीव कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि परिणामों से सर्वथा शून्य है। इस प्रकार शुद्धद्रव्यार्थिकनय से निरपेक्ष शुद्ध-आत्मतत्त्व का वर्णन करने वाला यह "सर्वविशुद्धि" नामक अधिकार समाप्त हुआ।

"अब आगे औपशमिक आदि पांच भावों में से किस भाव द्वारा मोक्ष होता है, इसका विचार करते हैं— यहाँ औपशमिक क्षयोपशमिक, क्षायिक तथा औदायिक ऐसे ४ भाव पर्यायरूप हैं परन्तु शुद्धपारिणामिकभाव द्रव्यरूप है। यह द्रव्य व पर्याय परस्पर सापेक्ष हैं। यह आत्मपदार्थ, द्रव्यपर्यायरूप कहा जाता है। जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व इन तीन प्रकार के पारिणामिकभावों में शुद्धजीवत्व शक्तिलक्षणरूप जो पारिणामिकभाव है वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय के आश्रित होने से निरावरण शुद्धपारिणामिकभाव है। यह शुद्धपारिणामिकभाव तो बन्ध मोक्षादि पर्याय परिणति से रहित है। तथा जो आयु श्वासोच्छ्वास आदि १० बाह्य प्राणरूप जीवत्व तथा भव्य और अभव्यभाव हैं वे पर्यायार्थिकनय के आश्रित होने से अशुद्धपारिणामिकभाव कहे जाते हैं। इन भव्य, अभव्य व १० प्राणरूप जीवत्व को अशुद्ध क्यों कहते हैं ? इसका समाधान

यह है कि शुद्धनिश्चयनय से संसारी जीवों के और शुद्धद्रव्यार्थिकनय से तथा सिद्धों के सर्वथा (अर्थात् द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय से भी) इन १० प्राणरूप जीवत्व व भव्यत्व, अभव्यत्व का अभाव है। इन तीनों में से भव्यत्व लक्षण वाला जो पारिणामिकभाव है उसका तो यथासम्भव सम्यक्त्वादि आत्मगुण का घातक देशघाती व सर्वघाती नाम के मोहादिक कर्म सामान्य पर्यायार्थिकनय से आच्छादक हैं। जब काललब्धिवशात् भव्यत्वशक्ति की अभिव्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण वाले निज परमात्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व चारित्ररूप परिणमन करता है। आगम की भाषा में उसी परिणमन को औपशमिक, क्षयोपशमिक व क्षायिकभाव कहते हैं। किन्तु आध्यात्मिक भाषा में उसी भाव को शुद्धात्माभिमुख परिणाम अथवा शुद्धोपयोगरूप पर्याय कहते हैं।

(स च पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथञ्चिद्भिन्नः । कस्मात् ? भावनारूपत्वात्। शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति । यद्येकान्तेनाशुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिक-भावस्यापि विनाशः प्राप्नोति न च तथा)

अर्थात् यह पर्याय शुद्धपारिणामिकभावमय लक्षण वाले शुद्धात्मद्रव्य से कथञ्चित् भिन्न है। क्योंकि यह परिणति भावनारूप है। परन्तु शुद्धपारिणामिकभाव भावनारूप नहीं होता। यदि एकान्तनय से यह परिणति शुद्धपारिणामिकभावरूप मानी जाय, तो यह दोष आयेगा कि जब यह परिणति भावनारूप है तथा मोक्ष की कारणभूत है तब मोक्ष के प्रस्ताव में (कारणादि) के नाश होते हुए शुद्धपारिणामिकभाव का भी नाश होजायेगा। क्योंकि यह शुद्धपारिणामिकभाव भावनारूप परिणति से सर्वथा अभिन्न मानलिया गया है। किन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्धपारिणामिकभाव द्रव्यरूप सदा अविनाशी रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि शुद्धपारिणा-मिकभाव के सम्बन्ध में जो भावना तद्रूप औपशमिक, क्षयोपशमिक व क्षायिक ऐसे तीन भाव हैं वे भाव सर्वरागादिभावों से रहित होने के कारण मोक्ष के कारण हैं। किन्तु शुद्धपारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है। क्योंकि वह शुद्धभाव स्वयं मोक्षरूप ही है। ऐसा ही सिद्धान्त में कहा है कि "निष्क्रियशुद्धपारिणामिक निःष्क्रय इति" शुद्धपारिणामिक क्रिया रहित होने से निष्क्रिय है" आदि २ (श्रीजयसेनाचार्यकृतटीका)

साराश यह है, कि पारिणामिकभाव भी शुद्धपारिणामिक और अशुद्धपारिणामिक भेद से दो प्रकार के हैं। अतः शास्त्रों में जो जीवत्व, भव्यत्व व अभव्यत्व को पारिणामिकभाव कहा है वह व्यवहारनय से पारिणामिक कहा है, निश्चयदृष्टि से तो वे विकारीभाव हैं।

इति सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः ॥ ९ ॥

अथ चूलिकाधिकारः (१०)

प्रथम अधिकारों मे जीव के कर्त्तापन, भोक्तापन आदि का अपने २ स्थानो पर निश्चय और व्यवहार की दृष्टि से जो वर्णन किया गया है उसी विषय का विशदरूप से वर्णन करने के लिए यह चूलिका अधिकार प्रारम्भ किया जाता है।

चूलिका

चूलिका शब्द के तीन अर्थ हैं। (१) कहे हुए अर्थ का विशेष व्याख्यान करना। (२) कहे हुए या न कहे हुए व्याख्यान को पुनः पुष्ट करना। (३) कहे हुए तथा न कहे हुए पदार्थों की संक्षिप्त व्याख्या करना।

जो एकान्त से आत्मा को कर्ता मानते हैं उनकी मोक्ष नहीं होती, अब यह बताते हैं—

लोयस्स कुणइ विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणंपि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये॥ ३२१॥
लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो।
लोयस्य कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणइ॥३२२॥
एवं ण कोवि मोक्खो दीसइ लोयसमणाण दोण्हं पि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए॥ ३२३॥

लोक करोति विष्णुश्च सुरनारकमानुषान्।
करोति षड्विधान्कायान् श्रमणानाञ्च चेतनः॥ ३२१॥
लोकश्रमणयोश्चैवं नान्तरः कोऽपि दृश्यते।
लोकं करोति विष्णुश्च जीवो जिनमते तथा॥ ३२२॥
लोकश्रमणयोश्चैव मोक्षः क्वापि न दृश्यते।
देवासुरमनुष्यादीन् लोकान्नित्यञ्च कुर्वतोः॥ ३२३॥

भावार्थ— यदि साधारण जन के मत से, विष्णु, देव, नारक, मनुष्य आदि जीवो को करता है, तथा इसी प्रकार श्रमण (जैनियो) के मत से भी आत्मा छः प्रकार के कायो का कर्ता माना जाय तो ऐसा मानने पर अन्य लोगो और जैनियो के मत में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। क्योकि जैसे लोग विष्णु को कर्ता मानते है वैसे ही जैनी आत्मा को कर्ता मानते हैं। इस प्रकार सदैव, देव, मनुष्य, असुर सहित इस लोक का कर्ता मानने वाले लोगो को तथा श्रमणों को किसी प्रकार भी मोक्ष सम्भव नहीं है।

विशेषार्थ— सर्वसाधारण जन यह मानते हैं, कि इस संसार का बनाने वाला कोई विष्णु या ईश्वर आदि है। यदि इसी प्रकार श्रमण अर्थात् मुनि भी इस आत्मा को छः प्रकार के पृथ्वी, अप तेज आदि कायो का कर्ता माने तो साधारणजन और श्रमणो मे कुछ भी अन्तर नही रहेगा। क्योकि लोगो के मत से कल्पित विष्णु, ब्रह्मा आदि संसार के कर्ता हैं तथा श्रमणों के मत से भी यह आत्मा शरीर आदि का कर्ता है। अतः कर्तृत्व की मान्यता होने से दोनों ही समान हैं। इस प्रकार मनुष्यादि से युक्त इस लोक मे सदा ही नित्यकर्म करते हुए या कर्तृत्व मानते हुए मुनि व साधारण जन, इन दोनों को मोक्ष मिलना असम्भव है। क्योकि जो कर्ता होता है वह भोक्ता भी होता है। इसलिए जो कर्ता और भोक्ता है उसे मोक्ष किस प्रकार मिल सकता है इसलिये ज्ञानी, न कर्ता है और न भोक्ता है।

आगे व्यवहारी जनो की इस मान्यता का, कि (यह परद्रव्य मेरा है) निषेध करते हैं—

ववहारभासिएण उ परदव्वं मम भणंति विदियत्था।
जाणंति णिच्छयेण उ ण य मम परमाणुमिच्चमवि किंचि ॥३२४॥
जह कोवि णरो जंपइ अह्मं गामविसयणयररट्टं।
ण य होंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णीसंसयं हवइ एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ॥ ३२६ ॥
तह्मा ण मेत्ति णिच्चा दोण्हंवि एयाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥ ३२७ ॥

विकल्पेन वदंति ज्ञाः परद्रव्यं ममास्ति वै।
निश्चयेन तु जानन्ति मेऽणुमात्रमपीह न ॥ ३२४ ॥
ग्रामनगरराष्ट्राणि यथा मे कोऽपि जल्पति।
जनो वदति मोहेन भवन्ति तस्य तानि न ॥ ३२५ ॥
तत्त्वज्ञानी भवत्येष मिथ्यादृष्टिर्विदश्चतः।
परद्रव्यं ममेतीति करोति मलिनं निजम् ॥ ३२६ ॥
कर्तृत्वं स तयोर्ज्ञात्वा समौ लोकमुनी विदन्।
मिथ्यादृशौ बुधो वेत्ति परद्रव्य न मे कदा ॥ ३२७ ॥

भावार्थ— तत्वज्ञानी, व्यवहारनय से परद्रव्य को अपना कहते है, किन्तु निश्चयनय से वे जानते हैं कि लोक मे परद्रव्य अणुमात्र भी मेरा नहीं है। जिस प्रकार कोई पुरुष, ग्राम, नगर, राज्य आदि को मोह वश यह कहता है— कि ये मेरे है किन्तु वे उसके नहीं हैं। इसी प्रकार जो ज्ञानीजन व्यवहारनय से परद्रव्य को परद्रव्य जानता हुआ परद्रव्य मेरा है ऐसा

अपने को परद्रव्यमय करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है । अतः ज्ञानी, परद्रव्य मेरा नहीं है, ऐसा जानकर परद्रव्य में मुनि व साधारणजन के कर्तृत्व को जानता हुआ, उनको मिथ्यादृष्टि जानता है ।

विशेषार्थ— पदार्थों के तत्व को जानने वाले व्यक्ति यद्यपि निश्चयनय से यह जानते हैं, कि इस संसार में परद्रव्य अणुमात्र भी मेरा नहीं है, तथापि व्यवहारदृष्टि से परद्रव्य को अपना मानते हैं।

जैसे कोई साधारण मनुष्य मोह के वशीभूत होकर ग्राम, नगर, राज्य आदि के विषय में यह कहता है कि ये सब मेरे हैं मैं इनका स्वामी हूँ, यह उसकी अज्ञानता है । इसी प्रकार वह ज्ञानी जीव, व्यवहार से मूढ़ होकर यदि परद्रव्य मेरा है ऐसा जानता हुआ उस द्रव्य को अपना लेता है तो निःसन्देह वह मिथ्यादृष्टि होजाता है । जैसे कि कोई दूसरे के ग्राम आदि को अपना कहे । इसी प्रकार यह अपने शुद्धात्मस्वरूप की भावना से गिरकर परद्रव्य में ममत्व बुद्धि करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है । इसलिए जाना जाता है कि प्रथम विकार रहित स्व और परको जानने वाले ज्ञान के द्वारा परद्रव्य मेरा नहीं हो सकता ऐसा जानकर भी जो परद्रव्य में कर्तृत्व बुद्धि करता है वह चाहे साधारण जन हो या मुनि उसको मिथ्यादृष्टि जानो ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतोनिषिद्धः ।
तत्कर्तृकर्म घटनास्ति न वस्तु भेदे पश्यंत्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥
ये तु स्वभाव नियमं कलयन्ति नेम मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः ।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥

(कलश)

अर्थ— शुद्धनिश्चयनय से जीव का स्वभाव पुद्गल से सर्वथा भिन्न है। इसलिए जीव, पुद्गल का कर्ता नहीं हो सकता। क्योंकि परिणमन भाव को ही कर्म और परिणमन कर्ता को ही कर्ता कहते हैं। जीव का परिणमन अपने शुद्धस्वरूप में हो रहा है तथा पुद्गल का परिणमन जड़रूप परिणति में होता है । इसलिए प्रत्येक द्रव्य अपनी २ परिणति का ही कर्त्ता है। परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति का कर्ता नहीं है । इसलिए भव्य जीवों का कर्तव्य है, कि वे ऐसा अनुभव करें, कि मेरी आत्मा का स्वभाव पर के कर्तृत्व से भिन्न है।

सम्यग्दृष्टि जीव, जब शुद्धनिश्चयनय से अपनी आत्मा को रागादिभावों का अकर्ता मानते हैं तब खेदकी बात है कि मिथ्यादृष्टि जीव, उन्हीं रागादिभावो का अपने को कर्ता मान रहे हैं। क्योंकि मिथ्यात्व कर्म के उदय से उनकी बुद्धि विपरीत हो रही है । इसलिए जब अशुद्ध परिणमन की अपेक्षा से देखा जाय, तो मिथ्यादृष्टि रागद्वेषादिभावों का कर्ता होरहा है। उन भावों का कर्ता पुद्गल नहीं है । पुद्गल तो निमित्तमात्र कर्ता है ।

आगे इसी कथन को युक्ति द्वारा सिद्ध करते हैं—

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं ।
तम्हा अचेयणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो ॥ ३२८ ॥

अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं।
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो ॥ ३२९ ॥
अहजीवो पयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा दोहिकयं तं दोण्णिवि भुंजंति तस्स फलं ॥ ३३० ॥
अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥ ३३१ ॥

प्रकृतिश्च बलाज्जीवं मिथ्यादृष्टिं करोति चेत्।
प्रकृतिः कारिका प्राप्ता सा च सांख्यमते जडा ॥ ३२८ ॥
पुद्गलस्य च मिथ्यात्व मेष जीवः करोति वा।
मिथ्यादृक् पुद्गलश्चैव चेतनो नैव जातुचित् ॥ ३२९ ॥
मिथ्यात्वं पुद्गलं कुर्याज्जीवश्च प्रकृतिस्तथा।
फलं द्वावपि भुञ्जाते तस्माद्द्वाभ्यां कृतं च तत् ॥ ३३० ॥
मिथ्यात्वं पुद्गल कुर्यान्नात्मा न प्रकृतिस्तथा।
पुद्गलं तर्हि मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं नैव तद्ध्रुवम् ॥ ३३१ ॥
(चतुष्कम्)

भावार्थ— आचार्य सांख्यवादियो से कहते हैं कि— यदि मिथ्यात्वनामक कर्मप्रकृति इस आत्मा को मिथ्यादृष्टि करती है, तो तुम्हारे मत से अचेतन प्रकृति, भाव मिथ्यात्व को करने वाली होजायेगी।

यदि कोई ऐसा माने कि यह जीव, पुद्गलद्रव्य को भाव मिथ्यात्वरूप कर देता है तो ऐसा मानने से पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि होजायगा, जीव नहीं।

अथवा उपर्युक्त दूषण के भय से कोई यह माने, कि आत्मा और प्रकृति दोनो ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वरूप कर देते है तो उस कर्म के भोगने वाले भी दोनो ही होंगे।

अथवा ऐसा मानें, कि पुद्गलद्रव्यनामा मिथ्यात्व को न तो प्रकृति करती है और न जीव करता है, तो भी पुद्गलद्रव्य ही मिथ्यात्व हुआ। पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्व मानना भी मिथ्यात्व ही है।

विशेषार्थ— अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से मिथ्यात्व आदि भावकर्म का कर्ता, जीव ही है। यदि उसको अचेतन प्रकृति का कार्य माना जाय तो उस भाव कर्म को भी अचेतना आजायेगी। मिथ्यात्व आदि भावकर्म का कर्ता, जीव स्वयं अपने आप ही है। यदि जीव के द्वारा पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व आदि भावकर्म किये गये माने जांय तो भावकर्म चेतन होने से पुद्गलद्रव्य मे भी चेतना आजायेगी। जीव और प्रकृति दोनों ही मिथ्यात्व आदि भावकर्म के कर्ता नहीं हैं। क्योकि प्रकृति जड़ है उसको भी जीव की तरह उसका फल भोगना सिद्ध हो जायेगा। ये दोनों

अकर्ता भी नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के अपने स्वभाव से ही मिथ्यात्व आदि भाव का प्रसंग आता है। इसलिए मिथ्यात्व आदि भावकर्म का कर्ता जीव है और भावकर्म कार्य है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीव प्रकृत्योर्द्वयो
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुक्भावानुषंगात्कृतिः।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः॥
कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैव कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिःस्तूयते॥

(कलश)

अर्थ— प्रश्न यह है कि रागादि अशुद्धवैभाविक परिणामो का करने वाला कौन है? ये रागद्वेष उत्पन्न होते है और विनष्ट होते हैं। अतः इनका कार्य होना सिद्ध है। और जो जो कार्य होते है वे कर्तृजन्य होते है। यदि कहा जाय कि इनको जीव और पुद्गल ने मिलकर बनाया है तो सुखदु:खादि फल भी दोनो को भोगना पड़ेगा। किन्तु यह बात पुद्गल के लिए असम्भव है क्योंकि वह जड है। और यदि यह कहा जाय कि केवल प्रकृति ने ही रागद्वेषादि का निर्माण किया तो यह भी नही हो सकता क्योंकि प्रकृति जड़ है और रागद्वेषादिभाव चेतन हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि ये अशुद्धभाव अशुद्ध आत्मा के ही हैं।

आत्मा कर्ता है, या नही? इस का समाधान स्याद्वाद द्वारा ही हो सकता है। जो लोग जीव को सर्वथा अकर्ता ही मानते हैं, वे कर्म को कर्ता मान लेते हैं। उनको आचार्य मिथ्यादृष्टि कहते हैं। क्योंकि उनके मत मे जीव, कूटस्थ अर्थात् अपरिणामी ही रहेगा। तब वह रागादिको मे परिणमन न करने के हेतु बन्ध का भागी भी न होगा।

आगे सांख्यवादियों की ओर संकेत हुए स्याद्वाद द्वारा यह सिद्ध करते है, कि जीव कथञ्चित् कर्ता भी है—

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं सुवा विज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं॥३३२॥
कम्मेहि सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जइ २ असंजमं चेव॥ ३३३॥
कम्मेहि भमाविज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च।
कम्मेहि चेव किज्जइ सुहासुहं जित्ति यं किंचि॥ ३३४॥

जम्हा कम्मं कुव्वइ कम्मं देइ हरत्ति जं किंचि।
तम्हा हु सव्वेजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥ ३३५ ॥
पुरिसि च्छियाहिलासी इच्छीकम्मं च पुरिसमहिलसइ।
एसा आयरियपरं परागया एरिसी दु सुई ॥ ३३६ ॥
तम्हा ण को वि जीवो अवंभचारी उ अम्ह उवएसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं ॥३३७॥
जम्हा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी।
एएणच्छेण किल भणइ परघायणामेत्ति ॥ ३३८ ॥
तम्हा ण को वि जीवो वघायओ अत्थि अम्ह उवएसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घाएदि इदि भणियं ॥ ३३९ ॥
एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥ ३४० ॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणइ।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स ॥ ३४१ ॥
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
ण वि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे ॥ ३४२ ॥
जीवस्स जीवरूपं विच्छरदो जाण लोगमित्तं हि।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कहं कुणइ दव्वं ॥३४३॥
अह जाणओ उ भावो णाण सहावेण अत्थि इत्तिमयं।
तह्मा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ ॥ ३४४ ॥

क्रियते कर्मभिर्मूढः प्राज्ञश्च कर्मभिस्तथा।
कर्मभिः स्वाप्यते जीवो जागर्यते च कर्मभिः ॥ ३३२ ॥
कर्मभिः क्रियते दुःखी सुखी च कर्मभिः किल।
कर्मभिर्नतुमिथ्यात्वं कर्मभिर्नीयतेऽव्रतम् ॥ ३३३ ॥
तिर्यगूर्ध्वमधश्चापि कर्मभिर्भ्राम्यते पुमान्।
यावच्छुभाशुभं किञ्चित् क्रियते कर्मभिस्तथा ॥ ३३४ ॥

करोति च ददत्येव हरति कर्म चेत्तदा ।
जीवाश्चाकारकाः सर्वे भवेयुर्नात्र संशयः ॥ ३३५ ॥
नृ कर्म स्त्र्यमिलाषीह स्त्री कर्मेच्छति पूरुषम् ।
आगता श्रुतिरेषा वै त्वेषाऽऽचार्य परम्परा ॥ ३३६ ॥
तदा कोऽपि न जीवो वै व्यभिचारी भवन्मते ।
अभिलषति कर्मैव प्रोक्तं कर्म यतस्त्वया ॥ ३३७ ॥
परेण हन्यते हन्ति परं सा प्रकृतिर्मता ।
परघातं भणयते तस्मान्नामेति सार्थकं विदुः ॥ ३३८ ॥
ततः कोऽपि न जीवोऽस्ति त्वन्मते चोपघातकः ।
हन्तीति भणितं कर्म कर्ता कर्मैव ते मते ॥ ३३९ ॥
एवं सांख्योपदेशं ये प्ररूपयन्ति साधवः ।
करोति प्रकृतिस्तेषां जीवास्त्वकारका मताः ॥ ३४० ॥
त्वं मन्यसे करोतीति ममात्मात्मानमात्मनः ।
एष मिथ्यास्वभावस्ते जानतोऽपि च निश्चयात् ॥ ३४१ ॥
नित्योऽसंख्य प्रदेशश्चित् समये दर्शितो जिनैः ।
न हीनमधिक कर्तुं कदापि शक्यते ततः ॥ ३४२ ॥
व्यासेन जीवरूप वै लोकमात्रश्च विद्धि तत् ।
प्रकुर्य्याच्चाधिकं हीनं कथं द्रव्यश्च तत्वतः ॥ ३४३ ॥
भावो ज्ञानस्वभावेन ज्ञायकस्तिष्ठतीति वै ।
तस्मान्नात्मा सदात्मानं करोति स्वयमात्मनः ॥ ३४४ ॥

भावार्थ— द्रव्यकर्मों के द्वारा यह जीव अज्ञानी व ज्ञानी किया जाता है । कर्मों से ही सुलाया जाता है तथा जगाया जाता है । कर्मों के द्वारा ही सुखी व दुःखी किया जाता है वैसे ही कर्मों के द्वारा मिथ्यात्वी बनाया जाता है तथा कर्मों के द्वारा ही असंयमी किया जाता है। एवं कर्मों के द्वारा ही ऊपर नीचे व मध्यलोक मे घुमाया जाता है तथा शुभाशुभादि सब कर्मों के द्वारा ही किया जाता है । क्योंकि सब कुछ कर्म ही करता है कर्म ही देता है और हरता है। यदि एकान्तनय से ऐसा मानें तो समस्त जीव अकर्ता हो गये। ऐसी अवस्था मे जीव का कुछ भी कर्तव्य न रहा।

पुंवेदनामक कर्म, स्त्री की इच्छा करता है व स्त्री वेदसंज्ञक कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है। ऐसी श्रुति आचार्य परम्परा से चली आ रही है इस प्रकार मानने से तो यह सिद्ध हुआ, कि तुम्हारे मत में कोई व्यभिचारी नहीं है । जिस से दूसरे कर्म का घात किया जाय व जो कर्म दूसरी प्रकृति से घाता जाय वह प्रकृति परघातक कही गई है। यदि एकान्त दृष्टि से यह माना जाय कि परघात द्वारा हिंसा हो और जीव का सम्बन्ध न हो तो तुम्हारे मत मे कोई भी जीव घातक सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि तुम्हारे मत में कर्म ही कर्म की हिंसा करता है।

इस प्रकार सांख्यमतानुसार उपदेश देने वाले द्रव्यलिंगी श्रमण मुनियों के मत में जड़ प्रकृति ही कर्ता ठहरेगी तथा आत्मा अकर्ता सिद्ध होगे।

और यदि तुम मानोगे कि मेरा आत्मा ही आत्मा को अपने द्वारा करता है तो उनके लिए आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा यह मानना मिथ्यास्वभावरूप है। क्योंकि आत्मा नित्य है व असंख्यात प्रदेशी है, ऐसा आगम मे कहा गया है। उससे हीन व अधिक करने को कोई भी समर्थ नहीं हो सकता, यदि जीव का प्रदेशो की अपेक्षा से विस्तार करें तो भी निश्चय से लोक प्रमाण है। उस प्रमाण से वह जीव क्या न्यूनाधिक किया जा सकता है? जिस से तुम यह कह सको कि आत्मद्रव्य किया गया? यह ज्ञाता आत्मा तो पहले से ही ज्ञानस्वभावरूप है ऐसा माना गया है। इसलिए यह आत्मा भी अपने को अपने से नहीं करता।

विशेषार्थ— यदि कोई जैन मुनि भी स्याद्वादवाणी के विषय को भली भांति न समझ कर सर्वथा एकान्तपक्ष ही ग्रहण करे तथा शास्त्र के अभिप्राय को बदल कर यह कहे कि आत्मा तो अकर्ता ही है कर्म प्रकृति का उदय ही भावादि सब कार्यों को करता है। अज्ञान ज्ञान, सोना, जागना, सुख, दुःख, मिथ्यात्व, असंयम, चारों गतियों में भ्रमण तथा जो भी शुभ, अशुभ आदि भाव हैं उन सबको कर्म करता है जीव तो ज्ञाता, दृष्टामात्र है। इस प्रकार शास्त्र का अभिप्राय बताते हुए यह कहे कि वेद के उदय अर्थात् स्त्री व पुरुषनामकर्म के उदय से ही स्त्री पुरुषों के चित्त मे विकार उत्पन्न होता है तथा अपघात प्रकृति के उदय से परस्पर घात मे प्रवृत्त होता है उसका यह सब कथन सांख्यमत के अनुसार ही है। परन्तु जैनवाणी स्याद्वात्मक है इसलिए सर्वथा एकान्त मानने वाले के ऊपर वाणी का कोप अवश्य होगा। इस प्रकार आगम के भय से यह कहने लगे, कि आत्मा अपने आत्मा का कर्ता है, इसलिए भावकर्म का कर्ता तो कर्म ही है और अपना कर्ता आत्मा है इस प्रकार कथञ्चित् आत्मा को कर्ता कहने से आगम के कोप से बच जाऊंगा। उसका ऐसा समझना भी मिथ्यात्व उदय के कारण है। आत्मा द्रव्यरूपेण नित्य है, असंख्यातप्रदेशी व लोक परिमाण है। इस द्रव्यस्वभाव मे कोई भी न्यूनाधिकता नहीं कर सकता। यदि भावकर्मरूप पर्यायो का कर्ता भी कर्म को ही माना जावे तो आत्मा तो अकर्ता ही रहा। ऐसी परिस्थिति मे एकान्तमत की पुष्टि होने के कारण आगम का कोप तो तद्वत् ही रहा। अतः आत्मा के कर्तृत्व और अकर्तृत्व को स्याद्वाद द्वारा मानना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि अज्ञान अवस्था मे आत्मा अज्ञानवश होकर जो कुछ रागद्वेषादिभाव करता है उन भावों का कर्ता तो आत्मा ही है। जब आत्मा को शुद्धात्मतत्व का ज्ञान होजाय और यह स्वस्वरूप मय परिणमन करने लगे उस समय से लेकर इस ज्ञानी को रत्नत्रय की पूर्णता होने पर अपने को आप जाने और शुद्धात्मस्वरूप मे ही लीन रहे, उस समय केवल ज्ञाता दृष्टामात्र होता हुआ अकर्ता होता है। इस प्रकार मानना ही सत्यतत्वाश्रित स्याद्वाद को मानना है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते है कि—

> मा कर्तारममी स्पृशतु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
> कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
> ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
> पश्यन्तुच्युतकर्तभावमचलं ज्ञातारमेकं परम्॥ (कलश)

अर्थ— अर्हन्तमतानुयायी अर्थात् स्याद्वाद के मानने वालों का कर्तव्य है, कि सांख्य-

मतानुसार आत्मा को सर्वथा अकर्ता न मानें। भेदविज्ञान होने से पूर्व तो आत्मा को कर्ता मानें। और भेदविज्ञान होने पर अपने ज्ञानस्वभाव में स्थित होने के कारण आत्मा अकर्ता होता है यही स्याद्वाद का सिद्धान्त है और यही वस्तुस्थिति है।

अब आगे आचार्य क्षणिकवाद का खण्डन करते हैं—

केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए ग्रोव केहिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व ग्रोयंतो ॥ ३४५ ॥
केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए ग्रोव केहिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व ग्रोयंतो ॥ ३४६ ॥
जो चेव कुणइ सोचिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४७ ॥
अण्णो करेइ अण्णो परिभुँजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४८ ॥

विनश्यति च पर्यायैर्नित्यं द्रव्यस्वरूपतः ।
कर्ता भोक्ता च जीवोऽयं ह्यकर्तापि यतस्ततः ॥ ३४५...३४६ ॥
यः करोति न भुंक्ते स यस्यैष विद्यते मतः ।
प्रज्ञातव्यः स वै जीवो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३४७ ॥
अन्यः करोति भुँक्तेऽन्यः सिद्धान्तश्चैष यस्य वै ।
प्रज्ञातव्यः स वै जीवो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३४८ ॥

भावार्थ— यह जीव, पर्यायार्थिकनय से तो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। तथा द्रव्यार्थिकनय से अर्थात् द्रव्यरूप से नित्य है। न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। इसलिए पर्यायरूप से जीव कर्ता है और द्रव्यरूप से अकर्ता भी है। यही स्याद्वाद है। इसी प्रकार वह जीव कथञ्चित् भोक्ता भी है और नहीं भी है। और जिसका ऐसा मत है कि जो जीव कर्ता है वह भोक्ता नहीं है कर्ता अन्य है भोक्ता कोई अन्य ही है वह मिथ्यादृष्टि है।

विशेषार्थ— जिनमतानुसार वस्तु का स्वभाव द्रव्यपर्यायरूप अर्थात् नित्यानित्यात्मक कहा है। इसलिए पर्याय अपेक्षा से वस्तु क्षणिक (अनित्य) है और द्रव्यदृष्टि से वस्तु नित्य है जीव नामक पदार्थ भी पर्यायरूप से क्षणिक है और द्रव्यरूप से नित्य है। इसलिए यदि पर्यायदृष्टि से देखें तो कार्य का कर्ता अन्य होता है और भोक्ता अन्य। जिस प्रकार मनुष्यादि पर्याय में किए हुए शुभाशुभादि कर्मों का फल देवादि पर्याय भोगता है। किन्तु द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो जो करता है वही भोगता है। जैसे मनुष्य शरीर में जिस जीव ने जैसे कर्म किये थे वही जीव देवादि योनियों से उनका फल भोगता है। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। जो लोग स्याद्वाद की दृष्टि को छोड़कर एकान्त से ऐसा मानते हैं कि जो कर्ता है वह भोक्ता नहीं है भोक्ता अन्य ही कोई है व कर्ता अन्य वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्य इस विषय को निम्न प्रकार से स्पष्ट करते हैं—

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्व
निजमनसि विधत्ते कर्तृ भोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिंचंश्चिच्चमत्कार एव ॥
वृत्त्यंश भेदतोऽत्यन्त वृत्तिमन्नाशकल्पनात्।
अन्यः करोति भुंक्तेऽन्य इत्येकांतश्चकास्तु मा ॥
आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धैः
कालोपाधि बलादशुद्धिमधिका तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यक्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरितै
रात्माव्युज्झित एव हारवदहो निस्सूत्र मुक्तेक्षिभिः ॥
कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेतुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिंतामणिमालिके य मभितोप्येका चकास्त्येवनः ॥
व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥
(कलश)

अर्थ— जीव को सर्वथा क्षणभगुर मानने वाले बौद्धों के प्रति आचार्य कहते है कि यदि वस्तु सर्वथा अनित्य ही हो तो प्रत्यभिज्ञान अर्थात् जिसको मैंने १० वर्ष पूर्व देखा था उसी को आज देख रहा हूं ऐसा स्मृत्यात्मक ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिए कर्ता कोई है और भोक्ता कोई अन्य है यह कहना मिथ्यात्व है। क्योंकि जीव द्रव्य तो द्रव्यरूप से अविनाशी है इसलिए वही कर्ता है और वही भोक्ता है। किन्तु पर्यायरूप से अनित्य होने के कारण अन्तर है।

पर्यायदृष्टि से जो कर्ता के समय जो पर्याय (अवस्था) थी वह भोगने के समय नहीं है। किन्तु जीव सर्वथा क्षणिक ही नहीं है। वह द्रव्यदृष्टि से नित्य भी है। इस तात्विक सिद्धान्त को मानना ही सम्यक्त्व है। क्योंकि अवस्था बदलते रहने पर भी द्रव्य का सर्वथा नाश नहीं होता। जिस प्रकार सुवर्ण का एक जेवर तोड कर दूसरा जेवर बनाने पर जेवररूप पर्याय का का ही परिवर्तन हुआ है, सुवर्णरूप द्रव्य तो सब अवस्थाओं में समान ही है। इस से यह सिद्ध हुआ कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है। ऐसा ज्ञान स्याद्वाद के आश्रय से ही हो सकता है। जो व्यक्ति मोतियो के हार की तो इच्छा करे किन्तु जिस सूत्र में मोती पिरोकर हार बनाया जाता है उसको लेना न चाहे तो उसको मोतियो के हार का मिलना असम्भव है। इसी प्रकार जो व्यक्ति मोक्ष को चाहे किन्तु मुक्ति के साधक स्याद्वाद को न चाहे तो उसे मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? इसलिए जो आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानते हैं अथवा सर्वथा नित्य और शुद्ध ही मानते हैं अथवा आत्मा को सर्वथा अशुद्ध ही मानते हैं उनको शुद्धात्मानुभव न होने के कारण मोक्ष भी प्राप्त न हो सकेगी। यद्यपि आत्मा के अनन्त धर्मात्मक स्वभाव को समझने के लिए

अनेक दृष्टियों का आश्रय लेना उचित है तो भी इस नयरूपी विकल्प में फंसकर प्राणी न तो शुद्धात्मा का अनुभव ही कर सकता है और न आत्मा में विद्यमान निरपेक्ष अनन्त सुख का ही कुछ अनुभव कर सकता है। जैसे मोती की माला को गूँथने वाला अनेक विकल्प करता है अर्थात् कहाँ कौनसा मोती पिरोऊँ आदि इसी प्रकार उधेड़बुन में लगे रहने के कारण उस माला का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता। आनन्द तो उसी को प्राप्त होता है कि जो समस्त विकल्पों को छोड़कर माला को एकाकार देख कर पहिनता है। इसी प्रकार आत्मा कर्ता है, भोक्ता है यह सब व्यवहारनय का विकल्पमात्र है। तथा आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता है यह भी निश्चयनय का विकल्प है। अथवा कर्ता कोई और है और भोक्ता कोई और है यह पर्यायदृष्टि का विकल्प है तथा जो कर्ता है वही भोक्ता है यह द्रव्यदृष्टि का विकल्प है। यद्यपि यह विकल्प, वस्तु तत्वात्मकज्ञान के साधक हैं किन्तु यदि साधक इन्हीं विकल्पों में फंसा रहे तो ये विकल्प आत्मरसास्वाद में बाधक हो जाते हैं। इसलिए आगे चलकर साधक के लिए ये भी त्याज्य हैं।

क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वस्वरूप ही परिणमन करता है। कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन नहीं कर सकता। जैसे जीव, जड़रूप और जड़, चेतनरूप नहीं हो सकता। इस अवस्था मे परिणमित द्रव्य को उपचार से कर्ता कहा जाता है और उसके परिणाम को कर्म कहा जाता है। किन्तु नयो का विकल्प छोड़कर यदि विचार करें तो निश्चयदृष्टि से दोनों अभिन्न है। इसलिए यह कहना कि जीव ने ज्ञानावरणादि अष्टकर्म किए इसलिए जीव इनका कर्ता है और ये उसके कर्म हैं यह औपचारिक कथनमात्र है। क्योंकि रागादि का निमित्त पाकर स्वयं पुद्गलपिंड ही ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूप परिणत हुआ है। किन्तु शुद्ध आत्मानुभूति के समय उपर्युक्त सभी विकल्प विलीन हो जाते हैं। अतः इन समस्त विकल्प जालों को तजकर एकमात्र आत्मानुभूति मे ही रत रहना श्रेयस्कर है।

आगे उपर्युक्त विषय को ही दृष्टान्तो द्वारा पुष्ट करते हैं—

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ ॥३४९॥
जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण य सोउ तम्मओ होइ।
तहजीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होई ॥ ३५० ॥
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिण्हइ ण सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणाणि उ गिण्हइ ण य तम्मओ होइ ॥३५१॥
जह सिप्पिउ कम्मफलं भुंजइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५२ ॥
एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिमाणकयं तु जं होइ ॥ ३५३ ॥

जह सिप्पिओ उचिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥३५४॥
जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होइ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चिट्ठंतो दुही जीवो ॥ ३५५ ॥

शिल्पकारो यथा कर्म कुर्वन्नपि न तन्मयः।
तथा जीवोऽपि कुर्वन्हि कर्म नैव च तन्मयः ॥ ३४९ ॥
शिल्पिकः करणैः कर्म कुर्वन्नैव यथा रतः।
तथा जीवोऽपि करणैः कर्म कुर्वन्न तन्मयः ॥ ३५० ॥
गृह्णाति च यथा शिल्पी करणानि न तन्मयः ॥
तथा गृह्णन् हि जीवोऽपि करणानि न तन्मयः ॥ ३५१ ॥
शिल्पी कर्मफलं भुंक्ते यथा नैव च तन्मयः।
भुञ्जानोऽपि तथा जीवो फलं नैव च तन्मयः ॥ ३५२ ॥
वक्तव्य व्यवहारस्य समासेन च दर्शनम्।
परिणामकृतं यत्स्यान्निश्चयस्य भृणुष्व तत् ॥ ३५३ ॥
शिल्पी कुर्वन्यथाचेष्टा-मनन्यःस्यात्ततः स्वयम्।
तथा जीवोऽपि कुर्वन्वैस्यादनन्यस्ततो ध्रुवम् ॥ ३५४ ॥
चेष्टां कुर्वन्यथा शिल्पी तथा स्यान्नित्यदुःखितः।
तस्माच्च स्यादनन्यो वा दुःख्यात्मापि भवेत्तथा ॥ ३५५ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार सुनार आदि कारीगर आभूषण आदि बनानेरूप कर्म करते हैं किन्तु वे स्वयं आभूषण आदि रूप नहीं होते। इसी प्रकार अनेक पुद्गलात्मक कर्म करते हुए भी जीव, पुद्गलरूप नहीं होता। तथा शिल्पी हथौडा आदि साधनो द्वारा कर्म करते हुए भी तद्रूप नहीं होता उसी प्रकार जीव भी मन, वचन आदि करणो द्वारा कर्म करते हुए भी तन्मय नहीं होता। जैसे शिल्पी औजार आदि को ग्रहण करते हुए भी तन्मय नहीं है उसी प्रकार जीव भी शरीरादि को ग्रहण करने पर भी तद्रूप नहीं होता। तथा च शिल्पी जैसे आभूषणादि कर्म के फल का भोक्ता है किन्तु कर्म फलरूप नहीं होता उसी प्रकार जीव भी सुख दुःखादि कर्मफल को भोगता है किन्तु तन्मय नहीं होता। यह व्यवहारिकजनो का सक्षेप तया व्यवहारनय से कथन है। किन्तु निश्चयनय का कथन अपने परिणामो पर आश्रित है उसको सुनो ? जिस प्रकार कलाकार अपने हावभाव आदि चेष्टाओ को करते हुए तन्मय होता है। उसी प्रकार जीव भी अपने भावो को करते हुए तन्मय होता है। जैसे कलाकार परिश्रम करते हुए सुखी, दुःखी होते हुए उस सुख दुःख से भिन्न नहीं है वैसे ही जीव भी भावात्मक कर्म करते हुए जो सुखी, दुःखी होता है उस समय वह भी सुख दुःखरूप ही होता है।

विशेषार्थ— भाव यह है, कि जिस प्रकार कलाकार औजार आदि साधनो से किसी वस्तु को बनाकर उसका पारिश्रमिक पाकर उसके फलको भी भोगता है किन्तु फिर भी वह

शिल्पी उस वस्तु से व उन औजार आदि से और उस धन से (जो उस से प्राप्त हुआ है) सर्वथा पृथक् ही है। इसी प्रकार यह जीव भी मन, वचन, काय आदि के द्वारा द्रव्य कर्म को ग्रहण करते हुए भी उन सब से पृथक् है ऐसा व्यवहारनय कहता है। परन्तु जिस प्रकार शिल्पी कुण्डल आदि बनानेरूप भावों को करते हुए तन्मय होता है, उसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भी रागद्वेषरूप परिणति करते हुए अवश्य तद्रूप होता है। अर्थात् जीव का परिणमन जीव में होता है, और पुद्गल का पुद्गल में। इस प्रकार अज्ञानी जीव, निर्विकल्प आत्मानुभूति से गिरकर स्वर्णकार आदि की तरह व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्ता और भोक्ता है उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनय से रागद्वेषादिभावरूप कर्मों का कर्ता और भोक्ता है।

आगे इस निश्चय और व्यवहारनय के कथन को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥ ३५७ ॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु ॥ ३५८ ॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥ ३५९ ॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाण दंसण चरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥ ३६० ॥
जह परदव्वं सेडि दि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥ ३६१ ॥
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सइ जीवो वि सयेण भावेण ॥ ३६२ ॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ णायावि सयेण भावेण ॥ ३६३ ॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठी सहावेण ॥ ३६४ ॥ ३६४ ॥

एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिओ अरणोसु वि पजएसु एमेव णायव्वो ॥ ३६५ ॥

श्वेत करोति कुड्यादीन्नातः सा श्वेतिका मता ।
ज्ञायको नान्यबोधाच्च ज्ञायको ज्ञायकः स्वयम् ॥ ३५६ ॥
श्वेतं करोति कुड्यादीन् सा नातः श्वेतिका मता ।
दर्शनाद्दर्शको नैव दर्शको दर्शकः स्वयम् ॥ ३५७ ॥
श्वेतं करोति कुड्यादीन्नातः सा श्वेतिका मता ।
संयमात्सयतो नैव संयतः सयतः स्वयम् ॥ ३५८ ॥
श्वेतं करोति कुड्यादीन्नातः श्वेतिका मता ।
श्रद्धानं दर्शनान्नैव दर्शन दर्शनं स्वयम् ॥ ३५९ ॥
दृग्ज्ञानचरणं चैव भाषितं निश्चयान्नयात् ।
शृणु भेदनयस्याग्रे वक्तव्यं च समासतः ॥ ३६० ॥
श्वेतयति परद्रव्यं श्वेतिका स्वस्वभावतः ।
एवं वेत्ति परद्रव्यं ज्ञायकः स्वस्वभावतः ॥ ३६१ ॥
श्वेतयति परद्रव्य श्वेतिका स्वस्वभावतः ।
ज्ञातापि स्वस्वभावेन चैवं पश्यति सर्वथा ॥ ३६२ ॥
श्वेतयति परद्रव्यं श्वेतिका स्वस्वभावतः ।
विजहाति परद्रव्य तथा ज्ञाता स्वभावतः ॥ ३६३ ॥
श्वेतयति परद्रव्यं श्वेतिका स्वस्वभावतः ।
श्रद्धाति च परद्रव्यं ज्ञातापि स्वस्वभावतः ॥ ३६४ ॥
एवं रत्नत्रयं विद्धि व्यवहारेण च निश्चयात् ।
पर्यायेष्वपिचान्येषु तथैव कथित बुधैः ॥ ३६५ ॥

भावार्थ— जैसे खडिया आदि मिट्टी दीवार आदि को श्वेत करने के कारण ही श्वेत नही है अपितु वह स्वय श्वेत है। इसी प्रकार ज्ञायक आत्मा, परद्रव्य को जानने से ज्ञाता नहीं है अपितु वह स्वय ज्ञातास्वरूप होने से ज्ञायक है।

तथा च— जिस प्रकार दीवार आदि पर लगी हुई खडिया अपने स्वरूप को नही त्यागती। उसी प्रकार ज्ञायक आत्मा घटपटादि पदार्थों को जानता हुआ भी स्वस्वरूप को नहीं त्यागता। जैसे खडिया, दीवार आदि को सफेद करने से ही सफेद नही है। अपितु वह स्वयं सफेद है वैसे ही देखने वाला, परद्रव्य को देखने वाला होने से दर्शक नहीं है अपितु वह स्वयं ही देखने वाला है। जैसे खडिया० ·· ··· उसी प्रकार परत्यागरूप संयम से सयत नही है अपितु वह स्वयं संयत है। जैसे खडिया० ·· ··· . ········ वैसे ही श्रद्धान परके श्रद्धान

से श्रद्धान नहीं है अपितु आपही श्रद्धान है। इस प्रकार निश्चयनय की दृष्टि से कहा हुआ रत्नत्रय रूप है आगे व्यवहारनय का वचन सक्षेप से कहते हैं उसको सुनो ? जिस प्रकार खडिया अपने स्वभाव से दीवार आदि परद्रव्यो को सफेद करती है उसी प्रकार जानने वाला भी परद्रव्य को स्वभाव से जानता है। जिस प्रकार खडिया ··· ··· ··· ··· उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को देखता है। जिस प्रकार खडिया ·· ·· · उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को त्यागता है। जैसे खडिया ·· ··· वैसे ही ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य का श्रद्धान करता है। इस प्रकार व्यवहारनय से दर्शनज्ञानचारित्र (रत्नत्रय) कहा है, तथा अन्य पर्यायो में भी जानना चाहिए।

विशेषार्थ— शुद्धनिश्चयनय से आत्मा शुद्ध चिन्मात्रस्वभावात्मक है। उसके परिणाम देखना, जानना, श्रद्धा करना तथा परद्रव्य से निवृत्त होना है। यदि शुद्धद्रव्यार्थिकनिश्चयनय से विचारा जाय तो आत्मा को परद्रव्य का ज्ञाता नहीं कहा जा सकता तथा दर्शक व श्रद्धान करने वाला, और त्याग करने वाला भी नही कहा जा सकता। क्योकि निश्चय से परद्रव्य व आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नही है। आत्मा के ज्ञातादृष्टा आदि भाव सर्वथा निरपेक्ष हैं। भाव्यभावक, ज्ञेयज्ञायक तथा दृश्यदर्शक आदि भेदात्मक जितनी कल्पनाएं हैं वे सब व्यवहार मात्र हैं। आत्मा को परद्रव्य का ज्ञातादृष्टा आदि जो कहा गया है वह भी व्यवहारनय से कहा गया है। क्योंकि परद्रव्य का और आत्मा का निमित्तनैमित्तिकभाव है। परद्रव्य के निमित्त से हुए कुछ भावो को देख कर साधारण जन कहते हैं कि आत्मा परद्रव्य का ज्ञाता, दृष्टा आदि है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार का भेद जानकर श्रद्धान करना चाहिए।

श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यान्तरचुंबनाकुलधियस्तत्वाच्चवंते जनाः ॥
शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भुमि
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥

अर्थ— आत्मा, अपने ज्ञानस्वरूप स्वस्वभाव को त्यागकर पररूप नही होता। ज्ञान मे सर्वज्ञेय स्वयं प्रतिभासित होते हैं। यह स्वपरप्रकाशक ज्ञान का स्वभाव दर्पणवत् है। जिस प्रकार दर्पण मे प्रकाश्य पदार्थों का प्रवेश नहीं होता है उसी प्रकार-ज्ञेय-पदार्थ भी आत्मा मे प्रविष्ट नहीं होते हैं। न तो आत्मा स्वयं विश्वरूप होकर अन्यद्रव्यो की सत्ता मिटाकर आप ही जडरूप होता है और न आत्मा का ज्ञान ही ज्ञेय को प्रकाशित करने से शून्य हो जाता है। यह मानना भी मिथ्या है कि ज्ञान मे ज्ञेयो के झलकने से ज्ञान अशुद्ध हो जाता है। यदि ज्ञान मे ज्ञेय न प्रतिभासित हो तो भी ज्ञान ज्ञान ही रहेगा। ज्ञेयो के अभाव से ज्ञान का अभाव नही हो सकता, क्योंकि ज्ञान आत्मा का निरपेक्षगुण है।

तथाच— जैसे चन्द्रमा की चाँदनी पृथ्वी पर फैलकर उसको श्वेतसी प्रदर्शित करती है तो भी न तो भूमि ही श्वेत अर्थात् ज्योत्स्नामय होती है और न चन्द्रमा की चाँदनी ही पृथ्वीरूप होती है। चाँदनी अपने स्थान पर है और पृथ्वी अपने स्थान पर, इसी प्रकार ज्ञेयों को जानता हुआ भी ज्ञान न तो ज्ञेयरूप होता है और न ज्ञेय, ज्ञानमय होते हैं। क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव से च्युत नहीं हो सकता। जीव सदा शुद्धोपयोगात्मकभाव वाला है। यदि वह किसी प्रकार पुद्गलरूप हो सकता तो जीव की सत्ता का ही नाश हो जाता।

आगे आचार्य कायक्लेशादिबाह्यतपो को ही मुख्य मानने वालों को उपदेश करते हैं—

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे विसये।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥ ३६६ ॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे कम्मे।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कम्मेसु ॥ ३६७ ॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे काये।
तह्मा किं घादयते चेदइदा तेसु कायेसु ॥ ३६८ ॥
णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स।
णवि तहिं पुग्गलदव्वस्स कोऽवि घाओ उ णिद्दिट्ठो ॥३६९॥
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तह्मा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसयेसु ॥ ३७० ॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥ ३७१ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रं नास्ति कर्मण्यचेतने।
विषयेषु च तेष्वत्र घातयेच्चेतनः कथम् ॥ ३६६ ॥
दर्शनज्ञानचारित्रं नास्ति कर्मण्यचेतने।
तेषु कर्मसु तस्मात्किं घातयेच्चेतनो भृशम् ॥ ३६७ ॥
दर्शनज्ञानचारित्रं काये नास्ति त्वचेतने।
तेषु कायेषु तस्मात्किं घातयेच्चेतनो ननु ॥ ३६८ ॥
भावरागादिघातो हि कथितश्च विपश्चितैः।
नापि पुद्गलद्रव्यस्य घातो निगदितः पुनः ॥ ३६९ ॥

गुणा ये सन्ति जीवस्य नान्यद्रव्येषु जातुचित् ।
सम्यग्दृष्टेस्तु तस्माद्धि न रागो विषयेषु च ॥ ३७० ॥
जीवस्यानन्यभावा वै रागद्वेषादयो मताः ।
शब्दादिषु च नैवातः सन्ति रागादयः स्फुटम् ॥ ३७१ ॥

भावार्थ— दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि आत्मीय गुणों का सम्बन्ध अचेतन पदार्थों से नहीं है। इसलिए आत्मा उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती। दर्शनज्ञानचारित्र आदि का सम्बन्ध, जड़कर्मों से कुछ भी नहीं है। इसलिए उन कर्मों का भी ये घात नहीं कर सकते। इसी प्रकार शरीर आदि जड़ पदार्थों से भी रत्नत्रय का कुछ सम्बन्ध नहीं है। इसलिए उनका भी कुछ बिगाड़ नहीं सकते। शास्त्रों मे भावमिथ्यात्व आदि का घात तो कहा गया है किन्तु पुद्गलद्रव्य का कहीं नहीं कहा गया। जो दर्शन, ज्ञान आदि जीव के गुण हैं। निश्चयदृष्टि से वे अन्यद्रव्यों मे नही है। इसलिए सम्यग्दृष्टि परपदार्थों से विरक्त हो जाता है। रागद्वेषमोह आदि सब जीव के ही पारिणामिकभाव हैं। इसलिए शब्दादिक परपदार्थों में रागादि नहीं हैं।

विशेषार्थ— यदि कोई ऐसा विचार करे कि मैं कायक्लेशादि बाह्यतपों से ही रत्नत्रय की प्राप्ति कर सकूंगा, उसके प्रति आचार्य कहते हैं कि एकमात्र बाह्यपदार्थों के त्यागमात्र से अथवा कायक्लेशादि तप से कुछ भी लाभ न होगा। क्योंकि आत्मा को विकृत करने वाले मिथ्यात्व रागादि भाव हैं जब तक उनका त्याग न किया जायेगा तब तक रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। यद्यपि बाह्यपदार्थ आन्तरिकभावों के बिगाड़ने में निमित्त कारण हैं। इसलिए उनका त्याग भी आवश्यक है। किन्तु जब तक आत्मा में मिथ्यात्व आदि उपस्थित हैं, तब तक इन बाहरी पदार्थों का त्याग ही आत्मोन्नति मे साधक नहीं हो सकता। इसलिए शब्दादिपञ्चेन्द्रिय-जन्य ममत्व का त्याग ही त्याग है। अतः ज्ञानी जन इन रागादिभावों को अपने ही अज्ञान का कारण समझ कर उस अज्ञान तथा अज्ञानजनित रागद्वेषादिभावों को मिटाने का प्रयत्न करते हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं—

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात् ।
तौ वस्तुत्वं प्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित् ।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्यास्फुटन्तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः
रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥

अर्थ— जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा को त्रिकाल कर्म की उपाधि से भिन्न व सर्व पदार्थों से भिन्न अनुभव करते हैं वे ही शुद्धज्ञानचेतना का रसास्वाद लेते हैं। उनके ज्ञान से रागद्वेष का विकार दूर चला गया है, अब वे एकमात्र स्वरूपाचरण चारित्र में ही लीन हैं।

शुद्धज्ञान स्वभाव का अनुभव करना ही मोक्षमार्ग है। इसके विरुद्ध रागद्वेषरूप अशुद्ध भाव का अनुभव करना बंध का मार्ग है। स्वानुभव ही केवल ज्ञान का प्रकाश करने वाला है।

इसलिये रागद्वेष आदि की उत्पत्ति मे एकमात्र बाह्य पदार्थ ही कारण नहीं है, अपितु आत्मा का अज्ञान भाव भी उसमे कारण है, अतः उस अज्ञान भाव का नाश करके स्वआत्मरत होना आवश्यक है।

आगे इसी अर्थ को पुष्ट करते हैं—

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ।
तह्मा उ सव्वदव्वा उप्पजंते सहावेण ॥ ३७२ ॥

द्रव्यस्येह गुणोत्पादं नान्यद्रव्यं करोति वै।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याणि चोत्पद्यन्ते स्वभावतः ॥ ३७२ ॥

भावार्थ— एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के गुणो को उत्पन्न नहीं कर सकता। अतएव यह सिद्धान्त है कि सभी द्रव्य अपने २ स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ— अज्ञानी जीव वैभाविकरागादिभावो की उत्पत्ति को परद्रव्य से मानकर उनको दोष देता है। आचार्य उसके लिए उपदेश करते है कि अरे भोले प्राणी ! तू अपने अपराध को दूसरे के मत्थे मढने का निष्फल प्रयास क्यो करता है यह रागद्वेषादि की उत्पत्ति तेरे ही अज्ञान के कारण तुझमे ही होती है, इसलिए दूसरो को दोषी ठहराने की अपेक्षा अपने अज्ञान को नष्ट करने का प्रयत्न कर ! यही मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मिबोधः ॥

अर्थ— निश्चयनय से रागद्वेषभावो के होने में पुद्गलादि दूसरे द्रव्यो का कोई भी दोष नहीं है इस जीव मे स्वयं ही विभावरूप परिणमन करने की शक्ति है। अतः अनादि काल से यह जीव विभावरूप परिणमन करता हुआ मिथ्यात्वादि विभावरूप हो रहा है। इसी लिए यह स्वयं अज्ञानी बनकर रागद्वेषादि करता है। यदि यह अपने सहज शुद्धस्वभावरूप परिणमन करने लगे तो इसका यह अज्ञान दूर होकर केवल ज्ञान प्रगट होजाय।

आगे आचार्य कहते हैं, कि मिथ्यात्वादि मे परिणमन करता हुआ यह जीव ही पञ्चेन्द्रिय और मन के विषयो मे रागद्वेषादि करता है—

णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुयाणि।
ताणि सुणिऊण रूसइ तूसइ य पुणो अहं भणिदो ॥३७३॥

पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो।
तह्मा ण तुमं भणिओ किंचि वि किं रूससि अवुद्धो ॥३७४॥

असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुण सु मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सद्दं ॥ ३७५ ॥

असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पिच्छमंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं ॥ ३७६ ॥

असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं ॥ ३७७ ॥
असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं ॥३७८॥
असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं काय विसयमागयं तु फासं ॥३७९॥
असुहो सुहं व गुणो ण ते भणइ बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धि विसयमागयं तु गुणं ॥३८०॥
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झमंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धि विसयमागयं दव्वं ॥ ३८१ ॥
एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमत्तो ॥ ३८२ ॥

स्तुतिनिन्दादिवाक्यानि जडात्मकानि यानि वै ।
श्रुत्वा रुष्टश्च तुष्टश्च तानि मे भणितानि तैः ॥ ३७३ ॥
शब्दत्वं पौद्गलं प्रोक्तं भिन्नं तदात्मनः स्मृतम् ।
तत्तु न भणितं तुभ्यं मन्द ! रुष्टोऽसि वा कथम् ॥ ३७४ ॥
शुभोवाप्यशुभः शब्दो न त्वां वदति मां शृणु ।
गृहीतुं नैति शब्दं चि-च्छ्रोत्रविषयमागतम् ॥ ३७५ ॥
शुभाशुभं न रूपं च वक्ति त्वां पश्य मामिति ।
रूपं नैति गृहीतुं वै चक्षुर्विषयमागतम् ॥ ३७६ ॥
शुभोऽशुभश्च गंधो वै जिघ्र मां वक्ति नैव तु ।
घ्राणेन्द्रियगतंगन्धं गृहीतुं नैति चेतनः ॥ ३७७ ॥
रसः शुभोऽशुभश्चैव रसयेति न वक्ति त्वाम् ।
न ह्याप्नोति गृहीतुं वा जिह्वाविषयमागतम् ॥ ३७८ ॥
स्पर्शः शुभोऽशुभश्चैव न त्वां भणति मां स्पृश ।
न गच्छति गृहीतुं वै कायस्य विषयागतम् ॥ ३७९ ॥
गुणश्शुभोऽशुभश्च त्वां बुध्यस्वेति न वक्ति माम् ।
आत्मा नैति गृहीतुं वै बुद्धिविषयमागतम् ॥ ३८० ॥

शुभाशुभश्च द्रव्यं त्वां बुध्यस्वेति न वक्ति माम्।
आत्मा नैति गृहीतुं च बुद्धिविषयमागतम् ॥ ३८१ ॥
एवं ज्ञात्वापि मूढोऽयं न यात्युपशमं पुमान्।
विनिग्रहमना बुद्धिं परस्यैति स्वयं शिवाम् ॥ ३८२ ॥

भावार्थ— अनेक प्रकार के निन्दास्तुत्यात्मक वचनों को सुनकर अज्ञानी जीव यह समझता है कि ये वचन मुझे कहे गये हैं अतः उनसे हर्ष व शोक मानता है।

शब्द तो पौद्गलिक विकार हैं आत्मा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए अज्ञानी जीव व्यर्थ क्यों क्रोध करता है ? हे अज्ञानी जीव ! शुभ या अशुभ शब्द तुमको यह नहीं कहता कि तुम मुझे सुनो, और न वह तेरे द्वारा ग्रहण करने के लिए आता ही है। शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होने के कारण श्रोत्र में आता है।

शुभ या अशुभ रूप तुझको यह नहीं कहता, कि तू मुझे देख, और न वह तेरे से ग्रहण किये जाने के लिए ही आता है। रूप, चक्षु का विषय होने से चक्षु में प्रतिभासित होता है।

इसी प्रकार शुभ या अशुभ गन्ध, रस, स्पर्श, गुण द्रव्य आदि अपनी २ इन्द्रियों के विषयों को प्राप्त होते हैं। वे तुझे यह नहीं कहते, कि तू हमें ग्रहण कर और वे तेरे ग्रहण करने के लिए आते भी नहीं है।

आश्चर्य है, कि ऐसा जानने पर भी यह अज्ञानी जीव, इन विषयों से उपशम नहीं होता। और परद्रव्य ग्रहण करने की इच्छा रखता है। अतएव उसको शुद्धात्म-बुद्धि प्राप्त नहीं होती।

विशेषार्थ— जैसे चुम्बक पत्थर लोहे को खींचता है और वह खिंच जाता है, इस प्रकार न तो पाचों इन्द्रियों के विषय शब्द आदि जीव के द्वारा खींचे जाते हैं और न जीव खिंच के जाता है। अर्थात् जैसे बलात् चुम्बक सुई को खींच लेता है वैसे शब्दादि जीव को नहीं खींचते। क्योंकि इन्द्रियों का स्वभाव जानने का है इसलिए वे अपने २ विषयों को जानती हैं। ज्ञानी, जानता हुआ भी ज्ञाता, द्रष्टा रहता है। रागद्वेषादि नहीं करता। किन्तु अज्ञानी जीव मोह और ज्ञान के वशीभूत हो इष्ट विषयों में राग तथा अनिष्ट विषयों में द्वेष करता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं—

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधा न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तु स्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥

(कलश)

अर्थ— दीपक की तरह आत्मा का स्वभाव भी स्वपर-प्रकाशक है। अर्थात् जिस प्रकार दीपक का प्रकाश अन्य घटपटादि को प्रकाशित करते हुए भी तद्रूप परिणत नहीं होता और नहीं विकृत होता है। इसी प्रकार आत्मा का शुद्धज्ञान सर्व ज्ञेयों को जानते हुए भी न ज्ञेयरूप परिणत होता है और विकृत ही होता है। फिर भी अज्ञानी जीव, इस रहस्य को न समझकर रागद्वेषादि में फसकर तथा अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप को त्यागकर व्यर्थ ही आकुलित हो रहे हैं।

अब आचार्य निश्चयप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचनात्मक निश्चयचारित्र का उपदेश करते हैं—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥ ३८३॥
कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि वज्झइ भविस्सं।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया॥ ३८४॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपदि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जं चेयइ सो खलु आलोयणं चेया॥ ३८५॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं पडिक्कमदि यो य।
णिच्चं आलोचेयइ सोहु चरित्तं हवइ चेया॥ ३८६॥

पूर्वं कर्म कृतं यद्धै शुभाशुभमनन्तकम्।
वारयति चिदं तस्मात् तत्प्रतिक्रमणं विदुः॥ ३८३॥
भावे शुभादिकं कर्म यस्मिन्नृस्याद्बन्धकारणम्।
रुणद्धीन्द्रं ततो भावात् प्रत्याख्यानञ्च तन्मतम्॥ ३८४॥
शुभाशुभमुदीर्णं यत् कर्म संप्रत्यनेकधा।
वेत्ति दोषात्मकं जीवः स एवालोचना स्मृता॥ ३८५॥
प्रत्याख्यानं सदा कुर्यात् प्रतिक्रामति यः सदा।
आलोचयति नित्यञ्च वृत्तं स चेतनो भवेत्॥ ३८६॥

भावार्थ— जिसने पूर्वकाल में शुभाशुभ ज्ञानावरणादि अनन्त कर्म किये और फिर उनसे जो अपनी आत्मा को हटा लेता है वह आत्मा ही निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप है।

भविष्यकाल मे शुभ या अशुभकर्म जिनभावों से होते है उनभावों से जो आत्मा अपने को निवृत्त करे, वह आत्मा निश्चय प्रत्याख्यानरूप है।

वर्तमानकाल मे शुभाशुभ अनेक प्रकार के ज्ञानावरणादिक कर्मों का उदय होता है उन विषयों मे ज्ञानपूर्वक अनुभव करके जो ज्ञानी कर्ता कर्मपने का त्याग कर देता है, वह आत्मा निश्चय आलोचनारूप है।

इस प्रकार जो आत्मा, नित्य प्रत्याख्यान करता है, नित्य प्रतिक्रमण करता है और नित्य आलोचना करता है वह आत्मा निश्चय से चारित्रस्वरूप है।

विशेषार्थ— यहां निश्चयनय की दृष्टि से प्रतिक्रमण आदि का वर्णन किया गया है।

प्रतिक्रमण— लगे हुए दोषों से आत्मा के निवृत्त करने को 'प्रतिक्रमण' कहते हैं।

प्रत्याख्यान— भविष्यकाल में लगने वाले दोषों का त्याग करना 'प्रत्याख्यान' कहलाता है।

आलोचना— लगे हुए वर्तमान दोषों से आत्मा को पृथक् करनेका नाम 'आलोचना' है।

यह सब व्यवहारचारित्र है। निश्चयदृष्टि से देखा जाय, तो तीनो कालो में आत्मा को भिन्न जानना व श्रद्धान करना तथा ऐसा ही अनुभव करना निश्चयचारित्र है। इस चारित्र मे अपनी, शुद्धात्मा का अनुभव ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व आलोचना है। इस प्रकार रत्नत्रय के एकत्व का परमसमाधिकाल मे लीन होकर अनुभव करने का नाम निश्चयचारित्र है। और इसी निश्चयचारित्र का नाम ज्ञानचेतना है।

यहां श्री अमृतचन्द्राचार्य इस विषय को स्पष्ट करते हैं कि—

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः॥
(कलश)

अर्थ— ज्ञान की चेतना से ही ज्ञान, अत्यन्त शुद्ध निरन्तर प्रकाशित होता है और अज्ञान की चेतना से बन्ध, ज्ञान की शुद्धता को रोकता है अर्थात् होने नही देता।

अभिप्राय यह है, कि जैन शास्त्रों मे तीन प्रकार की चेतना मानी गई है १— कर्मचेतना २— कर्मफलचेतना ३— ज्ञानचेतना। इनमें से दो को अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना को अज्ञानचेतना भी कहते हैं। सारांश यह है कि जब तक आत्मा कर्म और कर्मफलस्वरूप अर्थात् सुखदुःखादिरूप परिणमन करता है उस समय उसकी अज्ञानचेतना होती है। और जब आत्मा, कर्म और कर्मफल से विरक्त होकर परमसमाधिकाल मे ज्ञानरूप परिणमन करता है तब उसको ज्ञानचेतना कहते हैं। उसी ज्ञानरूप परिणमन करने से केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसलिए आचार्य उपदेश करते है कि— कर्म और कर्मफल का विकल्प त्यागकर अपने ज्ञानस्वरूप मे परिणमन करो।

आगे इसी कथन की फिर पुष्टि करते हैं—

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥ ३८७॥
वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥ ३८८॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥ ३८९॥

कर्मफलं करोत्यात्मा निजरूपञ्च वेदयन्।
स बध्नाति पुनर्वीजं दुःखस्याष्टविधं सदा॥ ३८७॥
कर्मफलं तु भुञ्जानो जानातीति कृतं मया।
तत्पुनः स च बध्नाति वीजं दुःखस्य चाऽष्टधा॥ ३८८॥

कर्मफलन्तु भुञ्जानो दुःखितः सुखितो भवेत् ।
दुःखस्याष्टविधं बीजं बध्नाति स पुनः पुनः ॥ ३८९ ॥

भावार्थ— जो आत्मा कर्मफल को भोगता हुआ कर्मफल को आत्मरूप करता है तथा आत्मरूप ही समझता है। वह आत्मा दुःख के बीजरूप ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों को बांधता है।

तथा जो आत्मा कर्म के फल का अनुभव करता हुआ उसमें ममत्वबुद्धि माने अर्थात् उसको अपना कर्ता जाने, ऐसा आत्मा दुःख के बीजरूप ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों को बांधता है।

एव जो आत्मा कर्मफल का अनुभव करता हुआ सुखी और दुःखी होता है वह आत्मा दुःख के बीजरूप ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों को बाधता है।

विशेषार्थ— चेतना दो प्रकार की मानी गई है १— ज्ञानचेतना २— अज्ञान चेतना। अज्ञान चेतना के दो भेद हैं— एक, कर्मचेतना दूसरी, कर्मफल चेतना।

अब कर्मचेतना का स्वरूप बताते है, कि मेरा ही कर्म है या मेरे द्वारा किया गया कर्म ह, इसप्रकार के अज्ञानभाव से जो इच्छापूर्वक इष्ट या अनिष्टरूप से मन, वचन, काय का व्यापार (रागद्वेषरहित शुद्धात्मा के अनुभव से गिरकर) करना वह नवीनकर्मबन्ध को करने वाली कर्मचेतना है। तथा जो आत्मा शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव न करता हुआ, उदय मे आये हुए कर्मफलो को भोगता हुआ, इष्ट, अनिष्ट इन्द्रिय विषयो के निमित्त को प्राप्तकर सुखी व दुःखी होता है, वह आत्मा भविष्यकालिक दुःख के कारण रूप ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों का बन्ध करता है।

अब कर्मफल चेतना का स्वरूप बताते है कि आत्मा मे तल्लीन होकर अज्ञानभाव से यथासम्भव प्रगट या अप्रगटस्वभाव से इच्छापूर्वक इष्ट, अनिष्ट का विकल्प करते हुये हर्ष या विषादरूप सुख और दुःख का अनुभव करना ही बन्ध की कारणभूत कर्मफल चेतना ये दोनो ही अज्ञान चेतनाओ का त्याग करने योग्य है। क्योंकि ये कर्मबन्ध को करने वाली है। और मुमुक्षुओं के लिए ज्ञान चेतना ही उपादेय है।

आगे शास्त्रादि सब विषयो से ज्ञान को पृथक् प्रगट करते हैं—

सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥ ३९० ॥
सद्दो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दो जिणा विंति ॥ ३९१ ॥
रूवं णाणं ण हवइ जम्हा रूवं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥ ३९२ ॥
वण्णो णाणं ण हवइ जम्हा वण्णो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥ ३९३ ॥

गंधो णाणं ण हवइ जम्हा गंधो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥ ३९४ ॥
ण रसो दु हवइ णाणं जम्हा दु रसो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ॥ ३९५ ॥
फासो ण हवइ णाणं जह्मा फासो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥ ३९६ ॥
कम्मं णाणं ण हवइ जह्मा कम्मं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥ ३९७ ॥
धम्मो णाणं ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥ ३९८ ॥
णाणमधम्मो ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥ ३९९ ॥
कालो णाणं ण हवइ जह्मा कालो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ॥ ४०० ॥
आयासंपि ण णाणं जम्हाऽऽयासं ण याणए किंचि।
तह्माऽऽयासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥ ४०१ ॥
ण अज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥ ४०२ ॥
जह्मा जाणइ णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणऊ णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वम् ॥ ४०३ ॥
णाणं संम्मादिट्ठी तु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ॥ ४०४ ॥

नास्ति शास्त्रमतो ज्ञानं किञ्चिच्छास्त्रन्तु वेत्ति न।
ज्ञानमन्यच्च शास्त्रञ्च प्रवदन्ति जिनेश्वराः ॥ ३९० ॥

शब्दो भवति ज्ञानं न शब्दः किञ्चिन्न वेत्यतः ।
ज्ञानमन्यच्च शब्दश्च जिना अन्यं विदन्ति वै ॥ ३९१ ॥
रूपं भवति नो ज्ञानं किञ्चिद्रूपन्तु वेत्ति न ।
ज्ञानमन्यद्भवेद् रूपात् प्रवदन्ति जिनेश्वराः ॥ ३९२ ॥
वर्णो भवति नो ज्ञानं किञ्चिद्वर्णो न वेत्ति वै ।
वर्णमन्यं तथा ज्ञानं कथयन्ति जिनेश्वराः ॥ ३९३ ॥
गन्धो भवति नो ज्ञानं किञ्चिद्गन्धो न वेत्यतः ।
गन्धमन्य तथा ज्ञानं जिना अन्यं भणन्ति वै ॥ ३९४ ॥
रसो भवति नो ज्ञानं रसः किञ्चिन्न वेत्यतः ।
रसमन्य तथा ज्ञानं जिना अन्यं विदंति वै ॥ ३९५ ॥
स्पर्शो भवति नो ज्ञानं किञ्चिद्रसो न वेत्यतः ।
स्पर्शमन्य तथा ज्ञान जिना अन्य ब्रुवन्ति वै ॥ ३९६ ॥
कर्म भवति नो ज्ञानं कर्मकिञ्चिन्न वेत्यतः ।
अन्यत्कर्म तथा ज्ञानं प्राहुरन्यज्जिनेश्वराः ॥ ३९७ ॥
धर्मद्रव्यन्न वै ज्ञानं धर्मः किञ्चिन्न वेत्यतः ।
धर्मद्रव्यं तथा ज्ञानं विदन्त्यन्यज्जिनेश्वराः ॥ ३९८ ॥
अधर्मो नास्ति वै ज्ञानं नाधर्मो वेत्ति किञ्चन ।
ज्ञानमन्यच्च वाऽधर्मं विदन्त्यन्यं जिनेश्वराः ॥ ३९९ ॥
कालो भवति नो ज्ञानं किञ्चित्कालश्च वेत्ति न ।
कालमन्य तथा ज्ञान जिना अन्यं भणन्ति वै ॥ ४०० ॥
आकाशमपि नो ज्ञान नाकाश वेत्ति किञ्चन ।
आकाशञ्च तथा ज्ञान भिन्नं प्रोक्तं च सर्वगैः ॥ ४०१ ॥
ज्ञान नाध्यवसानं वाऽध्यवसानन्न वेति वै ।
अन्यच्चाध्यवसानं वै ज्ञानमन्यत्प्रभाषितम् ॥ ४०२ ॥
जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी नित्यं जानात्यतस्तु सः ।
अभिन्नज्ञायकाज्ज्ञानं ज्ञातव्यं तत्वदर्शिभिः ॥ ४०३ ॥
सम्यग्दृष्टि च ज्ञानं वै ज्ञानं सूत्रञ्च संयमम् ।
ज्ञान धर्ममधर्मञ्च दीक्षां ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ ४०४ ॥

भावार्थ— शास्त्र ज्ञान नही है अतः शास्त्र कुछ जानता नही है, क्योंकि वह जड है। इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है, ऐसा जिन भगवान् कहते है।

शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि वह (शब्द) कुछ जानता नहीं है, अतः ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है, यह जिनदेव कहते हैं।

रूप, ज्ञान नहीं है। क्योंकि रूप कुछ जानता नहीं है। इसलिए ज्ञान और है तथा रूप और है, ऐसा जिन भगवान् कहते हैं।

वर्ण ज्ञान नहीं है। क्योंकि वर्ण कुछ जानता नहीं है, अतः ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है, यह जिनदेव कहते हैं।

गन्ध, ज्ञान नहीं है। क्योंकि गन्ध कुछ जानता नहीं है। अतः ज्ञान को तथा गन्ध को जिनदेव ने पृथक् २ कहा है।

रस, ज्ञान शून्य है। क्योंकि वह (रस) कुछ जानता नहीं, अतः ज्ञान और रस को जिन भगवान् अलग २ मानते हैं।

स्पर्श, ज्ञान नहीं है। अतः स्पर्श कुछ जानता भी नहीं। इसलिए ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है, ऐसा जिनदेव कहते हैं।

कर्म, ज्ञान नहीं है। क्योंकि कर्म कुछ जानता नहीं। इसलिए ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है, ऐसा जिन भगवान् कहते हैं।

धर्म, ज्ञान नहीं है। क्योंकि वह कुछ जानता नहीं है। अतएव ज्ञान अन्य है और धर्म अन्य है, यह जिनदेव कहते हैं।

अधर्म, ज्ञान नहीं है। क्योंकि वह कुछ नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और अधर्म अन्य है, ऐसा जिनदेव कहते हैं।

काल ज्ञान नहीं, क्योंकि वह कुछ जानता नहीं। अतः ज्ञान और काल को जिनदेव भिन्न २ कहते हैं।

आकाश, ज्ञान नहीं है। क्योंकि वह कुछ जानता नहीं। अतः ज्ञान और आकाश को जिनदेव पृथक् २ कहते हैं।

इसीप्रकार अध्यवसान भी ज्ञान नहीं है। क्योंकि अध्यवसान अचेतन है। इसलिए ज्ञान अन्य है और अध्यवसान अन्य है, ऐसा जिनदेव कहते हैं।

इसप्रकार जीव ज्ञायक है वही ज्ञान है। क्योंकि वह निरन्तर जानता रहता है और ज्ञान, ज्ञायक से अभिन्न है अर्थात् पृथक नहीं है, ऐसा जानना चाहिए। तथा ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, सयम है, सूत्र है, और धर्म अधम है। तथा दीक्षा भी उसी को जानो, ऐसा ज्ञानी जन मानते हैं।

विशेषार्थ— श्री अमृतचन्द्राचार्य उक्त विषय को निम्न प्रकार स्पष्ट करते हैं—

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ॥ (कलश)

अर्थात्— ज्ञान, आत्मा का असाधारण लक्षण है, इसलिए यह आत्मा को परद्रव्यों से पृथक् करता है और आत्मा में ही स्थित है। यह ज्ञान वस्तुस्वभावरूप सामान्य विशेषात्मक है। न इसमें कुछ त्याग है और न ग्रहण। इन समस्त अपेक्षाओं से रहित है। रागादिक मल से भी रहित है। इसप्रकार यह नित्य प्रकाशमान है। न इसका आदि है और न अन्त ही। मति-ज्ञान आदि जितने भेद हैं उन सब भेदों से पृथक् स्वानुभवगोचर, स्वपरप्रकाशक, देदीप्यमान है। इसप्रकार इस ज्ञान की महिमा है।

सारांश यह है— कि ज्ञान आत्मा का असाधारण लक्षण है, क्योंकि यह सब आत्माओं में पाया जाता है तथा आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थों में इसका सर्वथा अभाव है। यह ज्ञान शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा रागादि से रहित है। इसी शुद्ध वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का अनुभव करने से आत्मा के संयमादि गुण कहे जाते हैं। इसप्रकार का ज्ञान, सर्वपर्यायों से भिन्न स्वयं द्रव्यस्वरूप है। उसी ज्ञान का श्रद्धान व ज्ञान प्राप्त करना श्रेयस्कर है।

इसी अर्थ को पुनः पुष्ट करते हैं—

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारऊ हवइ एवं।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पुग्गलमओउ ॥ ४०५ ॥
ण वि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं जं य जं परदव्वं।
सो कोवि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ॥ ४०६ ॥
तम्हा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि।
णेव विमुंचइ किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥ ४०७ ॥

आत्माऽमूर्तोऽस्ति तस्माद्धि नाहारको भवेदिति।
आहारः खलु मूर्तोऽसौ यस्मात्स पुद्‌गलात्मकः ॥ ४०५ ॥
न शक्यते गृहीतुं यद् द्रव्यंत्यक्तुं न यत्परम्।
गुणश्च कर्मजः कोऽपि स्वभावजोऽस्य वा पुनः ॥ ४०६ ॥
तस्माद्विशुद्ध आत्मा तु नैव गृह्णाति किञ्चन।
न विमुञ्चति किञ्चिद्वा जड़चेतनतत्त्वयोः ॥ ४०७ ॥

भावार्थ— शुद्धनिश्चयनय से आत्मा अमूर्तिक है इसलिए वह आहारक नहीं है। क्योंकि आहार मूर्तिक होने से पुद्‌गलमय है।

आत्मा का स्वाभाविक ऐसा ही गुण है जिस से यह आत्मा न परपदार्थ को ग्रहण करने में समर्थ है और न त्यागने में।

इसलिए जो शुद्ध आत्मा है वह परजीव या अजीवद्रव्य को न ग्रहण करता है और न त्यागता है।

विशेषार्थ— शुद्धनिश्चयनय से ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और कर्म, नोकर्मरूप पौद्‌गलिक आहार मूर्तिक है। इसलिये तत्त्वतः आत्मा पुद्‌गलमय आहार को ग्रहण नहीं

करता है, आत्मा का यह स्वभाव ही है। इसलिए यह परपदार्थ को तो ग्रहण ही नहीं करता। प्रत्युत अपने ही स्वभावरूप परिणामो और विभावरूप परिणामों को ही ग्रहण करता है।

पुनः इसी अर्थको पुष्ट करते हैं—

पाखंडिलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥ ४०८ ॥
ण उहोइ मोक्खमग्गो लिंगं जं णिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुदत्तुं दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥ ४०९ ॥

साधुगृहस्थलिङ्गानि विविधानि च यानि वै।
वदन्त्यज्ञा गृहीत्वेद लिंगं वै मोक्षकारणम् ॥ ४०८ ॥
मोक्षमार्गो न लिंगं वै यस्माच्छरीरनिर्ममाः।
मुक्त्वा लिंगं च सेवन्ते जिना रत्नत्रयं निजम् ॥ ४०९ ॥

भाषार्थ— अज्ञानी साधु अथवा गृहस्थी लोग, अनेक प्रकार के बाह्यलिंग वेश आदि धारण करके यह कहते है, कि यह वेश आदि ही मोक्ष का मार्ग है।

आचार्य कहते हैं— कि लिग मात्र ही मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि अर्हन्तदेव भी देह आदि से निर्ममत्व होकर वेश आदि त्यागकर रत्नत्रयरूप आचरण करते हैं।

विशेषार्थ— निश्चयनय से शुद्धात्मभावना ही मोक्ष का कारण है। यह शुद्धात्मभावना जिस परिणाम से होती है, वह परिणाम आत्मा का स्वाभाविक गुण होने से देह आदि से और देहाश्रित बाह्यवेशो से सर्वथा भिन्न है। एक निश्चय रत्नत्रयरूप भावना ही मोक्ष का कारण है। बाह्यदेह तथा देहाश्रित बाह्य वेशादि सब निमित्तमात्र है। इसलिए व्यवहारनय से इनको भी मोक्षमार्ग कहा जाता है। किन्तु निश्चय मोक्षमार्ग तो शुद्ध आत्मिक भाव ही हैं। उन्हीं का यहाँ वर्णन किया गया है। अतः मुनियो का नग्न वेष अथवा गृहस्थियों के क्षुल्लक, एलक आदि वेशमात्र ही मोक्ष के साधक नही हैं। जब तक आत्मानुभव न हो तब तक यह द्रव्यलिंग व्यर्थ ही हैं। इसलिए गृहस्थ व मुनियो के द्रव्यलिगो का आग्रहरूपममत्व त्याग कर सम्यग्दशन, ज्ञान, चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग मे लगना श्रेयस्कर है। किन्तु बाह्यवेश व शरीरादि भी रत्नत्रय की प्राप्ति मे साधक अवश्य हैं।

इसी विषय को फिर कहते है—

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडिगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसण णाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥ ४१० ॥

साधुगृहस्थलिंगानि मोक्षमार्गो न वै यतः।
दृग्ज्ञानचरणानीह मोक्षमार्गं वदन्ति ते ॥ ४१० ॥

भाषार्थ— साधु व गृहस्थ का द्रव्यलिंग अर्थात् बाह्यवेश मोक्षमार्ग नही है। अपितु सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इन तीनो की एकता ही मोक्षमार्ग है। ऐसा जिनदेवो ने कहा है।

द्रव्यलिंग ही मोक्षमार्ग नहीं है, अब यह बताते हैं—

तह्मा जहित्तु लिंगे सागाराणगारएहिं वा गहिए।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४११ ॥

अनागारैश्च सागारैर्गृहीतानीह यानि वै।
हित्वा लिंगानि सर्वाणि युङ्क्ष्व मोक्षपथे मतिम् ॥ ४११ ॥

भावार्थ— द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, यह बताया जाचुका है। इसलिए गृहस्थों व मुनियों का कर्तव्य है, कि वे द्रव्यलिंगों का ममत्व त्यागकर अपनी आत्मा को रत्नत्रय मोक्षमार्ग में लगायें, यही आचार्यों का उपदेश है।

पुनः इसी विषय को पुष्ट करते हैं—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥ ४१२ ॥

मोक्षे स्थापय चात्मानं ध्यायस्व चेतयस्व तम्।
तत्रैव रम नित्यं मा-विहार्षीरन्यवस्तुषु ॥ ४१२ ॥

भावार्थ— हे भव्य जन! तू अपनी आत्मा को मोक्षमार्ग में लगा। अन्य समस्त बाह्य पदार्थों से विरक्त होकर अपनी आत्मा का श्रवण, मनन और अनुभव कर! तथा निरन्तर आत्मा में ही लीन रह, यही कल्याण का मार्ग है।

इसी अर्थ को पुनः पुष्ट करते हैं—

पाखंडीलिंगेसु व गिह लिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वन्ति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारम् ॥ ४१३ ॥

साधुगृहस्थलिंगेषु बहुधा विततेषु च।
कुर्वन्ति ये ममत्वं तै नं ज्ञातः शुद्धचिद्घनः ॥ ४१३ ॥

भावार्थ— जो व्यक्ति साधुवेश मे नानाप्रकार के गृहस्थवेशों मे ममत्व बुद्धि करके उन्हीं को मोक्षमार्ग मानता है उसने समयसार के वास्तविक रहस्य को नहीं जाना।

व्यवहार से लिंगो को मोक्षमार्ग कहा है परन्तु निश्चयनय किसी भी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं कहता है, यह बताते है—

ववहारिऊ पुणनऊ दोणिण वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्चयणऊ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४१४ ॥

व्यवहारेण लिंमे द्वे भवतो मोक्षकारणे।
भवतो निश्चयान्नैव लिंगे द्वे मोक्षकारणे ॥ ४१४ ॥

भाषार्थ— व्यवहारनय तो मुनि और श्रावक के द्रव्यलिंगो को भी मोक्षमार्ग बताता है किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से इन बाह्य चिन्हो का कुछ भी मूल्य नहीं है।

विशेषार्थ— गाथा ४०८ से ४१५ तक की ८ गाथाओं मे श्री आचार्य महाराज ने एकमात्र बाह्यवेश को ही मोक्ष का कारण मानने वालों को उपदेश दिया है कि यह तुम्हारी मान्यता मिथ्या है। क्योंकि बाह्यवेश मात्र से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए दिगम्बरत्वादि बाह्यवेशो को सर्वथा हेय समझ कर उनके त्याग का उपदेश नहीं है। क्योंकि यह व्यवहारचारित्र है और व्यवहारचारित्र के बिना निश्चयचारित्र की प्राप्ति होना नितान्त असम्भव है। अतः जब निश्चय-चारित्र की प्राप्ति हो जाय, उस अवस्था मे इस व्यवहारचारित्र को त्याज्य बताया है।

अब आचार्य 'समयसार' के पठन-पाठन का फल बताते हैं—

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थतच्चदो णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो होठो उत्तमं सोक्खं ॥ ४१५ ॥

पठति समयसारं तत्त्वतोऽर्थतो वा
ह्यनुभवति च नित्यं शुद्धबुद्धात्मतत्त्वम्।
त्यजति झटिति मोहं दुर्निवार करालं
पुरुष इह नूनं प्राप्स्यति मोक्ष-सौख्यम् ॥ ४१५ ॥

भाषार्थ— जो पुरुष, तत्वदृष्टि से अर्थसहित इस 'समयसार' का नित्य पठन पाठन करेंगे वे अपनी शुद्धात्मानुभूति के बल से दुर्निवार भयंकर मोह जाल से छूटकर निश्चय ही मोक्षरूपी परमसुख को प्राप्त करेंगे।

तथाच— श्री अमृतचन्द्राचार्य के वचनो द्वारा 'समयसार' की उपादेयता—

अलमलमिति जल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै रयमिह परमार्थश्चिन्त्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥२४४॥
इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतांनयत् ॥ २४५ ॥

(कलश)

अर्थ— बहुत कहने से और बहुत विकल्पो से तो कोई कार्य पूर्ण हो नहीं सकता और न इस से कुछ लाभ ही है। अतः इस अध्यात्म ग्रन्थ में केवल परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करना चाहिए। क्योंकि निश्चय से अपने रस के फैलाव से पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होने से समयसार मे परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ भी सार नहीं है।

यह समय प्राभृतग्रन्थ वचनरूप तथा ज्ञानरूप दोनो ही तरह मे नेत्र के समान है। क्योंकि जैसे नेत्र घटपटादि को प्रत्यक्ष दिखलाता है। वैसे यह भी शुद्ध आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभव करा देता है।

इति चूलिकाधिकारः ॥ १० ॥

परिशिष्ट १

आत्माष्टकम्

अस्त्यात्मा तु स्वतः सिद्धः स्वानुभूत्यैकगोचरः ।
ज्ञानदर्शनरूपोऽयं परमानन्दमन्दिरम् ॥ १ ॥

अर्थ— इस श्लोक मे आत्मा को सिद्ध करने के लिए आत्मा के निम्न विशेषण दिये गये है—

१— आत्मा है, और वह स्वतः सिद्ध है तथा वह स्वानुभूत्यैकगम्य है। एवं वह ज्ञानदर्शन स्वरूप है और मानो परमानन्द का साक्षात् मन्दिर है।

पार न याति मेधाऽस्य न मनो नेन्द्रियाणि वा ।
न गतिस्तत्र शास्त्राणां विदुषां न तपस्विनाम् ॥ २ ॥

अर्थ— उस आत्मा का न बुद्धि पार पा सकती है, न मन पार पा सकता है, न इन्द्रियाँ ही उसके पार को पासकती है और न शास्त्र ही उसका यथार्थ रूप से वर्णन कर सकते हैं। इसी प्रकार न विद्वानो की वहाँ पहुंच है और न तपस्वियो की ही।

प्रियो देहात् प्रियः पुत्रात् प्रियो मातुः पितुस्तथा ।
पत्युः प्रियः प्रियो नार्या मित्राद् भ्रातुः प्रियप्रियः ॥ ३ ॥

अर्थ— यह आत्मा शरीर से प्रिय है, पुत्र से प्रिय है माता और पिता से प्रिय है, पति से प्रिय है, स्त्री से प्रिय है तथा मित्र और भाई से भी प्रिय है। अधिक क्या, यह (आत्मा) ससार में जितनी प्रिय वस्तुए है उन से भी प्रिय है।

न ज्ञेयोऽयं न मेयोऽयं ज्ञेयोमेयस्तथैव च ।
ज्ञातारं केन जानीयाद् द्रष्टारं लोकयेत किम् ॥ ४ ॥

अर्थ— यह आत्मा व्यवहारनय से ज्ञेय, अर्थात् जानने योग्य है तथा मेय, अर्थात् प्रमाणों से सिद्ध करने योग्य है। किन्तु निश्चयनय से न ज्ञेय है और न मेय है। अतः इस आत्मा को किस के द्वारा जाना जाय तथा किस से देखा जाय ? क्योकि यह तो स्वयं सबका ज्ञाता-द्रष्टा है।

श्रोत्रस्य श्रोत्रमेवायं नेत्रस्यनेत्रमेव वा ।
मनसः स मनो ज्ञेयः प्राणस्य प्राण एव च ॥ ५ ॥

अर्थ— यह आत्मा श्रोत्र का श्रोत्र है और चक्षु का चक्षु है। क्योकि श्रोत्र स्वयं सुनने मे तथा चक्षु स्वयं देखने मे असमर्थ है। ये आत्मा के कारण ही विषयों को ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार मनका यह मन है और प्राणों का यह (आत्मा) प्राण है। अर्थात् यह आत्मा ही नेत्र के द्वारा देखता है और मन के द्वारा मनन करता है।

द्वैताद्वैतात्मकः सत्यं निर्विकल्पो निरामयः।
निर्विशेषो निराकारो निरालम्बो निराकुलः ॥ ६ ॥

अर्थ— यह आत्मा व्यवहारनय से द्वैतात्मक है और निश्चयनय से अद्वैतात्मक है, सत्य है, विकल्प रहित है रोगादि से रहित है सर्व विशेषणों से रहित है, आकार रहित है, आलम्ब रहित है और आकुलता रहित है।

शरण्योऽय वरेण्योऽयं सुरम्योऽयञ्च योगिनाम्।
सर्वथा कल्पनानीतः सर्वशक्तिसमन्वितः ॥ ७ ॥

अर्थ— यह आत्मा शरण्य है, वरेण्य है तथा योगियों के लिए परमरम्य है। यह कल्पनातीत है और सर्वशक्तिमान है।

तं विद्यात् सर्वभावेन सर्वयत्नेन चाप्नुयात्।
तस्यैव चिन्तन कुर्यात् "निजानन्द" निजात्मनि ॥ ८ ॥

अर्थ— समस्त भावों से उस आत्मा को जानना चाहिए तथा सर्व प्रयत्नों से प्राप्त करना चाहिए। हे निजानन्द! तू अपनी आत्मा में उसी चिदानन्दघन शुद्धस्वरूप आत्मा का सतत चिन्तन किया कर! यही श्रेयस्कर मार्ग है।

उपर्युक्त अष्टक में हमने जितने आत्मा के विशेषण दिये हैं उनमें सब से प्रथम 'अस्ति' विशेषण है। अर्थात् आत्मा है। और वह स्वतः सिद्ध है।

प्रथम हम इसी पर विचार करते हैं—

आत्मा है

संसार में दो प्रकार के पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। एक जड दूसरे चेतन (सजीव)। जिन पदार्थों में देखने, सुनने जानने या अनुभव करने की शक्ति नहीं है उनको जड कहते हैं, और जिनमें सुख दुःख-अनुभव करने की शक्ति है तथा जो देखते, जानते, सुनते हैं उनको सजीव कहते हैं। इस देखने, जानने व अनुभव करने वाली शक्ति का नाम ही आत्मा है। क्योंकि किसी भी भौतिक पदार्थ में ये गुण नहीं पाये जाते। ऐसा होने पर भी बहुत से विद्वानों का मत है कि शरीर से भिन्न आत्मा कोई वस्तु नहीं है। आत्मा शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है। क्योंकि यह आत्मा शरीर का ही विशेष परिणाम है। इस का उत्तर आस्तिकदर्शनकारों ने प्रबलयुक्तियों द्वारा दिया है। जिनको हम संक्षेप से नीचे उद्धृत करते हैं—

तार्किकशिरोमणि श्री आचार्य विद्यानन्द स्वामी, 'श्लोकवार्तिक' में लिखते हैं कि—

"स्वसंवेदनतः सिद्धः सदात्मा बाधवर्जितात्।
तस्य क्ष्मादिविवर्तात्मन्यात्मन्यनुपपत्तितः ॥ १०२ ॥

अर्थ— भौतिकवादियों को आचार्य कहते हैं कि जो आत्मा को जड का परिणाम मानते हैं उनके मत में स्वसंवेदन ज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि यह घटपटादि किसी भी जडात्मक

पदार्थ में नहीं है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिए—

स्वसंवेदनमप्यस्य बहिःकरणवर्जनात्।
अहंकारास्पदं स्पष्टमबाधमनुभूयते ॥ १०३ ॥

अर्थ— बहिरङ्ग पाँच इन्द्रियों से रहित 'मैं, मैं" इस प्रकार बाधारहित प्रतीति विशद-रूप से स्वसंवेदन प्रत्यक्ष इस अंतरङ्ग आत्मा का अनुभव कराता है।"

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक प्राणी को प्रत्येक समय अपनी आत्मा का स्वानुभव हो रहा है। यह स्वानुभूति ही उस आत्मा की सिद्धि मे प्रबल प्रमाण है।

श्रीशंकराचार्य ने भी लिखा है कि—

"सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति।
यदि हि नात्मत्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् ॥
(ब्र० सू० १।१।१ पर शाङ्करभाष्य)

अर्थात् ऐसा कोई भी व्यक्ति नही है जो विश्वास करे कि 'मैं नही हूँ'। यदि आत्मा की अस्तित्व-प्रसिद्धि न होती तो सब किसी को अपने अनास्तित्व में विश्वास होता, परन्तु ऐसा न होने से आत्मा की स्वतः सिद्धि स्पष्टतः प्रमाणित होती है।

पञ्चाध्यायीकार ने भी कहा है—

"अहम्प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात्।
एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः ॥

अर्थ— इस शरीर के भीतर "मैं हूँ, मैं हूँ" ऐसा जो एक प्रकार का ज्ञान होता रहता है उस ज्ञान से जाना जाता है, कि इस शरीर के भीतर जीवरूप एक वस्तु स्वतन्त्र है। अथवा मै-मै इस बोध से ही जीवात्मा का मानसिक प्रत्यक्ष स्वयं होता है। इसी प्रकार कोई दरिद्र है, कोई धनाढ्य है कोई अन्धा है, कोई गूँगा है आदि नाना प्रकार के जीवों के देखने से कर्म का बोध होता है।" (अ० २।५०)

वैशेषिक दर्शन कार भी कहते हैं कि—

"अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः ॥ १४ ॥
(अ० ३ आ० २)

अर्थ—"मैं हूँ" इसप्रकार स्वात्मा मे अनुभूति होना और परपदार्थ में न होना, यह आत्मा का मानसिक प्रत्यक्ष है।"

श्री लोकमान्य गंगाधर तिलक "गीतारहस्य" मे लिखते है कि—

'मैं हूँ" यह प्रत्येक मनुष्य को होने वाली प्रतीति ही आत्मा के अस्तित्व का सर्वोत्तम प्रमाण है (वे० सू० शां० भा० ३३. ५३. ५४)। किसी को यह नहीं मालूम होता कि 'मैं नहीं हूँ"। इतना ही नही, किन्तु मुखसे "मैं नही हूं" शब्दो का उच्चारण करते समय भी "नहीं हूँ" इस क्रियापद के कर्त्ता का, अर्थात् "मैं" का अथवा आत्मा का वा "अपना" अस्तित्व वह प्रत्यक्षरीति से माना ही करता है। इसप्रकार "मैं" इस अहंकारयुक्त सगुणरूप से शरीर में, स्वयं अपने ही को व्यक्त होने वाल आत्मतत्त्व के अर्थात् क्षेत्रज्ञ के असली, शुद्ध और गुणविरहित स्वरूप

का यथाशक्ति निर्णय करने के लिए वेदान्तशास्त्र की उत्पत्ति हुई है (गी० १३. ४)।"

आत्म-सिद्धि

देहाध्यास से अर्थात् अनादिकाल के अज्ञान के कारण देह का परिचय हो रहा है, इस कारण तुझे आत्मा, देह ही भासित होता है। परन्तु आत्मा और देह दोनो भिन्न भिन्न है। क्योंकि दोनों ही भिन्न भिन्न लक्षणपूर्वक प्रगट देखने मे आते हैं।

अनादिकाल के अज्ञान के कारण देह के परिचय से देह ही आत्मा भासित हुई परन्तु जिस तरह तलवार और म्यान दोनो एक म्यान रूप मालूम होते है फिर भी दोनो भिन्न भिन्न हैं, उसी तरह आत्मा और देह दोनो भिन्न भिन्न हैं।

वह आत्मा, दृष्टि अर्थात् आँख से कैसे दिखाई दे सकती है ? क्योकि उल्टी आत्मा ही आँख से देखने वाली है। जो स्थूल-सूक्ष्म आदि के स्वरूप को जानता है, और जिसमे किसी भी प्रकार की बाधा नही आसकती, ऐसा जो अनुभव है, वही जीव का स्वरूप है।

जो कर्णेन्द्रिय से सुना जाता है उसे कर्णेन्द्रिय जानती है, उसे चक्षु इन्द्रिय नही जानती, और जो चक्षु इन्द्रिय से देखा जाता है, उसे कर्णेन्द्रिय नही जानती। अर्थात् सब इन्द्रियो को अपने अपने विषय का ही ज्ञान होता है, दूसरी इन्द्रियो के विषय का ज्ञान नही होता और आत्मा को तो पाँचो इन्द्रियो के विषय का ज्ञान होता है अर्थात् जो उन पाँच इन्द्रियो से ग्रहण किये हुए विषय को जानता है, वह आत्मा है, और ऐसा जो कहा है कि आत्मा के बिना प्रत्येक इन्द्रिय एक-एक विषय को ग्रहण करती है वह केवल उपचार से ही कहा है।

उसे न तो देह जानती है, न इन्द्रियाँ जानती है और न श्वासोच्छ्वासरूप प्राण ही उसे जानता है। वे सब एक आत्मा की सत्ता से ही प्रवृत्ति करते हैं, नहीं तो वे जडरूप ही पड़े रहते है— तू ऐसा समझ।

जाग्रत, स्वप्न और निद्रा अवस्थाओ मे रहने पर भी वह उन सब अवस्थाओ से भिन्न रहा करता है और उन सब अवस्थाओं के बीत जाने पर भी उसका अस्तित्व रहता है। वह उन सब अवस्थाओ को जानने वाला प्रगटस्वरूप चैतन्यमय है, अर्थात् जानते रहना ही उसका स्पष्टस्वभाव है और उसकी यह निशानी सदा ही रहती है— उस निशानी का कभी भी नाश नहीं होता।

घट-पट आदि को तू स्वय ही जानता है, और तू समझता है कि वे सब मौजूद है तथा जो घट-पट आदि को जानने वाला है, उसे तू मानता नही— तो उस ज्ञान को फिर कैसा कहा जाय।

दुर्बल देह मे तीक्ष्ण बुद्धि और स्थूल देह मे अल्प बुद्धि देखने मे आती है। यदि देह ही आत्मा हो तो इस शका (विरोध) के उपस्थित होने का अवसर ही नही आसकता।

किसी काल मे भी जिसमे जानने का स्वभाव नहीं, वह जड है, और जो सदा ही जानने के स्वभाव से युक्त है वह चेतन है— इस तरह दोनों का सर्वथा भिन्न भिन्न स्वभाव है, और वह किसी भी प्रकार एक नहीं हो सकता। तीनो काल में जड, जडरूप से और चेतन, चेतनरूप से ही रहता है। इस तरह दोनो का ही भिन्न भिन्न द्वैतभाव स्पष्ट अनुभव मे आता है।

आत्मा स्वयं ही आत्मा की शंका करती है। परन्तु जो शंका करने वाला है वही आत्मा है— इस बात को आत्मा जानती नहीं, यह एक असीम आश्चर्य है।

आत्मा के अस्तित्व में आपने जो जो बातें कहीं, उनका अन्तरङ्ग में विचार करने से वह अस्तित्व तो सम्भव मालूम होता है।

परन्तु दूसरी शंका यह होती है, कि यदि आत्मा है तो भी वह अविनाशी अर्थात् नित्य नहीं है। वह तीनो काल में रहने वाला पदार्थ नहीं किन्तु वह केवल देह के संयोग से उत्पन्न होती है और उसके वियोग से ही उसका नाश हो जाता है।

अथवा वस्तु क्षण क्षण मे बदलती हुई देखने में आती है, इसलिए सब वस्तुएँ क्षणिक हैं, और अनुभव से-देखने से भी आत्मा नित्य नहीं मालूम होती।

समस्त देह परमाणु के संयोग से बनी है. अथवा संयोग से ही आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध है। तथा वह देह जड़ है, रूपी है और दृश्य अर्थात् दूसरे किसी द्रष्टा के जानने का विषय है, इसलिए जब वह अपने आप को भी नहीं जानती तो फिर चेतन की उत्पत्ति और नाश को तो वह कहाँ जान सकती है ? उस देह के एक एक परमाणु का विचार करने से भी वह जड़ ही समझ मे आती है। इस कारण उसमें से चेतन की उत्पत्ति नहीं हो सकती और उसके साथ उसका नाश भी कैसे हो सकता है ? तथा देह में से चेतन उत्पन्न होता है और उसके साथ वह नष्ट हो जाता है, यह बात किस के अनुभव के आधीन है ? अर्थात् इस बात को कौन जानता है ? क्योंकि जानने वाले चेतन की उत्पत्ति देह से प्रथम तो होती नहीं और नाश तो उससे पहिले ही हो जाता है। तो फिर यह अनुभव किसे होता है ?

आशंका— जीव का स्वरूप अविनाशी नित्य त्रिकालवर्ती होना सम्भव नहीं। वह देह के योग से अर्थात् देह के जन्म के साथ ही पैदा होता है, और देह के वियोग अर्थात् देह के नाश होने पर वह नष्ट हो जाता है।

समाधान— देह का जीव के साथ संयोगमात्र सन्बन्ध है। वह जीव के मूल-स्वरूप के उत्पन्न होने का करण नहीं। अथवा जो देह है वह केवल से ही उत्पन्न पदार्थ है, तथा वह जड़ है अर्थात् वह किसी को भी नहीं जानती, और जब अपने को ही नही जानती तो फिर दूसरे को तो वह क्या जान सकती है ? तथा देह रूपी है— स्थूल आदि स्वभावयुक्त है, और चक्षु का विषय है। जब स्वयं देह का ही ऐसा स्वरूप है तो वह चेतन की उत्पत्ति और नाश को किस तरह जान सकती है ? अर्थात् जब वह अपने को ही नही जानती तो फिर 'मेरे से यह चेतन उत्पन्न हुआ है' इसे कैसे जान सकती है ? और मेरे छूट जाने के पश्चात् यह चेतन भी छूट जायगा–नष्ट हो जायगा'— इस बात को जड़ देह कैसे जान सकती है ? क्योंकि जानने वाला पदार्थ ही तो जानने वाला रहता है— देह तो कुछ जानने वाली हो ही नही सकती, तो फिर चेतन की उत्पत्ति और नाश के अनुभव को किसके आधीन करना चाहिए ? यह अनुभव देह के आधीन तो कहा जा सकता नहीं। क्योंकि वह प्रत्यक्ष जड़ है, और उसके जड़त्व को जानने वाला उससे भिन्न कोई दूसरा ही पदार्थ समझ में आता है।

कदाचित् यह कहे कि चेतन की उत्पत्ति और नाश को चेतन ही जानता है, तो इसबात के कहने मे ही इसमें बाधा आती है। क्योंकि फिर तो चेतन की उत्पत्ति और जानने वालों के रूप में चेतन ही अंगीकार करना पड़ा, अर्थात् यह वचन तो अपसिद्धान्तमात्ररूप और कथन-मात्र ही हुआ। जैसे कोई कहे, कि 'मेरे मुँह मे जीभ नहीं' उसी तरह यह कथन है कि 'चेतन

की उत्पत्ति और नाश को चेतन जानता है, इसलिए चेतन नित्य नहीं'। इस प्रमाण की कैसी यथार्थता है, उसे तो तुम ही विचार कर देखो। जिसके अनुभव में इस उत्पत्ति और ज्ञान का नाश रहता है, उस ज्ञान को उससे भिन्न माने बिना, वह ज्ञान किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं। अर्थात् चेतन की उत्पत्ति और नाश होता है, यह किसी के भी अनुभव मे नहीं आसकता।

देह की उत्पत्ति और देह के नाश का ज्ञान जिसके अनुभव मे रहता है, वह उस देह से यदि भिन्न न हो तो किसी भी प्रकार से देह की उत्पत्ति और नाश का ज्ञान नहीं हो सकता अथवा जिसकी उत्पत्ति और नाश को जो जानता है वह उससे जुदा ही होता है, और फिर तो वह स्वयं उत्पत्ति और नाशरूप न ठहरा, परन्तु उसके जानने वाला ही ठहरा। इसलिए फिर उन दोनो की एकता कैसे हो सकती है?

जो जो सयोग हम देखते हैं, वे सब अनुभवरूप आत्मा के दृश्य होते हैं। अर्थात् आत्मा उन्हें जानती है, और उन सयोगों के स्वरूप का विचार करने से ऐसा कोई भी सयोग समझ में नहीं आता जिससे आत्मा उत्पन्न होती हो। इसलिए आत्मा सयोग से अनुत्पन्न है। अर्थात् वह असयोगी है— स्वाभाविक पदार्थ है, इसलिए वह स्पष्ट 'नित्य' समझ मे आती है।

जो जो देह आदि संयोग दिखाई देते हैं वे सब अनुभव स्वरूप आत्मा के ही दृश्य हैं। अर्थात् आत्मा ही उन्हें देखने और जानने वाली है। उन सब संयोगो का विचार कर के देखो तो तुम्हें किसी भी संयोग से अनुभवस्वरूप आत्मा उत्पन्न हो सकने योग्य मालूम न होगी।

कोई भी संयोग ऐसे नहीं जो तुम्हे जानते हों और तुम तो उन सब सयोगों को जानते हो, इसी से तुम्हारी उनसे भिन्नता, और संयोगीपना— उन सयोगों से उत्पन्न न होना— सहज ही सिद्ध होता है, और अनुभव में आता है उससे— किसी भी सयोग से— जिसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, कोई भी सयोग जिसकी उत्पत्ति के लिए अनुभव में नहीं आ सकता, और जिन संयोगों की हम कल्पना करें उनसे जो अनुभव भिन्न— सर्वथा भिन्न— केवल ज्ञाता रूप से ही रहता है, उस अनुभव स्वरूप आत्मा को, तुम नित्य स्पर्शरहित जिसने उन संयोगों के भावरूप स्पर्श को प्राप्त नहीं किया— समझो।

जड़ से चेतन उत्पन्न होता है और चेतन से जड़ उत्पन्न होता है, ऐसा किसी को कभी भी अनुभव नहीं होता।

जिसकी उत्पत्ति किसी भी सयोग से नहीं होनी उसका नाश भी किसी के साथ नहीं होता इसलिए आत्मा त्रिकाल 'नित्य' है।

जो किसी भी संयोग से उत्पन्न न हुआ हो, अर्थात् अपने स्वभाव से ही जो पदार्थ सिद्ध हो, उसका नाश दूसरे किसी भी पदार्थ के साथ नहीं होता और यदि दूसरे पदार्थ के साथ उसका नाश होता हो, तो प्रथम उसमें उसकी उत्पत्ति होनी आवश्यक थी, नहीं तो उसके साथ उसका नाश रूप एकता भी नहीं हो सकती। इसलिए आत्मा को अनुत्पन्न और अविनाशी समझ कर यही प्रतीति करनी योग्य है, कि वह 'नित्य' है।"

(श्री मद्राजचन्द्र, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला पृ. ६००–६०४)

आनन्दमय है

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख की अभिलाषा करता है। यह अभिलाषा, यह सिद्ध

करती है, कि— 'आत्मा आनन्दमय है'। क्योंकि किसी भी प्राणी को असत्य वस्तु की अभिलाषा करते हुए नहीं देखते। अर्थात् कोई भी व्यक्ति आकाश-पुष्प की, अथवा खरगोश के सींग की अभिलाषा नहीं करता। अतः यह अभिलाषा आनन्द के सद्भाव को प्रगट करती है। अब विचारणीय यह है कि— यह आनन्द, है कहाँ? क्या जड़ पदार्थों में आनन्द है? यथा—किसी को बड़े जोर की प्यास लगी हो, तो उसे जल पीने में आनन्द आता है, तो क्या हम यह मानें कि जल में आनन्द है। यदि ऐसा है, तब तो उसे, अथवा सभी को जल पीते रहना चाहिए। क्योंकि जलपान में आनन्द है और इन सबको आनन्द की अभिलाषा थी। परन्तु ऐसा तो नहीं होता, कि आनन्द के इच्छुक जल ही पीते हों। अपितु एक दो गिलास पीने के पश्चात् उनको जल अच्छा प्रतीत नहीं होता। और यदि कोई उनको बलात् अधिक जल पिलाना चाहे, तो उनको पीने मे कष्ट का अनुभव होता है। अतः सिद्ध हुआ, कि जल में आनन्द नहीं है। प्रत्युत प्यासरूपी आकुलता के दूर हो जाने से उनको कुछ सुख का आभासमात्र हुआ है। यही अवस्था सम्पूर्ण सांसारिक विषय भोगों की है।

तथाच— यदि सांसारिक पदार्थों मे आनन्द होता, तो जिसके अधिक परिग्रह है अर्थात् धन, धान्य नौकर आदि परिजन हैं, तो उस व्यक्ति को अधिक सुख प्राप्त होना चाहिए था। परन्तु हम देखते हैं, कि प्रायः धनिक व राजा, महाराजा आदि ही अधिक दुःखी हैं। तथा परिग्रह के त्यागी महापुरुषों को हम सर्वदा निराकुल और सुखी देखते हैं।

इन बातो से यह सिद्ध होता है, कि— सांसारिक पदार्थों में सुख का लेशमात्र भी नहीं है। अपितु यह आत्मा ही आनन्दस्वरूप है। अतः जो व्यक्ति, जितना परिग्रह त्याग कर आत्माभिमुख होगा वह उतना ही निराकुल एवं सुखी होगा। तथा जो व्यक्ति जितना अधिक इस संसार में लिप्त होगा, वह उतना ही दुःखी होता जायेगा।

तथाच—जब मनुष्य की सुषुप्ति अवस्था हो जाती है तो उस समय उसके रोग, शोक, भय, चिन्ता आदि का अभावसा हो जाता है और वह उतने समय के लिए सुखी हो जाता है। इससे यह प्रगट है कि सांसारिक वासनाओं से तथा ममत्वबुद्धि के अभाव से सुख होता है। किन्तु सांसारिक पदार्थों में सुख नहीं है।

तथा—एक गाँव के दो मित्र किसी शहर में कमाने के लिए गये थे। बहुत समय के पश्चात् उनमें से एक ने अच्छा धन कमाया. और दूसरे की अकस्मात् मृत्यु हो गई। वहाँ से दोनों के घर तार दिये गये। परन्तु भूल से जिसने धन कमाया था उसके घर तो उसकी मृत्यु का तार दिया गया तथा जिसकी मृत्यु हो गई थी उसके घर धनप्राप्ति का तार दे दिया गया। अब जिसने धन कमाया था उसके घर शोक (मातम) छा गया व रोना, पीटना आरम्भ हो गया, किन्तु जो मरगया था उसके घर रंगरलियाँ मनाई जाने लगीं। दूसरे दिन ठीक २ तार दिये गये। जब वे तार ग्राम में पहुँचे, तो जिस घर में शोक था वहाँ खुशियाँ मनाई जाने लगीं तथा जहाँ आनन्द उमड़ रहा था वहाँ पाल बिछगया और शोक का साम्राज्य छा गया। अतः सिद्ध हुआ, कि पुत्र आदि के मरने से अथवा धन-प्राप्ति से दुःख व सुख नहीं होता, अपितु उसके साथ ममत्व ही दुःख का कारण है। अन्यथा जिसका पुत्र मरगया था उसके घर हर्ष, तथा जिसने धन कमाया था वहाँ शोक नहीं होना चहिए था। अतः यह सिद्ध हुआ कि सुख और दुःख के कारण, बाह्य पदार्थ नहीं हैं। अपितु यह आत्मा जब परपदार्थ में मोहरूप परिणति करता है, तब यह उन पदार्थों में सुख व दुःख मानने लगजाता है। तथा उनकी प्राप्ति से सुख मानता है, और उनके नाश से दुःख का अनुभव करने लगता है।

जिस प्रकार किसी ने अपना एक मकान बेच दिया। जिस समय उस मकान की रजिस्ट्री हो चुकी, उस समय अकस्मात् उस मकान मे आग लग गई, अब जिसने मकान बेच दिया था वह खुश है, और कहता है कि बहुत अच्छा हुआ मैंने बेचदिया था। तथा जिसने मकान खरीदा था वह रो रहा है, और कहता है, कि हाय ! मैंने यह मकान क्यो खरीद लिया। किन्तु जिसने न ता मकान लिया, और न बेचा, उसको न हर्ष है और न शोक। क्योकि वह तो उससे उदासीन है। बस, इसी प्रकार जो प्राणी ससार से उदासीन है न उसे हर्ष है, न शोक। परन्तु जिसने जिस पदार्थ मे राग किया हुआ है वही सुखी व दुःखी होता है।

अतः सांसारिक पदार्थों मे सुख व दुःख नही है, प्रत्युत उनमें इस आत्मा ने सुख व दुःखों की कल्पना करली है। यदि यह आत्मा इन कल्पना-जालो से मुक्त हो जाय, तो सांसारिक सुख व दुखो से भी पार हो जाय। तथा स्वात्मीय आनन्द मे ही लीन होकर अनुपम, अक्षय सुख का स्वामी होजाय। क्योकि यह स्वय ही आनन्दस्वरूप है।

यथा— पानी को गर्म करने के लिए अग्नि की आवश्यकता है। अतः अग्नि-सयोग से पानी गर्म हो गया। अब उसको शीतल करने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं। केवल उसको अग्नि के सयोग से पृथक् करने की आवश्यकता है। जब उसको अग्नि से पृथक् कर दिया गया कि वह शनैः शनैः स्वय शीतल हो जाता है। क्योकि शीतलत्व उसका स्वभाव है। अतः शीतल करने के लिए अन्य साधनो की आवश्यकता नही। इसी प्रकार आत्मा म जो दुःख है वह परपदार्थ के सम्बन्ध से है। किन्तु शान्ति और आनन्द क लिए तो इतना ही पर्याप्त है, कि आत्मा का परपदार्थों से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाय। जिस प्रकार अग्नि, जैसे जैसे न्यूनाधिक होती जायेगी उसी प्रकार उष्णता भी न्यूनाधिक होती जायेगी। इसी प्रकार आत्मा का सम्बन्ध जितना २ परपदार्थों से अधिक होगा, उतना ही वह अधिक दुःखी होगा। और जैसे जैसे उन परपदार्थों का संयोग, भाव और द्रव्य से न्यून हो जायेगा, उतना उतना ही वह अलौकिक सुख का अनुभव करने लगेगा। इस प्रकार जब वह पूर्णरूपेण ससार से मुक्ति प्राप्त कर लेगा तब वह अक्षय परमानन्द को प्राप्त कर लेगा।

जैसे, किसी को इष्ट (पुत्रादि) के वियोग हो जाने से उस समय जितना दुःख होता है उतना एक सप्ताह के बाद नहीं होता है। तथा एक वर्ष के पश्चात् और भी न्यून हो जाता है। क्योकि वह नित्य उसको भूलता जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ, कि दुःख, परजन्य है। व्यक्ति जैसे २ उससे दूर होता जाता है, वैसे ही दुःख भी घटता जाता है। इसी प्रकार आत्मा में भी दुःख पर-संयोग जन्य है तथा जैसे २ यह उससे दूर होता जाता है, वैसे २ सुखी होता जाता है। तथा आनन्द इसका स्वभाव है। उसको प्राप्त करने के लिए किसी प्रयत्न या साधन को आवश्यकता नही। इसके लिए तो एक मात्र समस्त बाह्य साधनो को त्यागना पड़ता है। इस प्रकार जब इसका अन्य पदार्थों से पूर्ण असहयोग हो जाता है उसी समय यह अचिन्त्य, अनुपम, आनन्द-रूपी अपार-सुधा सागर, जो इसी के अन्तर्गत कल्लोल कर रहा है, उसमे सदैव के लिए निमग्न हो जाता है। इसी का नाम मोक्ष है मुक्ति है परमपद है [illegible] द्धावस्था है तथा परमात्म-अवस्था है।

'भारतीयदर्शन' मे श्री बलदेवउपाध्याय लिखते हैं कि—

"आत्मा नित्यद्रव्य है। जिसमे बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि गुण निवास करते है। वह शरीर, तथा इन्द्रियो से पृथक् होकर एक स्वतन्त्र

सत्ता धारण करने वाला द्रव्य है। आत्मा इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न है। कभी हम एक वस्तु को अपनी आँखो से देखते हैं तथा रुचिकर होने पर उसे अपने हाथ से छूते हैं। इस प्रक्रिया में हमारा ज्ञान यही रहता है कि वस्तु एक ही है। जिसे हम आँखों से देखते हैं उसे ही हम हाथ से छूते हैं। इन्द्रियद्वय–साध्य इस अनुभव में यदि आत्मा इन्द्रियरूप ही होता, तो वस्तु की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) कैसे सिद्ध की जाती (न्या० सू० ३।१।१–३) ? दाहिने हाथ से छुये गये पदार्थ को बांये हाथ से स्पर्श करने पर उसकी एकता का खण्डन नहीं होता (न्या० सू० ३।१।७)। एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रियो पर पड़ा करता है। वृक्ष पर लटकते हुए पके आमों को देखती हैं आँख, पर उसका प्रभाव पड़ता है जीभ पर। क्योकि जीभ से पानी टपकने लगता है। यदि आत्मा इन्द्रियात्मक ही होता, तो जीभ से पानी टपकने को हम किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। पानी टपकने का कारण यही हो सकता है, कि पके आम को देखने वाले व्यक्ति को पूर्वकाल में आस्वादित आम के स्वाद का स्मरण ही आता है (न्या० सू० ३।१।१२)। अतः फलो के द्रष्टा और स्वाद के स्मरण कर्ता को एक होना न्याय–सगत है। पर इन्द्रिय में चैतन्य मानने से इस घटना की समुचित व्याख्या नही हो सकती, क्योकि अन्यदृष्ट वस्तु को दूसरा स्मरण नही करता। इन्द्रिय को आत्मा स्वीकार करने पर, उनके उपघात होने पर, स्मृति की व्यवस्था हो नही सकती। अनुभव तथा स्मरण समानाधिकरण रूप से ही एक मे विद्यमान रहते हैं। जो अनुभव का कर्ता है, स्मरण का भी कर्ता वही हो सकता है। ऐसी वस्तुस्थिति मे चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत पदार्थ का चक्षु के नाश होने पर स्मरण न होना चाहिए। पर लोकानुभव इससे नितान्त विपरीत है। अतः इन्द्रियो को आत्मा मानना नितान्त असिद्ध है। कर्ता तथा करण की भिन्नता अनुभव सिद्ध है। लेखन का साधन (लेखनी) तथा लेखन का कर्ता (आत्मा) तथा अनुभव के साधन (इन्द्रियों) की भिन्नता ही प्रमाण सिद्ध है, अभिन्नता नहीं।

नित्य मन को भी आत्मा मानने मे विप्रतिपत्ति ही है। अणुरूप होने के कारण मन का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योकि प्रत्यक्ष मे महत्व कारण माना जाता है। ऐसी दशा में मन को ही यदि आत्मा मान लिया जायगा, तो उसमें विद्यमान सुख-दुःख-इच्छा आदि भी अप्रत्यक्ष होने लगेंगे। पर अनुभव से विरुद्ध होने से इसे सिद्धान्त मानना अन्याय होगा। इस प्रकार शरीर इन्द्रिय तथा मन— इन तीनो से पृथक् चैतन्याधिष्ठित द्रव्य की ही आत्मा संज्ञा है।

आत्मा को शरीरात्मक मानने वाले चार्वाक लोकानुभव को निश्चितरूप से समझ नहीं सकते। सद्योजातशिशु के कार्यकलाप पर दृष्टि डालिये। उत्पन्न होने के कतिपय दिनों के अनन्तर शिशु बिछौने पर लेटा हुआ हसने लगता है। हसना प्रसन्नता के कारण ही होता है, पर उसके कतिपय दिनो के जीवन मे हर्षोत्पादक घटना का अभाव होता है। अतः वह जन्मान्तरीय अनुभूत प्रसन्नता की घटनाओ को संस्कार के वश से स्मरण किया करता है, और उसी स्मरण के बल पर यह हंसता है। यही व्याख्या तर्क–सगत प्रतीत होती है। पर यह व्याख्या आत्मा को शरीररूप होने पर निष्पन्न नही हो सकती, क्योंकि अनुभव के कर्त्ता शरीर के, नाश होने पर ही यह नया शरीर बालक को प्राप्त हुआ है (न्या० सू० ३।१।१९)। बालक की दुग्धपान की प्रवृत्ति में इष्ट भी आत्मा को शरीर रूप मानने पर सिद्ध नहीं हो सकती। प्रवृत्ति साधनता ज्ञान कारण होता है। वह अनुभव के अभाव में इस जन्म का न होकर जन्मान्तरीय ही होता है (न्या० सू० ३।१।२२)। मनुष्यों के अवस्था तथा स्वभाव में पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। क्यों ? पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के कारण। ऐसी अवस्था में पूर्वजन्म मे कर्म करने वाले तथा इस जन्म मे तदनुरूप फल भोगने वाले व्यक्ति की एकता माननी ही पड़ती है

(न्या० मं० पृ० ४७१)। इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है, कि आत्मा शरीर से भी पृथक् है और नित्य है।

वेदान्त आत्मा को एक मानता है, परन्तु लोक व्यवहार के अनुरोध से आत्मा को अनेक मानता है। इच्छा, सुख, प्रवृत्ति तथा ज्ञान आदि की भिन्नता के कारण आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है। अब आत्मा के अनुभव पर विचार करना है। इस विषय को लेकर प्राचीन तथा नव्य नैयायिको में मतभेद सा दीख पडता है। वात्स्यायन का स्पष्ट मत है, कि आत्मा अनुमान का विषय है। तथा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि इस अनुमान के लिंग हैं (१।१।१० न्या० भा०)। किसी सुख देने वाली वस्तु को पाने की इच्छा, दुःख देने वाली वस्तु से द्वेष, जिसमे उत्पन्न हुआ करता है, यही आत्मा है। इस प्रकार प्राचीन नैयायिक आत्मा को अनुमेय मानते है, परन्तु पिछले नैयायिको ने आत्मा को प्रत्यक्ष का विषय माना है तथा उसके प्रत्यक्ष के लिए पृथक् अन्तरिन्द्रिय (मन) स्वीकार किया है। इस मानस प्रत्यक्ष मे भी मत भेद है। कोई नैयायिक आत्मा का मन के साथ सम्पर्क होने पर "अहमस्मि" (मैं हूं) अहप्रत्ययरूप से शुद्धचैतन्य में उसका अनुभव बतलाते हैं, परन्तु अन्य नैयायिक शुद्धचैतन्य को प्रत्यक्ष का अविषय मान कर "मैं जानता हूं, "मैं सुखी हूँ" इत्यादि परामर्श वाक्यो मे प्रकटित, प्रत्येक ज्ञान मे ज्ञातारूप से आत्मा को प्रत्यक्ष सिद्ध स्वीकार करते है। आत्म-प्रत्यक्ष के साधनभूत मन के इन्द्रियत्व विषय में नाना मत हैं। इन दोनो मतों का समन्वय जयन्तभट्ट ने यह कह कर दिखलाया है कि आत्मा के मानस प्रत्यक्ष मानने पर भी उसे अनुमेय मानना ही युक्तिसगत है। अह-प्रत्ययरूप से आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव महर्षि कणाद को भी सम्मत है। आत्मा न तो आगमिक है, न अनुमेय, अपितु प्रत्यक्षगम्य है। अनुमान के आश्रय लेने का अभिप्राय शरीरादि मे आत्म-बुद्धि मानने वाले सन्देहवादियो का निराकरणमात्र है। इस अभिप्राय से शरीर में प्राण-अपान की सत्ता निमेष, उन्मेष, जीवन कार्य आदि को कणाद ने आत्म-सिद्धि में लिंग बतलाया है। प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य मे (पृ० ३०-३५) अनेक प्रबल युक्तियो के सहारे आत्मा की सिद्धि का विस्तार से दिखलाया है।"

नैयायिक और आत्मा

"नैयायिक आत्मा को द्रष्टा, भोक्ता, ज्ञाता आदि मानते है। न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम के सूत्र (१।१।१०) से आत्मा का अस्तित्व अनुमान से सिद्ध है, ऐसा भाष्यकार का मत है। परन्तु पीछे के नैयायिको ने आत्मा का मानस प्रत्यक्ष माना है। मन से ही आत्मा और सुख-दुःख का प्रत्यक्ष नैयायिक मानते है। जिस वस्तु का जिस दिन मैने देखा था, उसी को आज भी देखता हूँ"— इस प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञान मे दोनो का देखने वाला भी भासित होता है। इसमे और ऐसी ही कितनी ही बातो में प्रत्यक्ष ज्ञान मानना ठीक जँचता है। किसी भी वस्तु को छूने, देखने, स्वाद लेने आदि का आधार एक ही है। इसका ज्ञाता भी एक ही है, यह हम पहले भी लिख आये है। नैयायिक लोग इन बातो से आत्मा को अनुमान सिद्ध मानते है। बिना कारण बच्चे का हँसना माता के दूध पीने की अभिलाषा करना, जनमते ही बन्दर का डालपर छलांगे भरना, जनमते ही— गरीब और धनी होना आदि बातों से नैयायिको ने जन्मान्तर वाद का अस्तित्व भी माना है। पूर्वजन्म के ही संस्कार के कारण बच्चे मे हँसी, दूध पीने का रुचि आदि आती है। पूर्वजन्म नहीं मानने से अकारण बच्चे मे उक्त बातें नहीं हो सकती।

शरीर और शरीर के परमाणु वर्षों नहीं रहते तो भी बीसियों वर्ष पहले किये कर्म का स्मरण होते देखा जाता है। क्यों ? इसलिए, कि विभिन्न अवस्थाओं के शरीरों और विविध इन्द्रियों का अनुभविता, आधार, स्मर्त्ता आदि आत्मा नामक पदार्थ है। वे आत्माएं अनेक हैं, क्योंकि एक आत्मा होने से सब के सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, आदि भी एक ही होने चाहिये।"

आत्मा और वैशेषिक दर्शन

"शरीर रथ है, इसका सञ्चालक सारथि आत्मा है। यह भले-बुरे का विचार करता है क्योंकि यह चेतन है। जड़ शरीर या इन्द्रियों से भले-बुरे का विचार सम्भव नहीं है। जैसे चेतन के द्वारा ही भार्थी (भत्रा-धोंकनी) फूलती और सकुचित होती है वैसे ही आत्मा के द्वारा ही शरीर का श्वास और प्रश्वास होता है। जैसे किसी चेतन के द्वारा कुएँ मे मोट का गिरना और उठना सम्भव है, वैसे ही आत्मा के द्वारा ही पलकों का गिरना और उठना हो सकता है। सॉख्य, योग और न्याय के समान ही वैशेषिक के मत से भी आत्मा एक नहीं, अनेक है। वैशेषिक के नवीन ग्रन्थों मे आत्मा को ही एक प्रकार से ईश्वर कहा गया है।"

इसी प्रकार जैनाचार्य श्री स्वामी विद्यानन्द जी ने "श्लोकवार्तिक" मे आत्मा की प्रबलयुक्तियों से सविस्तार सिद्धि की है। जिसका सार संक्षेप से हम यहाँ देते हैं—

"पॉच महाभूतो के संयोग से चैतन्य गुण नहीं उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि पाँच महाभूतों का चैतन्यगुण नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है। जैसे बालु के ढेर से तैल पैदा नहीं होता है। बालु मे स्निग्ध गुण न होने के कारण जैसे उससे तैल पैदा नहीं होता है उसी तरह पाँच महाभूतों मे चैतन्य न होने के कारण उनके संयोग से चैतन्य गुण नही उत्पन्न हो सकता है, यह निर्युक्तिकार का आशय है।"

"अपना प्रत्यक्ष, अपने ही अनुभव में आता है, दूसरे की बुद्धि मे नहीं आ सकता है और ऐसा कोई साधन भी नही है जिससे अपना प्रत्यक्ष दूसरे की बुद्धि मे भी स्थापित किया जा सके। वाणी द्वारा समझा कर अपना प्रत्यक्ष दूसरे को बताया जाता है और उससे श्रोता को ज्ञान भी होता है। परन्तु वह ज्ञान, प्रत्यक्ष नहीं है वह तो शब्द सुनने से उसके अर्थ का ज्ञान है, उसे शाब्दबोध कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो अपनी इन्द्रियों के द्वारा अपने अनुभव में आता है। वह अनुभव अपनी ही बुद्धि मे रहता है, दूसरे की बुद्धि मे नही रखा जा सकता है इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान का गूंगे की तरह कहते हैं। वह प्रत्यक्ष प्रमाण है यह बात प्रत्यक्ष कर्ता ही जानता है दूसरा पुरुष नहीं जानता है। क्योंकि दूसरे पुरुष की बुद्धि में वह प्रत्यक्ष स्थित नहीं है, अतः दूसरे पुरुष के प्रति अपने प्रत्यक्ष की प्रमाणता वाणी द्वारा कह कर समझाई जाती है। वह वाणी अनुमान के अङ्गस्वरूप पञ्चावयवात्मक वाक्य है। जैसे कि— मेरा प्रत्यक्ष प्रमाण है क्योंकि यह अर्थ को ठीक ठीक बतलाता है, जैसे मेरा अनुभव किया हुआ पट प्रत्यक्ष है। मेरे अनुभव किये हुये पटप्रत्यक्ष ने जैसे सत्य अर्थ को बताया था इसी तरह यह घटप्रत्यक्ष भी सत्य अर्थ को बताता है, अतः सत्य अर्थ को बताने के कारण यह घटप्रत्यक्ष भी प्रमाण है। इस प्रकार अपने प्रत्यक्ष की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए अनुमान का आश्रय लेना ही पडता है, अतः जडवादियों का अनुमान को प्रमाण न मानना अज्ञान का फल है।"

"मैंने पाँच ही विषयों को जाना" यह ज्ञान, सम्मेलनात्मक ज्ञान है। यह ज्ञान सब विषयों को जानने वाला एक आत्मा माने बिना नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने विषय को ही प्रत्यक्ष करती है। आँख, रूप ही देखती है स्पर्श आदि नहीं जानतीं तथा स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श को ही प्रत्यक्ष करती है, रूप आदि को नहीं जानती, ऐसी दशा में उक्त सम्मेलनात्मक ज्ञान, इन्द्रियों का नहीं कहा जा सकता है, अतः इन्द्रियों के द्वारा सब अर्थों को प्रत्यक्ष करने वाला एक आत्मा अवश्य मानना चाहिए। वह आत्मा ही सब विषयो को प्रत्यक्ष करता है और पॉच खिड़कियो के समान पॉच इन्द्रियॉ उसके प्रत्यक्ष के साधन हैं।"

"जो पुरुष, किसी पदार्थ को देखता है वही दूसरे समय में उस पदार्थ को स्मरण करता है, देवदत्त ने जो देखा है उसे वही स्मरण कर सकता है, यज्ञदत्त उसे नहीं स्मरण कर सकता है। देवदत्त ने नेत्र द्वारा जिस पदार्थ को कभी देखा है उसको वह, नेत्र नष्ट होने पर भी स्मरण करता है, यह अनुभव सिद्ध है। यदि नेत्र द्वारा पदार्थ को देखने वाला नेत्र से भिन्न आत्मा नही है तो नेत्र नष्ट होने पर नेत्र के द्वारा देखे हुए अर्थ को देवदत्त कैसे स्मरण कर सकता है? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नेत्र आदि इन्द्रियो के द्वारा वस्तु का साक्षात्कार करने वाला इन्द्रियो से भिन्न एक आत्मा अवश्य है। जैसे पॉच खिडकियो के द्वारा देवदत्त वस्तु को प्रत्यक्ष करता है, उसी प्रकार वह आत्मा पॉच इन्द्रियो के द्वारा रूप आदि विषयो को प्रत्यक्ष करता है।"

शरीर एक कारख़ाना है

"मनुष्य का शरीर (पिण्ड, क्षेत्र या देह) एक बहुत बडा कारखाना ही है। जैसे किसी कारखाने मे पहले बाहर का माल भीतर लिया जाता है, फिर उस माल का चुनाव या व्यवस्था करके इस बात का निश्चय किया जाता है, कि कारखाने के लिए उपयोगी और अनुपयोगी पदार्थ कौन से हैं, और तब बाहर से लाये गये कच्चे माल से नई चीजे बनाते और उन्हे बाहर भेजते है, वैसे ही मनुष्य की देह मे प्रतिक्षण अनेक व्यापार हुआ करते हैं। इस सृष्टि के पॉच भौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य की इन्द्रिया ही प्रथम साधन है। इन इन्द्रियो के द्वारा सृष्टि के पदार्थों का यथार्थ अथवा मूलस्वरूप नहीं जाना जा सकता। आधिभौतिकवादियों का यह मत है, कि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप वैसा ही है, जैसा कि वह हमारी इन्द्रियों से प्रतीत होता है। परन्तु कल यदि किसी को कोई नूतन इन्द्रिय प्राप्त हो जाय, तो उसकी दृष्टि से सृष्टि के पदार्थों का गुण-धर्म जैसा आज है वैसा ही नहीं रहेगा। मनुष्य की इन्द्रियो के दो भेद हैं— एक कर्मेन्द्रिया और दूसरी ज्ञानेन्द्रियाँ। हाथ, पैर, वाणी, गुद और उपस्थ ये पाच कर्मेन्द्रिया हैं। हम जो कुछ व्यवहार अपने शरीर से करते हैं वह सब इन्हीं कर्मेन्द्रियो के द्वारा होता है। नाक, आखें कान, जीभ और त्वचा ज्ञानेन्द्रियां है। आखो से रूप, जिह्वा से रस, कानों से शब्द, नाक से गन्ध, और त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होता है। किसी भी बाह्यपदार्थ का जो हमे ज्ञान होता है, वह उस पदार्थ के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श के सिवाय और कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ एक सोने का टुकड़ा लीजिये। वह पीला दिख पडता है, त्वचा को कठोर मालूम पडता है, पीटने से लम्बा हो जाता है, इत्यादि जो गुण हमारी इन्द्रियो को गोचर होते हैं उन्हीं को हम सोना कहते हैं, और जब ये गुण बार बार एक ही पदार्थ मे एक ही से दृग्गोचर होते हैं, तब हमारी दृष्टि से सोना एक स्वतन्त्र पदार्थ बन जाता है। जिस प्रकार बाहर का माल भीतर के लिए और

भीतर का माल बाहर भेजने के लिए किसी कारखाने में दरवाजे होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य की देह में बाहर के माल को भीतर लेने के लिए ज्ञानेन्द्रिय रूपी द्वार हैं, और भीतर का माल बाहर भेजने के लिए कर्मेन्द्रिय रूपी द्वार हैं। सूर्य की किरणें किसी पदार्थ पर गिरकर जब लौटती हैं, और हमारे नेत्रों से प्रवेश करती हैं, तब हमारी आत्मा को उस पदार्थ के रूप का ज्ञान होता है। किसी पदार्थ से आने वाली गन्ध के सूक्ष्म परमाणु जब हमारी नाक के मज्जातन्तुओं से टकराते हैं, तब हमें उस पदार्थ की बास आती है। अन्य ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार भी इसी प्रकार हुआ करते हैं। जब ज्ञानेन्द्रियां इस प्रकार अपना व्यापार करने लगती हैं, तब हमें उनके द्वारा बाह्य सृष्टि के पदार्थों का ज्ञान होने लगता है। परन्तु ज्ञानेन्द्रियां जो कुछ व्यापार करती हैं उनका ज्ञान स्वयं उनको नहीं होता, इसी लिए ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञाता' नहीं कहते, किन्तु उन्हें सिर्फ बाहर के माल को भीतर लेजाने वाले 'द्वार' ही कहते हैं। इन दरवाजों से माल भीतर आजने पर उसकी व्यवस्था करना मन का काम है। उदाहरणार्थ बारह बजे जब घड़ी के घंटे बजने लगते हैं, तब एकदम हमारे कानो को यही नही समझ पड़ता कि कितने बजे हैं, किन्तु ज्यों ज्यों घड़ी में 'टन् टन्' की एक एक आवाज होती जाती है, त्यो त्यों हवा की लहरें हमारे कानों पर टक्कर मारती है, और मज्जातन्तु के द्वारा प्रत्येक आवाज का हमारे मन पर पहले अलग अलग संस्कार होता है, और अन्त में इन सबों को जोड़ कर हम निश्चय किया करते हैं, कि इतने बजे हैं। पशुओं के भी ज्ञानेन्द्रियां होती हैं। जब घड़ी की 'टन् टन्' आवाज होती है तब प्रत्येक ध्वनि का संस्कार उनके कानो के द्वारा मन तक पहुँच जाता है। परन्तु उनका मन इतना विकसित नहीं रहता कि, वे उन सब संस्कारों को एकत्र करके यह निश्चित् करलें कि बारह बजे हैं। यही अर्थ शास्त्रीय परिभाषा मे इस प्रकार कहा जाता है, कि यद्यपि प्रत्येक संस्कारो का पृथक् पृथक् ज्ञान पशुओं को हो जाता है, तथापि उस अनेकता की एकता का बोध उन्हें नहीं होता।

"भगवद्गीता" (३। ४२) में कहा है—

"इन्द्रियाणिपराण्याहु रिन्द्रियेभ्यः परं मनः"

अर्थात् इन्द्रिया (बाह्य) पदार्थों से श्रेष्ठ हैं और मन इन्द्रियो से भी श्रेष्ठ है। इसका भावार्थ भी वही है, जो ऊपर लिखा गया है। पहले कह आये हैं, कि यदि मन स्थिर न हो तो आँखें खुली होने पर भी कुछ दीख नहीं पड़ता, और कान खुले होने पर भी कुछ सुन नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है, कि इस देहरूपी कारखाने में 'मन' एक मुंशी (क्लर्क) है, जिसके पास बाहर का सब माल ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा भेजा जाता है, और यही मुशी (मन) उस माल की जाच किया करता है। अब इन बातो का विचार करना चाहिए कि, यह जॉच किस प्रकार की जाती है, और जिसे हम अबतक सामान्यतः (मन) कहते आये हैं, उसके भी और कौन कौन से भेद किए जा सकते हैं, अथवा एक ही मन को भिन्न भिन्न अधिकार के अनुसार कौन कौन से भिन्न भिन्न नाम प्राप्त हो जाते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा मन पर जो संस्कार होते हैं उन्हे प्रथम एकत्र करके, और उनकी परस्पर तुलना करके इस बात का निर्णय करना पड़ता है, कि उसमें सेअच्छे कौन से और बुरे कौन से हैं, ग्राह्य अथवा त्याज्य कौन से हैं, और लाभदायक तथा हानिकारक कौन से हैं। यह निर्णय हो जाने पर उनमे से जो बात अच्छी, ग्राह्य, लाभदायक, उचित अथवा करने योग्य होती है उसे करने में हम प्रवृत्त हुआ करते हैं। यही सामान्य मानसिक व्यवहार है। उदाहरणार्थ, जब हम किसी बगीचे मे जाते हैं तब आँख और नाक के द्वारा बगीचे के वृक्षो और फूलों के

संस्कार हमारे मन पर होते हैं। परन्तु जब तक हमारी आत्मा को यह ज्ञान नहीं होता, कि इन फूलों में से किसकी सुगन्ध अच्छी और किसकी बुरी है, तब तक किसी फूल को प्राप्त करने की इच्छा मन में उत्पन्न नहीं होती और न हम उसे तोड़ने का प्रयत्न ही करते हैं। अतएव सब मनोविकारों के तीन स्थूल भाग हो सकते हैं— (१) ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके उन संस्कारो को सुलझाने के लिए व्यवस्था पूर्वक रखना (२) ऐसी व्यवस्था हो जाने पर उनके अच्छेपन या बुरेपन का सार-असार विचार करके यह निश्चय करना, कि कौनसी बात प्राह्य है और कौनसी त्याज्य और निश्चय हो चुकने पर, ग्राह्यवस्तु को प्राप्त कर लेने की और अग्राह्य को त्यागने की इच्छा उत्पन्न होकर फिर उसके अनुसार प्रवृत्ति का होना। परन्तु यह आवश्यक नहीं, कि ये तीनो व्यापार बिना रुकावट के लगातार एक के बाद एक होते ही रहें। सम्भव है, कि पहले किसी समय देखी हुई वस्तु की इच्छा आज हो जावे, किन्तु इतने ही से यह नहीं कह सकते कि उक्त तीनो क्रियाओ मे से किसी भी क्रिया की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि न्याय करने की कचहरी एक ही होती है, तथापि उसमे काम का विभाग इस प्रकार किया जाता है— पहले वादी और प्रतिवादी अथवा उनके वकील अपनी अपनी गवाहियाँ और सबूत न्यायाधीश के सामने पेश करते हैं इसके बाद न्यायाधीश दोनो पक्षो के सबूत देखकर निर्णय स्थिर करता है, और अन्त में न्यायाधीश के निर्णय के अनुसार नाजिर कार्यवाही करता है। ठीक इसी प्रकार जिस मुंशी को अभीतक हम सामान्यतः 'मन' कहते आये हैं उसके व्यापारों के भी विभाग हुआ करते हैं। इनमे से सामने उपस्थित बातो का सार-असार-विचार करके यह निश्चय करने वाला काम (अर्थात् केवल न्यायाधीश का काम) 'बुद्धि' नामक इन्द्रिय का है, कि कोई एक बात अमुक प्रकार ही की (एवमेव) है, दूसरे प्रकार की नहीं (नान्यथा)। ऊपर कहेगये सब मनोव्यापारो मे से इस सार-असार विवेक शक्ति को अलग कर देने पर सिर्फ बचे हुए व्यापार ही जिस इन्द्रिय के द्वारा हुआ करते हैं, उसी को सांख्य और वेदान्तशास्त्र मे 'मन' कहते हैं (सां० का० २३ और २७ देखो)। यही मन वकील के सदृश, कोई बात ऐसी है (संकल्प) अथवा इस के विरुद्ध वैसी है (विकल्प) इत्यादि कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णय करने के लिए पेश किया करता है। इसी लिए इसे 'संकल्प—विकल्पात्मक' अर्थात् बिना निश्चय किए केवल कल्पना करने वाली इन्द्रिय कहा गया है। कभी कभी 'संकल्प' शब्द मे 'निश्चय' का भी अर्थ शामिल कर दिया जाता है (छा० उ० ७. ४. १. देखो)। परन्तु यहाँ पर 'संकल्प' शब्द का उपयोग-निश्चय की अपेक्षा न रखते हुए— अमुक बात अमुक प्रकार की मालूम होना, मानना, कल्पना करना, समझना, अथवा कुछ योजना करना, इच्छा करना, चिन्तन करना, मन मे लाना आदि व्यापारो के लिए ही किया गया है। परन्तु, इस प्रकार वकील के सदृश अपनी कल्पनाओ को बुद्धि के सामने निर्णयार्थ सिर्फ उपस्थित कर देने ही से मन का काम पूरा नहीं हो जाता है। बुद्धि के द्वारा भले-बुरे का निर्णय हो जाने पर, जिस बात को बुद्धि ने ग्राह्य माना है उसका कर्मेन्द्रियो से आचरण कराना, अर्थात् बुद्धि की आज्ञा को कार्य मे परिणत करना— यह नाजिर का कार्य भी मन ही को करना पड़ता है। इसी कारण मन की व्याख्या दूसरी तरह भी की जा सकती है। यह कहने मे कोई आपत्ति नहीं, कि बुद्धि के निर्णय की कार्यवाही पर जो विचार किया जाता है, वह भी एक प्रकार से संकल्प-विकल्पात्मक ही है। परन्तु इसके लिए संस्कृत मे 'व्याकरण विचार करना' यह स्वतन्त्र नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त शेष सब कार्य बुद्धि के हैं। यहाँ तक, कि मन स्वयं अपनी ही कल्पनाओ के सार-असार का विचार नहीं करता। सार-असार का विचार करके किसी भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान आत्मा को करा देना, अथवा चुनाव करके यह निश्चय करना कि अमुक

वस्तु अमुक प्रकार की है, या तर्क से कार्य-कारण-सम्बन्ध को देख कर निश्चित अनुमान करना, अथवा कार्य-अकार्य का निर्णय करना इत्यादि सब व्यापार बुद्धि के हैं।" (गीतारहस्य पृ० १३१-१३४)

अध्यात्मवाद और वैज्ञानिक

"सन् १९३२ ई० में लण्डन की "क्रिश्चियन एविडेंस सोसाइटी" ने वहाँ की विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिको की संस्था "रायल सोसाइटी" के सभी फेलो लोगों के पास एक प्रश्नावली लिख भेजी थी, जिसमें ये छः प्रश्न थे—

(१) क्या आपका ऐसा विचार है कि, आधुनिक युग में उन्नत वैज्ञानिक विचार धार्मिक विश्वास में सहायक हो सकते हैं ?

(२) क्या आप अध्यात्मक्षेत्र का अस्तित्व मानना उचित समझते हैं ?

(३) क्या आपको विश्वास है, कि मृत्यु के पश्चात् नरनारियों के व्यक्तित्व का अस्तित्व रहता है ?

(४) क्या मनुष्य, कुछ अंशो में, अपने कर्मों के लिए उत्तर दायी है ?

(५) क्या आपके विचार मे विकासवाद और सृष्टिकर्त्ता मे साथ-साथ विश्वास रखा जा सकता है ?

(६) क्या प्राकृतिक विज्ञान ईसा के बताये हुए ईश्वर के पौरुषेयस्वरूप का निषेध करता है ?

प्रश्नकर्त्ता ईसाई थे, इसलिए उन्होने अपनी शैली से प्रश्न किए हैं। प्रश्नकर्त्ताओं को आशा थी, कि संसार की सब से प्रतिष्ठित वैज्ञानिक संस्था के सभी सदस्यों के पास से इन छहो प्रश्नों के उत्तर पालने पर अध्यात्मवाद के प्रति विज्ञान और वैज्ञानिकों का रुख साफ हो जायगा। परन्तु उनकी आशा पूरी फलवती नहीं हुई, बहुलांश मे अवश्य ही हुई, क्योंकि विश्व-प्रसिद्ध दो सौ वैज्ञानिकों ने इन प्रश्नों के कुछ न कुछ उत्तर दिये। अध्यात्मक्षेत्र से एकदम अलग रहने वाले वैज्ञानिको से इसमे अधिक आशा की भी नहीं जा सकती थी। इसमें संदेह नहीं, कि इनके उत्तरों से धर्म के प्रति विज्ञान की धारणा बहुत कुछ स्पष्ट हो गई है। इन सभी उत्तरो का संग्रह करके सी० सी० एल० ड्राब्रिज एम० ए० ने "दी रेलीजन आफ सायंटिस्ट्स" नाम की १६० पृष्ठो की एक पुस्तक ही निकाल डाली है। इसका प्रकाशन लण्डन के अर्नेस्ट बेन लिमिटेड ने किया है और मूल्य २ शिलिंग छः पेंस है। इस पुस्तक के आधार पर ही इन उत्तरो के सम्बन्ध में कुछ चर्चा यहाँ की जा रही है। जो हमारे पाठकों को रुचिकर प्रतीत होगी। पहले प्रश्न उत्तर मे ९९ वैज्ञानिकों ने ऐसी भाषा और भाव का प्रयोग किया, जो अस्पष्ट था। २७ व्यक्तियो ने निषेधात्मक उत्तर दिये, और ७४ ने पक्ष मे उत्तर दिये।

कुछ वैज्ञानिको के उत्तर सुनिये—

प्रोफेसर एलबर्ट हाइम— "धार्मिक विश्वास को अवश्य सत्य मानना चाहिए। विज्ञान की उन्नति से हम सत्य के अधिक निकट पहुँच सकेंगे। अतः विज्ञान भावी धर्म का सहायक होगा। साधारण धार्मिक विश्वास मे विनम्रता का अभाव है, और इसका निषेध करने में भी विनम्रता का अभाव है। मानव आत्मा को इतने से सन्तुष्ट हो जाना चाहिए, कि वह निरपेक्ष अन्तिम समस्याओं को समझने में सर्वथा असमर्थ है।"

डा० फार— "मैं यह अवश्य मानता हूं, कि अधुनिक वैज्ञानिक विचार धर्म के अवश्य परिपोषक हैं, परन्तु उस संकीर्ण और संकुचित धर्म के नहीं, जिसका, कि गिरजाघरों में प्रचार किया जाता है। वैज्ञानिकों की दृष्टि मे सत्य ही परम पवित्रवस्तु है, और वे मानते हैं, कि सत्य की सिद्धि के लिए प्रमाण होना चाहिए इस प्रमाण को निष्पक्षता से, निर्भय हो कर तर्क की कसौटी पर चढाना चाहिए। अतः वे किसी साम्प्रदायिकता में ससीम रहना कभी नहीं चाहेंगे। परन्तु वे व्यर्थ विरोध भी नहीं करेंगे। यह सृष्टि इतनी विचित्र है, कि बहुत सम्भव है कि अनेक बातें (जिनका अभी अनुसन्धान नही हुआ है) सत्य ही हों। सत्य की जिज्ञासा ही वैज्ञानिकों का लक्ष्य है, और यही प्रत्येक उपयुक्त धर्म का भी लक्षण होना चाहिए।"

डा० ओटो स्टाफ—"आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति का जहॉ तक जड़वाद के विरोध से सम्बन्ध है, वहाँ तक वह धार्मिक विश्वासो की सहायिका है।"

ग्लेब एनरेप— "हॉ, कम से कम विरोधी नहीं हैं। विज्ञान सत्य की खोज करना चाहता है। धर्म के अनुसार ब्रह्म सत्य है। अतः कोई कारण नही है, कि दोनों की उन्नति साथ-साथ न हो सके।"

सर एलफ्रडेड ईविंग— "हाँ, इन विचारो ने विचारवान जनता को मनवा दिया है, कि पुराने जडवाद के सिद्धान्त कितने निरर्थक थे। पुराने वैज्ञानिको में जो गर्वीली कट्टरता पाई जाती थी, वह तो अब मरगई।"

सरगिल्बर्ट वाकर—"नहीं बाईबिल मे उल्लिखित सृष्टि-रचना और धार्मिक विश्वासों के तो विरोधी अवश्य हैं, पर धर्म के नहीं"

डा० मैकोले— ' हाँ, क्योंकि आधुनिक वैज्ञानिक विचार विश्व की भौतिकता मे सन्देह उत्पन्न करा रहे हैं।"

प्रो० चेटीक— "हाँ, आजकल के वैज्ञानिक विचारो ने पुराने जडवाद के विचारो को हिला दिया है।"

डा० रौब— मैं तो यह समझता हूं, कि विज्ञान ने आधुनिक वैज्ञानिकों और धार्मिक उपदेशकों दोनों को उनकी अज्ञानता का परिचय करा दिया है।"

डा० फ्रीथ— "हाँ विज्ञान आज अधिक उदार होता जा रहा है।"

डा० रैडल— "कुछ तो अवश्य इससे घबरा उठते हैं परन्तु दोनो साथ-साथ चल सकते हैं। मुझे तो यह मालूम होता है, कि ज्यो ज्यो हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यो त्यो यह विश्वास होता जाता है, कि इन धार्मिक विश्वासों का मूल प्रचारक मस्तिष्क कितना भोंदू था, और कुछ धार्मिक विश्वासो मे तो बहुत से बड़े ही औंधे भाव सम्मिलित हो गये हैं।"

मेलोर— ' मैं दोनो में कोई सम्बन्ध नहीं देखता। मै धर्म विज्ञान-संघर्ष की समस्या को ही नहीं मानता।"

ली चैट्लियर— "न सहायक, न विरोधी।"

सबातिये— "धर्म और विज्ञान दोनों का क्षेत्र अलग-अलग हैं। किसी को दूसरे में बाधा नहीं डालनी चाहिए।"

इन सारी सम्मतियो का निष्कर्ष इस प्रकार निकलता है—

(१) उदार धर्म और धार्मिक विचार सत्य हैं। उनका विज्ञान से कोई विरोध नहीं, बल्कि विज्ञान उनका सहायक है।

(२) बाइबिल वा किसी धर्मग्रन्थ के किसी रूढिवादी धर्म का विज्ञान से विरोध है और विज्ञान उसे फिजूल समझता है।

(३) वैज्ञानिकों का लक्ष्य सत्य की खोज है— सत्य के अधिक निकट पहुँचना है और जिस धर्म का उद्देश्य सत्य-प्राप्ति है, उसका विज्ञान विरोधी नही है।

(४) वैज्ञानिको का जड़वाद निरर्थक और भ्रान्त था, उनकी कट्टरता बेमतलब थी।

(५) आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने भौतिकवाद की जड़ हिलादी है, उसका खोखलापन दिखा दिया है।

(६) विज्ञान ने रूढिवादी धर्म के प्रचारको की भी जड़ हिलादी है।

(७) धर्म और विज्ञान के क्षेत्र अलग-अलग हैं, दोनो मे विरोध की सम्भावना ही नहीं है।

ऊपर की पंक्तियों पर ध्यान देने से हमारे पाठकों को मालूम होगा, कि इस ग्रन्थ के विज्ञान के सम्बन्ध मे हम अपने जैसे विचार लिख आये हैं, वैसे ही इन वैज्ञानिको के भी है। हम भी यही लिख आये हैं, कि वैज्ञानिको का लक्ष्य सत्य के समीपतम प्रदेश में पहुँचना है, अलग-अलग क्षेत्र होने के कारण धर्म और विज्ञान मे कोई विरोध नहीं है। वैज्ञानिक गवेषणाए धर्म मे सहायक हैं। वैज्ञानिको की खोज अधूरी हैं। विज्ञानवादियो के अनुसन्धानों से जड़वाद अस्थिर हो गया है। उसकी जड हिलगई है, आदि-आदि। वस्तुतः आइनस्टाइन और उनके ही समान विचार रखने वालो ने भौतिकवाद की नीव गिरादी है, और वैज्ञानिको ने एक ऐसी दिशा दिखा दी है, कि जिसके अस्तित्व की सम्भावना ही उन्हें नहीं थी। अब वे सूक्ष्म संसार के रहस्य की ओर बढ रहे हैं। धर्म की निगूढता समझाने की जिज्ञासा उनमें उत्पन्न हो गई है, और ब्रह्माण्डगत द्रव्यों मे उन्हे ईश्वरीय ज्योति का-आभास का तथा सच्चिदानन्दब्रह्म की महिमा की झलकसी मालूम पड़ने लग गई है। आशा है, विज्ञान प्रेमी पाठक इन बातो पर ध्यान देंगे।

अच्छा अब अध्यात्मक्षेत्र वाले दूसरे प्रश्न के वैज्ञानिक उत्तरों की ओर देखिये। १२१ सज्जनो ने इस प्रश्न के हॉ मे उत्तर दिये, १३ ने न में और ६६ ने संदिग्ध। यहाँ यह बात विशेष ध्यान मे लाने की है, कि उत्तरदाताओ मे अध्यात्म-क्षेत्र न मानने वालो की अपेक्षा, अध्यात्म-क्षेत्र मानने वालो की सख्या दसगुनी है। नमूने के तौर पर कुछ उत्तर पढ़िये, बहुतों ने ऐसा उत्तर दिया— 'ज्ञान अनुभव से उत्पन्न होता है, और अनुभव मानसिक है वा चेतन-सम्बन्धी, भौतिक नहीं।" एक वनस्पतिशास्त्री ने लिखा है, कि केवल जड़वाद के आधार पर विश्व की व्याख्या करना सम्भव नही।"

एक भौतिक-वेत्ता का कहना था कि 'आजकल के भौतिकशास्त्र-वेत्ता, पूर्ववर्त्ती जड़वादियो की अपेक्षा अधिक उदार हैं। उन्हे हक्सले के समान जीव विज्ञान वेत्ताओ के इस विचार से बिलकुल सहानुभूति नहीं है, कि परमाणु उनकी स्थिति और गति जान लेने पर ही समस्त इतिहास निश्चित हो सकता है।"

प्रो० सार्डी—' मेरे विचार से "मैं" अध्यात्म-सत्ता है।"

प्रो० वाट्सन—"मानवक्रिया के बहुत से ऐसे स्पष्ट क्षेत्र हैं, जिन्हें वैज्ञानिक साधनों द्वारा नहीं समझा जा सकता।"

सर एडिंगटन— "हम परिस्थिति से उत्पन्न अनुभवों को भौतिकता-वादियों के यन्त्रों या गणितज्ञों के मापों द्वारा नहीं माप सकते।"

प्रिंसिपल रिचार्डसन— "क्या तुम यह आशा करते हो, कि हमारे समस्त अनुभवों का स्पष्टीकरण रसायन और भौतिकविज्ञान द्वारा हो सकेगा? ऐसा कभी नहीं हो सकता। हमारे अनुभवों का क्षेत्र इन विज्ञानो के क्षेत्र से कहीं अधिक विस्तृत है।"

प्रो० हालडेन— " मैं तो अध्यात्म-क्षेत्र के अतिरिक्त और किसी क्षेत्र का विचार ही नहीं कर सकता।"

क्या केवल जडवादी और विज्ञान के अन्धभक्त भारतीय युवक इन विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिकों की अमूल्य सम्मतियों पर ध्यान देंगे?

अब तीसरे प्रश्न की बात लीजिये। ११२ विज्ञानवेत्ताओं ने इस प्रश्न के अनिश्चित उत्तर दिये। ४१ ने विपक्ष में उत्तर दिये और ४७ ने मृत्यु के अनन्तर आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास प्रगट किया। कुछ उत्तर देखिये—

प्रो० फार— "मैं यह कह सकता हूं, कि यह समस्त विश्व इतना विस्मयकारक है कि इसमें अनन्त जीवन असम्भव नहीं है। 'साइकिकल रिसर्च सोसाइटी" ने इन के सम्बन्ध मे बहुत से जोरदार प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। x x x x मैं इतना ही कहेदेता हूं, कि मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व का रहना असम्भव नहीं है।"

सर रावर्टहैडफिल्ड— 'यदि हम सब का इस जीवन में ही अन्त होता है तो इसे प्रकृति की शक्ति का व्यर्थ अपव्यय मानना चाहिये। पर यह असम्भव है।"

प्रो० इंगोल्ड— "मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व तो रहता है, परन्तु पृथक् व्यक्तित्व भी रहता है— इसमें सन्देह है। मैंने इस पर कभी विचार नहीं किया है।"

आलमंड— "व्यक्तित्व के स्थान में आत्मा शब्द का प्रयोग करना उचित है। इसमे आध्यात्मिक भाव है। निस्सन्देह मैं मृत्यु के पश्चात् भी इसके अस्तित्व मे विश्वास रखता हूं।"

डा० मार्शल— 'दूसरे प्रकार के अस्तित्व मे काल की अपेक्षा नहीं होती बाइबिल मे भी कई स्थानो पर, काल की असत्यता का उल्लेख है। प्राचीन तथा आधुनिक अनेक दार्शनिक भी काल को मिथ्या समझते है। मेरा भी ऐसा ही विचार है। काल तो हमारे इस सासारिक जीवन मे व्यवहार मात्र है। इस दृष्टि से इस जीवन मे 'पश्चात्' का प्रश्न ही अनुचित होगा। क्योंकि 'पश्चात्' शब्द का व्यवहार हो तब हो सकता है, जब काल को सत्य माना जाय। अनन्त जीवन काल की अपेक्षा नहीं रखता।"

'मैं" चेतन है- शरीर के सारे अग जड़ हैं, इस शरीर की मृत्यु के साथ चेतन आत्मा की मृत्यु नहीं हो सकती। सर आलिवर लाज आदि वैज्ञानिको ने तो परलोक से आत्माओं को बुलाकर और उनसे बातें तक करके इस सिद्धान्त को सत्य प्रमाणित कर दिया है। लण्डन आदि की परान्वेषण समितियॉ तो आत्माओ को बुलाकर उनके फोटो तक लेती हैं, जो आये दिन अखबारों मे छपा करते हैं। कर्म-फल भोग के लिए भी जन्मान्तर आवश्यक है। जनमते ही बच्चे का दूध पीना, बन्दर का डालियों पर उछलने लगना

आदि पूर्वजन्म के संस्कार के सूचक हैं।

अब चौथे प्रश्न की ओर आइये। ७ वैज्ञानिकों ने न में उत्तर दिये, २० ने अव्यक्त उत्तर दिये और १७३ ने हां में उत्तर दिये। कुछ नमूने पढ़िये—

सर जेम्स क्रिक्टन ब्राउन— हाँ, मनुष्य तो आत्म-सत्ता है, और स्वस्थ मस्तिष्क की अवस्था में वह अपने निर्वाचित कर्मों के प्रति अवश्य उत्तर दायी है।"

सर आर्थर एडिंगटन— "हमें अब कर्म-प्रेरिका अन्तरात्मिक शक्ति में अविश्वास नहीं करना चाहिए। हमारे मस्तिष्क में केवल बाह्य जगत का चित्र अंकित नहीं होता है, प्रत्युत हमारे कर्म, उनके अन्दर निहित उद्देश्य और उसकी प्राप्ति की चेष्टाएं-सभी विश्वसनीय हैं। अतः हमारे ऊपर अपने कर्मों का उत्तरदायित्व है।" (सायंस और रेलीजन)।

श्री पं० रघुनन्दन शर्मा वैदिक सम्पत्ति" में लिखते हैं कि— "विकासवाद के लेखक महोदय कहते हैं, कि 'विकासवाद पर विचार करते हुए जीवन पर विचार करना एक प्रसंगोपात्त बात है— विकासवाद का यह वास्तविक विषय नहीं। इस विषय पर एक वा दो कल्पनाएँ वैज्ञानिको को सूझी हैं, वे निम्नप्रकार की हैं— एक कल्पना यह है, कि पृथ्वी पर गिरने वाले तारकाओं द्वारा जीवन का बीज हमारे यहाँ पहुँचा। परन्तु उसमें यह शंका हो सकती है, कि क्या प्रोटोप्लाज्म में इतनी शक्ति है, कि तारकाओं द्वारा पृथ्वी पर पहुँचने तक उसमें जीवन अवशिष्ट रह सकता होगा? दूसरी कल्पना यह है, कि— असंख्य वर्षों से पहले अनुकूल स्थिति पाने पर जीवन का एकदम प्रादुर्भाव हुआ'। इस पर आप ही लिखते हैं, कि 'जीवन का आरम्भ कैसे हुआ, इस पर वैज्ञानिको को अब तक कुछ ज्ञान नही हुआ है। वैज्ञानिक सीधा-सादा उत्तर देते हैं कि— हम इस बात को नहीं जानते। निर्जीव से सजीव की उत्पत्ति को निःशंक और प्रमाण-पूर्ण मन से यद्यपि हम अबतक मान नहीं सकते, तथापि इतना निस्सन्देह है, कि विकास स्थापना की अन्य कल्पनाओं के साथ इसका मेल भली भांति मिल जाता है'।

अब तक ऊपर के वर्णन से ज्ञात होता है, कि वैज्ञानिकों ने यह जान नहीं पाया, कि चैतन्य कैसे बनता है। पर उनका विश्वास है कि वह है प्राकृतिक। क्योंकि उनके मत से चेतन प्रोटोप्लाज्म ही है और प्रोटोप्लाज्म में जो शहद की भाँति तरल पदार्थ भरा है वह कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और फासफरस आदि १२ भौतिक पदार्थों से ही बना है, जो निरे जड़ हैं। ये भौतिक पदार्थ भी इलेक्ट्रोन के न्यूनाधिक मेल से बनते हैं। इलेक्ट्रोन खण्ड खण्ड हैं। अतः हमारी देशी भाषा मे ये सारे पदार्थ परमाणुओं से ही बन जाते हैं और जीव भी प्राकृतिक परमाणुओ से ही बन जाता है। पृ० २७ मे हक्सले का नाम देकर ग्रन्थकार कहते हैं कि— 'हक्सले महोदय कहते हैं, कि चेतन पदार्थ दीपक की ज्योति अथवा पानी के भँवर समान यद्यपि नित्य प्रतीत होते हैं, तथापि वास्तव में प्रतिक्षण बदलने वाली व्यक्ति हैं'। इसका मतलब यही है, कि आत्मा प्रकृति के परमाणुओ से बना है। नये नये परमाणु रोज उसमें चिपकते जाते हैं और पुराने अलग हो जाते है। इस तरह की धारा निरन्तर बहती रहती है, इसी से ज्ञान और चैतन्य का सिलसिला नहीं टूटता।

नवीन विज्ञान बतलाता है, कि प्रत्येक परमाणु कई एक इलेक्ट्रोनों से बना है। इलेक्ट्रोन एक दूसरे से चिपकते नहीं प्रत्युत दूर दूर रहते हैं। जिस प्रकार हमारे तारागण दूर दूर रह कर भी एक तारापिंड या सौरजगत् कहलाते हैं, इसी प्रकार अनेक इलेक्ट्रोनों से बना हुआ एटम् भी है x x x। उसी एटम् से उपर्युक्त १२ पदार्थ बने हैं। इन बारह पदार्थों से ही आत्मा बना

है। ये १२ पदार्थ सदैव बदलने वाले हैं। अतः आत्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि परमाणुओं की गति प्रति सैकंड एक लाख माइल की है। अब सोचिए, कि जुदा जुदा रह कर इतने झपाटे से चलने वाले परमाणु किस प्रकार अपना ज्ञान दूसरे परमाणु में डालते हैं। अथवा किस प्रकार ज्ञान उड़कर एक परमाणु से दूसरे मे जाता है और चैतन्य कायम रहता है। यहाँ स्कूल मे २७ वर्ष तक मास्टर विद्यार्थी को पढ़ाता है तो भी विद्यार्थी भूल जाता है। पर बिना किसी साधन के दूर दूर स्थित परमाणु, इतने झपाटे से दौडते हुए, अपना ज्ञान दूसरे में फेंक कर चले जाते हैं और दूसरे उस ज्ञान को ले लेते हैं। कितना आश्चर्य है! समझ में नहीं आता, कि किस प्रकार ऐसी ऊलजलूल बातें पढे लिखे लोग कहते, सुनते और उन्हें सच मानते हैं। यह परमाणुओं का शीघ्र सवाद ऐसा भ्रामक एव असत्य है, कि इस पर हँसी आती है। आनन्द की बात है, कि हैकल, हक्सले का जमाना चला गया। अब उनकी बातें रद्दी कहलाती हैं। अब तो विज्ञान वेत्ताओं ने आध्यात्मिक विद्या के द्वारा जाना है, कि जीव अप्राकृतिक, अजर और अमर है।

दिसम्बर सन् १६२३ के विल्ड्रन्सन्यूज पेपर मे प्रो० रिचेट की (Thirty Years of Psychical Research.) नामी पुस्तक का एक विज्ञापन छपा है। उसमे कहा गया है, कि ३० वर्ष ढूढ तलाश के बाद यह पुस्तक लिखी गई है। ग्रन्थकार ने 'जीवात्मा' का अनुसन्धान कर लिया है। जीव के विषय में ग्रन्थकार के निम्न वाक्य उद्धृत किये गये हैं। कि— '५० वर्ष पूर्व भौतिक विज्ञान का यही रुख था, कि जो बात भौतिक विज्ञान से सिद्ध न हो, उसका अस्तित्व ही नहीं है— वह ढोंग है। किन्तु आज ऐसे प्रमाण मिल रहे हैं, कि भौतिक विज्ञान की पहुँच के बाहर भी पदार्थों का अस्तित्व है। ऐसी घटनाओ को 'साइकिलक' कहते हैं। यह शब्द जीव के लिए व्यवहृत होता है'। जो लोग स्पष्ट नहीं कहना चाहते, वे भी जब जीवात्मा को भौतिक नहीं कहते। प्रसिद्ध डारविन के सुपुत्र प्रोफेसर जॉर्ज डार्विन ने ता० १६ अगस्त सन १६०५ को दक्षिण अफ्रिका मे ब्रिटिश एसोसियेशन के प्रधान की हैसियत से कहा है, कि 'जीवन का रहस्य अब भी इतना ही गूढ है, जितना पहले था'। सन्देहवादियो की राय का अब आदर नहीं। अब स्पष्टवादियों का समय आगया है। स्पष्टवादियो मे प्रो० गेड्स कहते हैं, कि कुछ प्रामाणिक विज्ञानवेत्ता जो जीव के एक लोक से दूसरे लोक मे आगमन की कल्पना को सन्तोषजनक मानते है, ऐसा भी मानते हैं, कि जीव प्रकृति की भाँति अनादि है'।

दूसरा विद्वान् कहता है, 'कि चेतन के प्रभाव के बिना जड़ पदार्थों मे चेतना आ ही नहीं सकती। विज्ञान का यह नियम मुझे पृथ्वी के आकर्षण के नियम की भाँति अटल प्रतीत होता है'। जब से मनोविज्ञान (साइकॉलॉजी), मस्तिष्कशास्त्र (फ्रिनालॉजी) और आत्मविद्या (स्पिरीचुअलिज़म) का अन्वेषण हुआ है तब से जीव सम्बन्धी सभी शकाएं निवृत्त हो गई हैं।

मनोविज्ञान का एक विद्वान् लिखता है, कि 'किसी भी जीवन कार्य की संगति भौतिक नियमो से अब तक स्पष्ट नहीं की जासकी। आसूँ के निकलने या पसीने के निकलने आदि के छोटे छोटे नियमों के स्पष्टीकरण की सब चेष्टाएं निरर्थक साबित हो चुकी हैं। मस्तिष्कशास्त्र का जन्मदाता गॉल लिखता है, कि मेरी राय में एक ही निरवयव वस्तु है जो देखती, सुनती, स्पर्श करती, और प्रेम, विचार तथा स्मरण आदि करती है, पर यह अपने कार्य करने के लिए मस्तिष्क में अनेक भौतिक साधन चाहती है'। इसने वही बात कहदी, जो उपनिषत्कारों ने कही है—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता
रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।

अर्थात् देखने वाला, छूनेवाला, सुनने वाला, चखने वाला, मनन करने वाला, और कार्य करने वाला विज्ञानी आत्मा है।

आत्मविद्या वालों की, देश विदेश में सर्वत्र ही, इस समय धूम मची है। कोई प्रेत बुलाता है, तो कोई आत्मा से बातें करता है। इस विषय के सब से बड़े पंडित और सायंस के आचार्य सर ओलिवर लॉज ने आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित कर दिया हैं। अतएव अब चैतन्य के विषय मे कोई सन्देह नहीं रह जाता। सर ओलिवर लॉज कहते हैं कि— 'एक बार आप इस बात को देखे कि अन्तःकरण बड़ी वस्तु है। वह इस मशीन (शरीर) से बाहर की वस्तु है। ऐसा नहीं है कि जब शरीर बरबाद हो जाता है तब वह अपना अस्तित्व खोदेता है। हम जितने दिन पृथ्वी मे रहते हैं उतने ही दिनो के लिए हमारा अस्तित्व परिमित नहीं है। हम बिना शरीर के भी रहेगे। हमारा अस्तित्व बना ही रहेगा। मै क्यो ऐसा करता हूं ? इसलिए कि ये सब बाते निश्चित विज्ञान के आधार पर स्थित है। बहुतो ने अभी इसका अनुभव नहीं किया। पर यदि कोई ३८ या ४८ वर्ष अपनी आयु इस विषय मे लगावे तभी वह यह कह सकने का अधिकारी होगा, कि अब मै किस स्थिति मे पहुंचा हूँ'। किस दावे के साथ सर ओलिवर लॉज जीव का अनादित्व सिद्ध करते हैं और किस प्रकार इस विषय के जानने के लिए वे ३०, ४० वर्ष तक श्रम करने की अपील करते हैं। हमने जीव की अप्राकृतिकता और उसका नित्य अस्तित्व बतलाने के लिए बहुत स तर्क और प्रमाणो का एकत्रित करना मुनासिब नहीं समझा। इसका कारण यही है, कि दस-बीस वर्ष पूर्व विज्ञानवेत्ताओ ने इस पर प्रकाश नहीं डाला था। वे इसकी खोज मे थे। वे साफ शब्दों मे कहते थे कि हम इसे नहीं जानते। किन्तु अब वह बात नहीं है। अब विज्ञान उच्च स्वर से जीव का अस्तित्व और नित्यत्व स्वीकार करता है"। (पृ० १४४-१४८)

श्री वर्गसन लिखते हैं

Mr WARGSON writes,

"Two points are equally Striking in an organ like the eye, the complexity of its structure and the simplicity of its function. The eye is composed of distinct parts such as the Sclerotic, the Cornea, the Retina, the Crystalline lens etc. In each of these parts, the detail is infinite The mechanism of the eye is, in short, composed of an infinity of mechanisms, all of extreme complexity. Yet Vision is one simple fact. As soon as the eye opens the visual act is affected. Thus because the act is simple, the slightest negligence on the part of nature in the building of the infimtety complex machine would have made vision impossible. This contrast between the complexity of the organ and the unity of the function is, what gives us pause. A mechanistic theory is one which means to show us, the gradual building up

of the machine under the influence of the external circumstances ... . Supposing it avails at all to explain the details of the parts, it throws no light on their corelations . This contrast between the infinite complexity of the organ and the extreme simplicity of the function is what should open our eyes"

अर्थ— "नेत्र-सदृश इन्द्रिय मे दो विशेषतायें प्रतीत होती है, उसके बनावट की पेचीदगी एवं उसके कार्य की सरलता। नेत्र पुतली, तिल काला, सफेद प्रदेश, कोया आदि भागो का बना हुआ है। प्रत्येक भाग का विवरण असीम है। .. नेत्र का यत्र, छोटे-छोटे असख्यात पेचीदे यंत्रों का बना हुआ है। तिस पर भी दर्शन कार्य बड़ा सरल है। जैसे ही नेत्र खुलता है, बाह्य पदार्थों का दर्शन कार्य आरम्भ हो जाता है। यदि प्रकृति नेत्र से पेचीदा यत्र की बनावट में तनिक सी भी असावधानी करती तो दर्शन कार्य असम्भव हो जाता। इस अंग के बनावट की पेचीदगी तथा इनके कार्य की ऐकता विचारने के लिए बाध्य करती है। यांत्रिक सिद्धान्त बतलाता है कि यंत्र, जैसे कि नेत्र, बाह्य परिस्थिति से प्रभावित हो कर धीरे-धीरे कैसे बनता है .. . . । यदि इस सिद्धान्त के द्वारा इस यत्र के भागों का विवरण भी ज्ञात हो जावे परन्तु इस सिद्धान्त से यह ज्ञान नहीं होता है कि दर्शन कार्य का सम्बन्ध नेत्र-यत्र से क्या है। .... "नेत्र के बनावट की असीम पेचीदगी एव उसके दर्शन कार्य की सरलता की तुलना हमको विस्मय मे डाल देती है ?

वैज्ञानिक टेंडल अपनी एक पुस्तक में कहते हैं

Scientist TYNDALL Says in one of his writings

Take your dead hydrogen atoms, your dead Oxygen atoms, your dead carbon atoms, your dead nitrogen atoms, your dead phosphorous atoms, and all other atoms dead as grains of shot, of which the brain is formed Imagine them separate and senseless, observe them running to-gether and forming all imaginable combinations. This, as a purely mechanical process, is seeable by the mind But can you see or dream or in any way imagine, how out of that mechanical act and from these individually dead atoms, sensation, thought and emotion are to arise ? Are you likely to create Homer out of the rattling of dice or Differential calculus out of the clash of Billiard ball ? · You can not satisfy the human understanding in its demand for logical continuity between molecular process and the phenomena of consciousness"

अर्थ— "आप हाइडरोजन तत्व के मृत परमाणु प्राणवायु (आक्सीजन) तत्व के मृत परमाणु, कारबन तत्व के मृत परमाणु, नाइटरोजन तत्व के मृत परमाणु, फासफोरस तत्व के मृत परमाणु, तथा बारूद की भांति उन समस्त तत्वों के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क बना है ले लीजिये। विचारिये कि ये परमाणु पृथक्-पृथक् एव ज्ञान शून्य है, फिर विचारिये कि ये

परमाणु साथ-साथ दौड़ रहे हैं और परस्पर मिश्रित हो कर जितने प्रकार के भी स्कंध हो सकते हैं, बना रहे हैं। इस शुद्ध यांत्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन में खींच सकते हैं। क्या यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार में आ सकती है, कि इस यांत्रिक क्रिया या इन मृत परमाणुओं से बोध, विचार एवं भावनाएं उत्पन्न हो सकती हैं ! क्या फांसो के खटखटाने से होमर कवि या बिलयर्ड, खेल की गेंद के खनखनाने से गणित का डिफरन्शियल केलकुलस निकाल सकता है ?
.. .. आप मनुष्य की जिज्ञासा का परमाणुओं के परस्पर संमिश्रण की यांत्रिक क्रिया से ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई,— संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते ।"

'बटलर महोदय की इस प्रबल युक्ति से बचने के लिए आचार्य टॅडल ने पुद्‌गल शब्द की व्याख्या ही बदल दी। आचार्य टेंडल ने कहा है कि— यदि पुद्‌गल शब्द का ही अर्थ लें जो विज्ञान की पुस्तको मे दिया हुआ है तो यह विचार में नहीं आ सकता कि ज्ञानमय जीवन भौतिक पदाथ से कैसे उत्पन्न हो गया। पादरी बटलर के युक्तिसंगत तर्क से पुराना विचार-ज्ञान व आत्मा भौतिक पदार्थ से ही उत्पन्न होता है— खंडित हो जाता है। आचार्य महोदय कहते हैं कि जिन्होने पुद्‌गल' शब्द की व्याख्या की है उन्होने पुद्‌गल को सब दृष्टिकोणो से नहीं देखा था वे गणितज्ञ या वैज्ञानिक थे, उनका विज्ञान यात्रिक विधान तक सीमित था। वे जीवन व मनोविज्ञान के ज्ञाता न थे, उन्होने जीवन-विज्ञान का अध्ययन नही किया था। इसलिए आचार्य महोदय पुद्‌गल की व्याख्या मे ज्ञान व भावना को भी सम्मिलित करते हैं क्योंकि, आत्मा शरीर से पृथक् नहीं पाया जाता।

आचार्य महोदय का पुद्‌गल की व्याख्या मे ज्ञान व भावनायुक्त आत्मा का सम्मिलित कर लेना उचित नहीं। पुद्‌गल चेतना रहित, ज्ञान शून्य, जड पदार्थ है और आत्मा चेतनायुक्त ज्ञानमयी द्रव्य है। इन दोनो पदार्थों के गुणो मे परस्पर घोर विरोध, पूर्ण वैपरीत्य है। यह असम्भव है कि एक ही पदार्थ का स्वभाव ज्ञानमयी व अचेतन भी हो। यह पहले ही निर्णय किया जा चुका है कि किसी वस्तु मे दो परस्पर विरोधी गुण एक साथ एक ही समय में विद्यमान नहीं रह सकते हैं। इसलिए अचेतन जड़गुण व चेतन ज्ञानगुण इन दो प्रतिपक्षी गुणो— के धारण करने वाले दो भिन्न-भिन्न पदार्थ मानने होगे जिनको कि पुद्‌गल व आत्मा कहते हैं। मनुष्य-भौतिक शरीर व ज्ञानमयी आत्मा— दो भिन्न-भिन्न पदार्थों का सयुक्त प्राणी है।"

श्री मेकडूगल का मत

"We are compelled to admit that the so called Psychical elements are not independent entities but are partial effections of a single substance or being, and since ... . this is not any part of brain, is not a material substance, but differs from all material substances in that, while it is unitary, it is yet present, can act or be acted upon, at many points in space simultaneously (namely the various parts of the brain in which psycho-physical processes are at any moment occuring). We must regard it as an immaterial substance or being. And this being thus necessarily postulated as the ground of

the unity of individual consciousness, we may call it the Soul of the individual"

अर्थ— "हम इस बात के मानने के लिए बाध्य हैं .... कि कथित मानसिक चेष्टाओं का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वरन् ये एक ही पदार्थ या मूल तत्व की अवस्थायें विशेष हैं। यह मूल तत्व मस्तिष्क का अंश नहीं है। इसलिए यह भौतिक पदार्थ नहीं हो सकता। भौतिक पदार्थों से इस बात मे विभिन्नता है, कि यह एक अखड मूल तत्व है जो आकाश के कितने ही भागो मे (मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागो मे जहाँ कि मानसिक भौतिक चेष्टायें होती रहती हैं) एक ही साथ कार्य कर सकता है या इस पर कार्य किया जा सकता है। हमको यह पदार्थ पुद्गल से पृथक् मानना होगा। क्योंकि यही पदार्थ मनुष्य के सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है इसलिए इस पदार्थ को मनुष्य की आत्मा कह सकते है।"

सांख्यदर्शन और समयसार

शुद्धात्म-तत्व का वर्णन करने वाले दर्शन को साख्यदर्शन कहते हैं, तथा सम्यग्दर्शन के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को साख्य शास्त्र कहते है। ये दोनो ही अर्थ न्यायकोप के पृष्ठ ९०४ पर दिये गये हैं। यथा—

(शुद्धात्मतत्वविज्ञान साख्यमित्यभिधीयते) *

इस अर्थ के अनुकूल साख्यदर्शन और समयसार का ऐक्य है। क्योंकि समयसार भी शुद्धात्मतत्व के वर्णन करने वाले शास्त्र का नाम है। जैसा कि हम प्रथम गाथा की टीका मे सिद्ध कर आये हैं।

तथा च—

निम्नलिखित बातों मे भी सांख्यदर्शन और जैनदर्शन की समानता है—

(१) जैनदर्शन की तरह ही सांख्यदर्शन भी वेदो को न स्वतःप्रमाण मानता है और न ईश्वरकृत ही मानता है।

(२) साख्य लोग भी यज्ञयागादि की निन्दा करते है और अहिंसा को ही परम-धर्म मानते है।

(३) साख्यदर्शन भी मुक्तात्माओं से पृथक् किसी ईश्वर विशेप की सत्ता को स्वीकार नहीं करता।

(४) साख्यदर्शन की प्रकृति भी पुद्गल के सदृश परिणामी नित्य है। तथा अग्नि, वायु आदि की स्वतन्त्र भूतात्मक सत्ता को भी साख्यदर्शन स्वीकार नहीं करता।

---

* वस्तुतस्तु "शुद्धात्मतत्वविज्ञान साख्यमित्यभिधीयते" इति व्यासस्मृत्या भावार्थकाङ्-प्रत्ययनिष्पन्नज्ञानवाचकसङ्ख्याशब्दात्सम्बन्धिबोधकशैषिकाण्‌ "साख्य" शब्दःसिद्धः, यद्वा "संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिञ्च प्रचक्षते। चतुर्विंशतितत्वानि तेन सांख्याः प्रकीर्त्तिता" इति भारतात्, संख्याशब्दाद्वैदार्थकाण्‌ निष्पन्नः "सांख्य" शब्दः उभयथाऽपियोगरूढः।"

(षड्दर्शनसमुच्चय टिप्पणी पृ० ३९)

सांख्यमत के साधुओं का आचार

"गुणरत्न ने षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में सांख्यमत के साधुओं के आचार का निम्नप्रकार से वर्णन किया है— "सांख्यमत के अनुयायी साधु त्रिदण्डी अथवा एकदण्डी होते हैं, ये कौपीन धारण करते हैं, गेरुए रंग के वस्त्र पहिनते हैं, बहुत से चोटी रखते हैं, बहुत से जटा बढाते हैं, और बहुत से छुरे से मुण्डन कराते हैं। ये लोग मृगचर्म का आसन रखते हैं, ब्राह्मणों के घर आहार लेते हैं, पाँच ग्रासमात्र भोजन करते हैं और बारह अक्षरो की जाप करते हैं, इन लोगों के भक्त नमस्कार करते समय "ओ नमो नारायनाय" कहते हैं और साधु लोग केवल "नारायणाय नमः" बोलते है। सांख्यपरिव्राजक जीवों की रक्षा के लिए लकड़ी की मुखवस्त्रिका (बीटा) रखते हैं। ये जीवो की दया पालने के लिए स्वय जल छानने का वस्त्र रखते हैं और अपने भक्तो को पानी छानने के लिए छत्तीस अंगुल चौडा और बीस अगुल चौड़ा मजबूत वस्त्र रखने का उपदेश देते हैं। ये लोग मीठे पानी में खारा पानी मिलाने से जीवों की हिंसा मानते हैं और जल की एक बूंद में अनन्त जीवों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इन लोगो के आचार्यों के साथ 'चैतन्य शब्द लगाया जाता है।"

"साख्यलोग कर्मकाण्ड को, यज्ञ-याग को और वेद को नही मानते। ये लोग आध्यात्मवादी होते हैं, हिंसा का विरोध करते हैं और वेद, पुराण, महाभारत, मनुस्मृति आदि की अपेक्षा साख्य-तत्वज्ञान को श्रेष्ठ समझते हैं। इन लोगों का मत है, कि यथेष्ट भोगो का सेवन करने पर तथा किसी भी आश्रम मे रहने पर भी यदि कपिल के पच्चीस तत्वो का ज्ञान हो गया है, यदि साख्यमत मे भक्ति हो गई है, तो बिना क्रिया के भी मुक्ति हो सकती है। सांख्यों के मत में पच्चीसतत्व, और प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने गये हैं। वैदिक ग्रन्थो में कपिल को नास्तिक और श्रुति-विरुद्ध तत्र का प्रवर्तक कह कर कपिलप्रणीत सांख्य और पतजलि के योगशास्त्र को अनुपादेय कहा है।" (स्याद्वादमजी पृ. ४२२)

सांख्यदर्शन की प्राचीनता

सांख्यर्शन और योगदर्शन बुद्ध के समय से पहले के दर्शन समझे जाते हैं। वेबर आदि पाश्चात्य विद्वानो के मत मे साख्यदर्शन, सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों मे प्राचीनतम है। महाभारत मे भी सांख्य और योगदर्शन को सनातन कह कर उल्लेख किया है। तथा सांख्यदर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल का उल्लेख ऋग्वेद में भी पाया जाता है। इन सब प्रमाणों से सांख्य और योगदर्शन की प्राचीनता सिद्ध होती है।

सांख्यदर्शन, अवैदिकदर्शन समझा जाता है। इससे सिद्ध होता है, कि प्राचीनकाल से दो प्रकार की संस्कृतियाँ चली आ रही हैं— एक याज्ञिक-संस्कृति और दूसरी आध्यात्मिक-संस्कृति। इन्हीं को हम ब्राह्मण-संस्कृति और क्षत्रिय-संस्कृति भी कह सकते हैं। सांख्यदर्शन उसी अध्यात्म-सस्कृति का एक प्रतीक है।

छान्दोग्योपनिषद् मे राजा प्रवाहण और गौतम का इतिहास आया है। उसमे लिखा है, कि—

तं ह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार त हो वाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ॥३।५।७॥

अर्थात् "यहाँ चिरकाल तक रहो" उसे ऐसी आज्ञा दी और, उससे कहा— 'हे गौतम! जिस प्रकार तुमने मुझसे कहा है (उससे तुम यह समझो कि) पूर्वकाल में तुम से पहले यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गई। इसी से सम्पूर्ण लोकों मे (इस विद्या द्वारा) क्षत्रियो का ही (शिष्यों के प्रति) अनुशासन होता रहा है।" ऐसा कह कर वह गौतम से बोला—।"

इसी प्रकार महाराजा अश्वपति आदि की कथाए भी उपनिषदो में आई है। इन सब कथाओ से यह स्पष्ट सिद्ध होता है, कि अति प्राचीनकाल मे अध्यात्म विद्या के वेत्ता क्षत्रिय लोग थे। जो यहाँ के मूल निवासी थे। ब्राह्मण लोग याज्ञिक कर्मकाण्ड को ही महत्व देते थे। इस प्रकार ये दो सस्कृतियाँ थीं। १— याज्ञिक सस्कृति २— अध्यात्मवादियों की संस्कृति।

योगदर्शन, सांख्यदर्शन, उपनिषद् और जैन-धर्म उसी प्राचीन सस्कृति के प्रतीक हैं।

साख्यदर्शन-कार भी जैन-दर्शन की तरह आत्माओ की पृथक् २ सत्ताओ को स्वीकार करता है। किन्तु जैन-दर्शन सुख और ज्ञान आदि को आत्मा का स्वाभाविक गुण मानता है। और सांख्यदर्शन-कार मुक्तात्माओं मे न सुख मानता है और न ज्ञान। वह दुःखाभाव और ज्ञाना-भाव को भी मोक्ष मानता है। किन्तु वैशेषिक और न्यायदर्शन की तरह आत्मा का जडत्व स्वीकार न करके मोक्ष अवस्था मे भी आत्मा मे चेतनत्व स्वीकार करता है। किन्तु वह चेतनत्व किमात्मक है, इसका समाधान नहीं हो सका है। तथा च— उपनिषद् कारो ने, वेदान्त-दर्शन ने मुक्तावस्था मे भी आत्मा को सच्चिदानन्द और ज्ञानस्वरूप माना है और सांख्यदर्शन की इस मान्यता का प्रबलयुक्तियो और प्रमाणो से विरोध भी किया है। साख्यदर्शन और योगदर्शन आदि का विशेष वर्णन हमने "ईश्वरमीमांसा" नामक ग्रन्थ में किया है। अतः यहाँ पिष्टपेषणभय से विशेषरूप से नहीं दिखाया। वेदान्त आदि दर्शनो का भी विशेषवर्णन. पाठक वहीं देखने की कृपा करे।

सम्यग्दर्शन और गीता

जैनधर्म सम्यग्दर्शनात्मक है अर्थात् जैनधर्म और सम्यग्दर्शन समानार्थक शब्द हैं। श्री शंकराचार्य ने भी गीता-भाष्य मे सम्यग्दर्शन की भूरि २ प्रशसा की है। यथा—

"न असतिसम्यग्दर्शने रमस्य उच्छेदः, तस्मात् "सम्यग्दर्शनात्मिकायाः प्रज्ञायाः स्थैर्यं कर्तव्यम् इति अभिप्रायः॥ (अ० २, ५९)

अभिप्राय यह है कि यथार्थ सम्यग्दर्शन हुए बिना राग का मूलोच्छेद नहीं होता, अतः सम्यग्दर्शनरूप बुद्धि की स्थिरता कर लेनी चाहिए।"

आगे श्लोक ६० की उत्थानिका में लिखते हैं—

"सम्यग्दर्शनलक्षणप्रज्ञास्थैर्यं चिकीर्षता आदौ इन्द्रियाणि स्ववशे स्थापयितव्यानि यस्मात् तदनवस्थापने दोषमाह—

अर्थात्— सम्यग्दर्शनरूप बुद्धि की स्थिरता चाहने वाले पुरुषो को पहले इन्द्रियो को अपने वश मे कर लेना चाहिए। क्योकि उनको वश मे न करने से दोष बतलाते हैं।"

"पूर्वोक्तसम्यग्दर्शन फलानुवाद एव एषः । एवम् 'शरीरं केवलं कर्म' इति अस्य अर्थ परिग्रहेनिरवद्य भवति ॥ ४।२१ ॥

अर्थ— पहले कहे हुए सम्यग्दर्शन के फल का अनुवादमात्र है। 'शरीरं केवलं कर्म' इस वाक्य का इस प्रकार अर्थ मान लेने से वह अर्थ निर्दोष सिद्ध होता है।"

विरुद्धं च सम्यग्दर्शनम् अन्तरेण मोक्षफलं प्राप्यते। सम्यग्दर्शनञ्च प्रकृतम्। सम्यग्दर्शनस्तुतिमेव कुर्वन् उपक्षीणः अध्यायः।" (४।२४)

अर्थ— बिना सम्यग्दर्शन के मोक्षरूप फल मिलता है— यह कहना सर्वथा विपरीत है। यहाँ आरम्भ से सम्यग्दर्शन का ही प्रकरण है तथा उसी में उपसंहार होने के कारण अन्त में भी सम्यग्दर्शन का ही प्रकरण है। सम्यग्दर्शन की स्तुति करते हुए ही यह अध्याय समाप्त हुआ है।"

"तत्र अधुना सम्यग्दर्शनस्य यज्ञत्व रूपाद्य तत्स्तुत्यर्थम् अन्ये अपि यज्ञा उपक्षिप्यन्ते दैवम् एव।" (उत्थानिका श्लोक २५)

अर्थ— उपर्युक्त श्लोक मे सम्यग्दर्शन को यज्ञरूप से सम्पादन कर के अब उसकी स्तुति करने के लिए 'दैवम् एव' इत्यादि श्लोको से दूसरे २ यज्ञो का भी उल्लेख किया जाता है।"

"ये सम्यग्दर्शिनः तैः उपदिष्ट ज्ञान कार्यक्षेमं भवति न इतरद् इति भगवतो मतम् ॥ ३४ ॥

अर्थ— भगवान् का अभिप्राय है, कि जो सम्यग्दर्शन-तत्व को जानने वाले होते हैं उनके द्वारा उपदेश किया हुआ ही ज्ञान अपने कार्य को सिद्ध करने में समर्थ होता है दूसरा नहीं।"

"सम्यग्दर्शनात् क्षिप्रमोक्षोभवति इति सर्वन्याय प्रसिद्धः सुनिश्चितः अर्थः ॥ ३६ ॥"

अर्थ— सम्यग्दर्शन से तुरन्त मोक्ष हो जाता है, यह सब शास्त्रो और युक्तियों से सिद्ध सुनिश्चित बात है।

आत्मतत्वविदः सम्यग्दर्शनविरुद्धो मिथ्याज्ञानहेतुकः कर्मयोगः स्वप्ने अपि न सम्भावयितुं शक्यते यस्मात ॥ उ० १।५ ॥"

अर्थ— आत्म-तत्ववेत्ता पुरुष के लिए सम्यग्दर्शन से विरुद्ध तथा मिथ्याज्ञान से होने वाला कर्मयोग स्वप्न में भी सम्भव नहीं माना जा सकता।

"सम्यग्दर्शननिष्ठानां सन्यासिनां सद्योमुक्तिः उक्ता कर्मयोगः च ईश्वरार्पितसर्वभावेन ॥ उ० २७ ॥"

अर्थ— सम्यग्दर्शन में निष्ठा वाले सन्यसियो के लिए सद्यः (तुरन्त ही होने वाली) मुक्ति बतलाई गई है . .. ।"

षष्ठ अध्याय के आदि मे लिखते हैं—

'.... सम्यग्दर्शन प्रति अन्तरङ्गस्य सूत्रभूताः श्लोकाः .. ... ॥"

अर्थ— सम्यग्दर्शन के लिए जो अन्तरङ्ग साधन है उस ध्यानयोग के सूत्ररूप जिन श्लोकों का पूर्वाध्याय के अन्त में उपदेश किया है, उन श्लोकों का व्याख्यारूप यह छटा अध्याय आरम्भ किया जाता है।

श्लोक ३३ की उत्थानिका में लिखते हैं—

"एतस्य यथोक्तस्य सम्यग्दर्शनलक्षणस्य योगस्य · ...... ·· · ॥"

अर्थ— इस उपर्युक्त पूर्ण सम्यग्दर्शनरूप योग को कठिनता से सम्पादन होने योग्य समझकर उसकी प्राप्ति के निश्चित उपाय को सुनने की इच्छा वाला—

" अनेकजन्मकृतेन संसिद्धः अनेकजन्म संसिद्धः ततो लब्धसम्यग्दर्शनः सन् याति परां प्रकृष्टां गतिम् ॥ ४५ ॥

अर्थ— .... अनेक जन्मो के सञ्चित संस्कारो से पापरहित होकर, सिद्ध अवस्था का प्राप्त हुआ— सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर के परमगति-मोक्ष को प्राप्त होता है।

"किं च प्रविशन्ति सम्यग्दर्शन-प्राप्तौ सत्यां यतनशीलाः सन्यासिनः ..... ॥ ८।११ ॥"

अर्थात् जिनकी आसक्ति नष्ट हो चुकी है ऐसे वीतराग, यत्नशील सन्यासी, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाने पर जिसमे प्रविष्ट होते है— ।

नवम अध्याय के २२ श्लोक की उत्थानिका मे लिखते हैं—

'ये पुनः निष्कामाः सम्यग्दर्शिनः—"

अर्थात् जो निष्कामी पूर्ण सम्यग्दर्शी हैं— ।

अध्याय १२ मे श्लो० २ की उत्थानिका मे लिखते है—

"ये तु अक्षरोपासकाः सम्यग्दर्शिनो निवृत्तैषणाः · ।"

अर्थ— जो कामनाओ से रहित पूर्ण सम्यग्दर्शी अक्षर ब्रह्म के उपासक है ।

श्लोक १३ की उत्थानिका मे लिखते हैं—

'यस्माद्ध अर्जुनस्य सम्यग्दर्शनानन्वितं कर्म योगम् —"

अर्थ— भगवान, अर्जुन के अत्यन्त ही हितैषी है इसलिए उसको सम्यग्दर्शन से जो मिश्रित नहीं है, ऐसे भेददृष्टियुक्त केवल कर्मयोग का ही उपदेश करते हैं।

"स यथोक्त सम्यग्दर्शनं विज्ञाय मद्भावाय उपपद्यते मोक्षं गच्छति ॥ १३।१८ ॥

अर्थ— वह सम्यग्दर्शन को समझ कर मेरे भाव (परमात्मभाव) को प्राप्त करने में समर्थ होता है, अर्थात् मोक्ष-लाभ कर लेता है।

अध्याय १४ मे श्लोक १९ की उत्थानिका मे लिखते हैं—

"पुरुषस्य · एतत्सर्वं मिथ्याज्ञानम् अज्ञानमूलं बन्धकारणं विस्तरेणउक्त्वा अधुना सम्यग्दर्शनाद् मोक्षो वक्तव्यः"—

अर्थ— इन सब मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान मूलक बन्धन के कारणो को, विस्तार पूर्वक बतला कर अब सम्यग्दर्शन से मोक्ष (कैसे होता है) बतलाना चाहिए— ।

'सर्वभूतेषु · । तद् ज्ञानम् अद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विक सम्यग्दर्शनं विद्धि ॥ १८।२० ॥"

अर्थ— · उस ज्ञान को अर्थात् अद्वैतभाव से आत्मसाक्षात्कार कर लेने को तू सात्विकज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन जान।

इसी प्रकार श्वेताश्वतरभाष्य में लिखा है कि—

"सम्यग्दर्शनसम्पन्न कर्मभिर्न निबध्यते । दर्शनेन विहीनस्तु संसारंप्रतिपद्यते ॥"

अर्थात् सम्यग्दर्शन से सम्पन्न जीव, कर्मों से नहीं बधता है, तथा जो सम्यग्दर्शन से हीन हैं वे संसार में गोते खाते रहते हैं। इस प्रकार वैदिक-साहित्य में सम्यग्दर्शन की महिमा का कथन है। परन्तु सम्यग्दर्शन का यथार्थरूप समझने के लिए जैन-साहित्य का विशेष स्वाध्याय करना ही होगा। क्योंकि अन्य-शास्त्रों में इसके वास्तविकस्वरूप का वैज्ञानिक कथन उपलब्ध नहीं हो सकता। अतः अब हम जैन-शास्त्रानुसार इसका कथन करते हैं। यथा—

हम प्राणीमात्र में तीन शक्तियों अथवा गुणों का अनुभव करते हैं— एक भाव, दूसरा ज्ञान और तीसरा क्रिया।

(१) भाव— को हम श्रद्धा, दर्शन, रुचि, प्रेम आदि नामों से भी कह सकते हैं। जैन-दर्शन में आत्मा के इस भावगुण को विपरीत करने वाला एक विशेष प्रकार का कर्म माना गया है, जिसका नाम दर्शनमोहनीय है*। इस कर्म ने जीव के भाव को जीव की रुचि वा श्रद्धान को आत्मा से विमुख करके ससाराभिमुखी बना रखा है। जब आत्मा इस दर्शनमोहनीय का तथा अनन्तानुबन्धी का उपशम करता है तब उसको औपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है। उस समय कुछ काल के लिए इस आत्मा की संसार की ओर से रुचि या प्रेम हटकर एक प्रकार की अनुपम सी आत्म-रुचि या आत्म-श्रद्धा अथवा अनन्य-आत्म-प्रेम किंवा अनन्य-आत्म-भक्ति अन्तरात्मा से उत्पन्न हो जाती है। उस समय उस आत्म-रस में यह ऐसा मग्न हो जाता है कि इसे शरीर की भी सुध-बुध नहीं रहती। परन्तु इसकी यह अवस्था थोड़ी ही देर रहती है क्योकि पुनः यह सम्यग्दर्शन इसका नष्ट हो जाता है। परन्तु नष्ट होने पर भी यह आत्मा पर एक अमिट छाप लगा जाता है। अतः अब इसके कषाय-रागद्वेषादि मन्द पड जाते हैं और यह सत्संग, स्वाध्याय, पूजा आदि करने लगता है। इस प्रकार इसकी प्रवृत्ति धर्म की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। यद्यपि अनादि मिथ्यादृष्टि भी उपयुक्त आचरण करता है, किन्तु इसकी और सादि मिथ्यादृष्टि की रुचि या भाव मे कुछ अन्तर रहता है। उन सम्यग्दर्शनजनित संस्कारो ने इसमे एक विशेष प्रकार का परिवर्तन कर दिया है। क्योकि अब इसको अनुपम सा रसा-स्वाद आ चुका है। अतः बार २ उसी आनन्द को प्राप्त करने के लिए यह प्रयत्न करने लग जाता है। इस प्रकार यह अनेक बार उस अलौकिक आनन्द के अनुभव करने का प्रयत्न करता है। इस भांति आचरण करते हुए इसको चिरकाल तक रहने वाला क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन प्राप्त हो जाता है। अब यह निरन्तर उस अतीन्द्रिय परमानन्द का रसास्वाद लेने लगता है। यद्यपि अभी तक इसने विशेष प्रकार के संयमो को धारण नही किया, और न परिग्रह आदि का ही त्याग किया है, तथापि इसके अन्तरंग में इस सब से अनासक्ति उत्पन्न हो गई है। अब इसका एकमात्र ध्येय रह गया है उस परमात्म-पद को प्राप्त करना। अब यह संसार में रहते हुए भी संसार से पृथक् सा है। जिस प्रकार पक में रहते हुए भी पंकज उससे पृथक् है। अथवा जैसे पानी से पार होने के लिए नाव पानी मे रहती है, उसी प्रकार यह संसार में रहता है संसार से पार होने के लिए। मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि मे यही अन्तर है, कि मिथ्यादृष्टि के अन्दर संसार रहता है परन्तु सम्यग्दृष्टि संसार में रहता

* आत्मा के सभी विशेषगुणों को घातने के लिए जैन-शास्त्रों में पृथक् २ कर्म माने गये हैं। जिनका विशेष वर्णन हम टीका मे यथास्थान कर आये हैं।

है। जैसे नाव पानी में रहती है। ठीक है, क्योंकि वह पार उतारती है। परन्तु यदि नाव में पानी आ जाय तो वह नाव को डुबा देता है। ऐसे ही जीव का संसार में रहना बुरा नहीं है, वह पार हो जायेगा किन्तु जिसके अन्तरंग में संसार रहता है वह कभी भी पार नहीं जा सकेगा, अतः उसका डूबना निश्चित है। बस, जिसका आन्तरिक संसार निकल गया है उसी को सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

अभिप्राय यह है, कि सम्यग्दर्शन के अभाव में जीव की रुचि संसाराभिमुखी या संसार में फसी हुई रहती है। तथा जब मिथ्यात्व का नाश हो कर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो वह रुचि आत्माभिमुखी हो जाती है। अब इसको यह दृढ-श्रद्धा हो जाती है कि आत्मा, इस शरीर से सर्वथा भिन्न अनुपमसुख व ज्ञान का निधानरूप है। तब वह उस आत्म-तत्व को पाने के लिए व्याकुल रहता है। जिस प्रकार मछली जल के बिना तड़पती है उसी प्रकार यह आत्मा आत्म-स्थिति के लिए व्याकुल रहता है। जैसे ऋतुराज के आगमन से पूर्व पतझड होती है उसी प्रकार जब सम्यग्दर्शन आने वाला होता है तभी आत्मा में एक प्रकार की उथल-पुथल हो कर कर्मों की असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। पुनः उसको पाँच प्रकार की लब्धियाँ ॐ होती हैं। तत्पश्चात् यह अनन्तानुबन्धी कषायों का विसंयोजन तथा दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करके प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो ज्ञान में भी सम्यक्त्व आ जाता है। तथा उसके अनन्तानुबंधि— (जिनकी शृंखला अनादिकाल से बराबर चली आ रही थी, ऐसे सस्कारो के नष्ट हो जाने से इसके अपने आत्म-स्वरुप मे ही रमण करने की भावनारूप-चारित्र) प्रगट हो जाता है। इसी का नाम व्यवहार-रत्नत्रय है। यद्यपि स्वसमय होने की रुचिरूप स्वसमयपना यहीं से आरम्भ हो जाता है। परन्तु श्री आचार्य महाराज का ध्येय तो जीव को सिद्धावस्था प्राप्त कराना है। इसलिए उनकी दृष्टि मे यह भी पर समय ही है। क्योंकि अभीतक पर-पदार्थों में इसका राग है, और अभीतक इसके अप्रत्याख्यानी आदि कषाय हैं ही। अतः यहाँ निश्चय रत्नत्रय में रत आत्मा को स्वसमय कहा है तथा उससे पूर्व के अवस्था वाले जीवों को परसमय कहा गया है।

स्वय श्री आचार्य महाराज ने रयणसार मे लिखा है कि—

बहिरान्तरात्मभेदः परसमयो भण्यते जिनेन्द्रैः। परमात्मा स्व समयम् तद्भेदं जानीहिगुणस्थाने ॥ १४८ ॥

अर्थात् बहिरात्मा और अन्तरात्मा के भेद से जिनेन्द्रदेव ने परसमय को दो प्रकार का कहा है। तथा परमात्मा स्वसमय है। इस भेद को गुणस्थानो की अपेक्षा से जानना चाहिए।

पञ्चलब्धियाँ

"सम्यक्त्व के उत्पन्न होने के समय इस आत्मा को पाँच लब्धियाँ प्राप्त होती हैं जिनका सकेत हम प्रथम कर आये हैं। अब यहाँ उनका संक्षेप से वर्णन करते हैं—

१— क्षयोपशम, २— विशुद्धि, ३— देशना, ४— प्रायोग्य, ५— करण लब्धि।

ॐ लब्धियों का विशेष वर्णन आगे करेंगे।

(१) क्षयोपशम— जिसके होने पर तत्व-विचार हो सके ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम होता है। उदयकाल को प्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धकों के निषेकों का उदयाभावी क्षय और अनागतकाल में उदय आने योग्य उन्हीं कर्मों का सत्ता में रहनारूप उपशम और देशघाती स्पर्द्धकों का उदय ऐसी कर्म की अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं और उसकी प्राप्ति का नाम क्षयोपशमलब्धि है।

(२) विशुद्धि— मोह के मन्द उदय होने से मन्द कषायरूप जो भाव हो, तथा जिनके होने पर तत्व-विचार हो सके, यह विशुद्धिलब्धि है।

(३) देशना— जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट तत्व का धारण करना, विचार करना, यह देशनालब्धि है।

(४) प्रायोग्य— जहाँ नरकादि में उपदेश का निमित्त नहीं होता वहाँ पूर्व संस्कार होता है। कर्मों की पूर्वसत्ता घटकर अन्तःकोटा-कोटि सागर प्रमाण रह जाये और नवीनबन्ध, अन्तःकोटा-कोटि प्रमाण के संख्यातवें भाग हो वह भी उस लब्धिकाल से लगाकर क्रम से घटता हुआ हो कितनी ही पाप-प्रकृतियों का बन्ध क्रम से मिटता जाय इत्यादि योग्य अवस्था होना प्रायोग्यलब्धि है।

ये चारों लब्धियाँ भव्य और अभव्य दोनो के होती हैं। इन चारो लब्धियों के होने पर सम्यक्त्व होता भी है और नहीं भी होता है।

(५) करण— यह पांचवी करणलब्धि है। इसके होने पर सम्यक्त्व होता ही है। अतः प्रथम जो चार लब्धियाँ कहीं थीं वे तो होती ही हैं, और अन्तर्मुहूर्त में जिसके सम्यक्त्व होने वाला हो उस ही जीव के करणलब्धि होती है।

इस करणलब्धि वाले के बुद्धिपूर्वक इतना ही प्रयत्न होता है, कि जिस तत्व-विचार में उपयोग को तद्रूप हो कर रमता है, उससे समय-समय पर परिणाम निर्मल हो जाते हैं जैसे किसी को उपदेश का विचार ऐसा निर्मल होने लगा जिससे शीघ्र ही उसकी प्रतीति उसपर हो जायेगी। उसी प्रकार तत्वोपदेश ऐसा निर्मल होने लगा जिससे इसके शीघ्र ही उसकी प्रतीति हो जायेगी। तथा करण-लब्धि में होने वाले परिणामों का तारतम्य केवल ज्ञान ही जानता है करणानुयोग में उसका निरूपण किया है।

करण-लब्धि के तीन भेद

१— अधः करण, २— अपूर्वकरण, ३— अनिवृत्तिकरण।

(१) अधः करण— त्रिकालवर्ती संपूर्ण करण-लब्धि वाले जीवों के परिणामों की अपेक्षा यह तीन नाम हैं। यहाँ करण नाम परिणाम का है। जहा पहले और पिछले समयों के परिणाम समान हों, वह अधः करण है।

जैसे किसी जीव के परिणाम उस करण के पूर्वसमय में अल्प विशुद्धता को लेकर हुए' पश्चात् समय-समय अनन्तगुणी विशुद्धता से बढ़ते गये तथा उसके जैसे द्वितीय-तृतीयादि समय में परिणाम हों वैसे परिणाम किन्हीं जीवों के प्रथम समय में हों। और उससे समय-समय पर अनन्तगुणी विशुद्धता से बढ़ते हुए हैं। इस प्रकार अधःप्रवृत्त कर समझना चाहिए।

(२) जिससे पहले और पिछले समयों के परिणाम किसी भी तरह समान न हो, अपूर्व ही हो। अधः करण की तरह जैसे पहले समय में हों वैसे द्वितीयादि किसी भी समय में न हों, बढ़ते ही हों। इस करण में जिन जीवों के पहला समय ही हो उन अनेक जीवों के परिणाम परस्पर समान भी होते हैं और हीन अधिक विशुद्धता लिए हुए भी होते हैं। परन्तु यहाँ इतना विशेष है, कि प्रथम समयवर्ती जीव के उत्कृष्ट परिणामो से भी द्वितीयादि समय वाले जीवो के जघन्य परिणाम भी अनन्तगुणी विशुद्धता को लिए हुए होते हैं। इसी प्रकार जिनको करण माडे हुए द्वितीयादि समय हुआ हो उनके उस समय वालो के तो परिणाम परस्पर समान और असमान होते हैं परन्तु ऊपर के समय वालो के परिणाम उनके समान सर्वथा नही होते हैं, अपूर्व ही होते हैं। यह अपूर्वकरण समझना चाहिए।

(३) अनिवृत्ति करण— जिसमे समान-समयवर्ती जीवो के परिणाम समान ही हो, निवृत्ति अर्थात् परस्पर भेद से रहित हो। जैसे इस करण के पहले समय मे सब जीवों के परिणाम परस्पर समान ही होते हैं। ऐसे ही द्वितीयादि समय मे परस्पर समानता समझनी चाहिए। किन्तु प्रथमादि समय वालो से द्वितीयादि समय वालो के परिणाम अनन्तगुणी विशुद्धता लेकर होते हैं। इस प्रकार अनिवृत्ति करण समझना चाहिए। इस प्रकार ये तीन करण हुए।

इन तीन करणों मे पहले अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त अधः करण होता है। उसमे चार आवश्यक होते हैं—

(१) समय २ अनन्तगुणी विशुद्धता होती है।

(२) एक अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त नवीन बन्ध की स्थिति घटती जाती है। यह स्थितिबंधापसरण है।

(३) प्रतिसमय अप्रशस्त प्रकृतियो का अनुभाग अनन्तवे भाग होता है, इत्यादि प्रकार चार आवश्यक होते हैं। उसके बाद अपूर्वकरण होता है। उसका काल अधः करण के काल के संख्यातवें भाग हैं। उसमे ये आवश्यक और होते हैं। सत्ता मे स्थित कर्म की स्थिति को एक अन्तर्मुहूर्त्त के द्वारा घटाता है, उसे स्थिति-काण्डक-घात कहते हैं। उससे छोटे एक अन्तर्मुहूर्त्त के द्वारा पूर्व कर्म का अनुभाग घटाता है यह अनुभाग-कांडकघात है, गुण श्रेणी के काल मे क्रम से असख्यातगुणे २ कर्मों को निर्जरा-योग्य करता यह गुण श्रेणी निर्जरा है। गुण-सक्रमण यहाँ होता नहीं है। अन्यत्र जहाँ अपूर्व करण होता है, वहाँ यह होता है। इस अपूर्व-करण होने पश्चात अनिवृत्ति-करण होता है उसका काल अपूर्व-करण के सख्यातवे भाग है। उसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही समय जाने के बाद अनिवृत्ति-करण करता है। अर्थात उन परमाणुओ को अन्यस्थितिरूप परिणमाता है। अन्तर करण कहलाता है। अन्तर करण के बाद उपशम करण है। अर्थात् अन्तर करण के द्वारा जिन निषेकों का अभाव किया गया था अब उनका उदयकाल आया तो निषेकों के न होने से मिथ्यात्व का उदय नही हुआ।

अतः प्रथमोपशम से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अपूर्वकरण के अनन्तर यह जीव जब अनिवृत्तिकरण करने लगता है तब उसके फलस्वरूप भी वे ही बातें होती हैं जो अपूर्वकरण क होती थी। किन्तु यहाँ के स्थिति-कांडक पूर्व स्थिति-कांडको से विशेष प्रकार के होते है। इन विशिष्ट प्रकार के स्थिति-कांड आदि को करता हुआ यह जीव बहुभाग (समय) बिता देता है। इस समय जब अनिवृत्तिकरण का सख्यातवां भाग (काल) अवशिष्ट रह जाता है तब यह दर्शन मोह का उपशमन करने के लिए अन्तरकरण विधान करता है। इस समय भी स्थिति-कांडादि कार्य होते हैं, और वे अनिवृत्तिकरण के बहुभाग के अन्त समय मे होने वाले स्थिति-कांडादि से विशिष्ट होते हैं। यहाँ अन्तरकरण विधान का अर्थ है— दर्शन मोह की स्थिति मे अन्तर कर देना और वह अन्तर मिथ्यात्व के बीच कुछ निषेको को ऊपर नीचे निक्षेपण कर देना होता है। अभिप्राय यह है, कि जब यह जीव अन्तरकरण करने लगता है तब मिथ्यात्व के प्रारम्भिक अन्तर्मुहूर्त्तमात्र निषेको को छोड़ कर नीचे के निषेको मे फेंक देता है, कुछ को ऊपर के निषेको मे फेंक देता है। इस प्रकार मिथ्यात्व को अन्तर्मुहूर्त्त तक उदय न आने योग्य करता है। इस विधान से मिथ्यात्व का जो प्रवाह चल रहा था वह अन्तर्मुहूर्त्त के लिए रुक जाता है। तब अन्तर्मुहूर्त्त तक कोई निषेक उदय नही आता। अतः मिथ्यात्व का पूर्ण शमन होने से उपशाम सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसी को प्रथमोपम सम्यक्त्व कहते हैं।"

इस प्रकार जैनदर्शन मे सम्यग्दर्शन की तात्विक विवेचना की है। जिसका विशेष वर्णन हमने 'सम्यक्त्वसार' तथा 'सम्यग्दर्शन की नई खोज' नामक पुस्तको मे दिया है।

शुद्धि-पत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	प्राप्रा ननौपम्या	प्राप्राननौपम्यां
१	११	समय प्राभृत	समयप्राभृत
३	१०	जितेनन्द्रैः	जिनेन्द्रैः
६	५	लभ्याः	लभ्यो
१७	२१	स्पष्ट	स्पृष्ट
१९	१७	कार	प्रकार
२०	१४	आहारशरीर	आहार, शरीर
२०	३०	तेपामह	तेपामह
२१	२७	॥ १५ ॥	॥ २५ ॥
३३	१७	पोद्गालिका'	पोद्गलिकाः
३५	२०	मार्गणा	मार्गणाः
६७	९	अपरिणममाणासु	अपरिणममानासु
१०२	१२	स तु	सोऽपि
१०९	२८	सेवतीवि	सेवतोवि
११८	२०	लिप	लिप्त
१२१	१८	॥ २२ ॥	॥ २२८ ॥
१३३	१६	अप्पाणा	अप्पणा
१३४	१८	अन्ये	आन्ये
१३४	२०	तास्माच्च	तस्माच्च
१४२	२७	रागाद्ये	रागे
१५१	८	स्वभावम यश्रिदो	स्वभावयश्रिदो
१५३	२	चिन्त्तेति	चिन्तेति
१५६	२४	चेत नः	चतनः
१५८	३०	त्यत्त्वा	त्यक्त्वा
१६२	२२	कौतुका वह	कौतुकावह
१८४	८	प्रपद्यान्धैः	प्रपद्यान्धकैः
१८६	२३	कुलाधिय	कुलधिय
१८९	२६	विपश्चितेः	विदाम्वरे·
१९०	२६	भुमि	भूमि
१९८	१७	णाण	णाण
१९९	२२	ज्ञान	ज्ञान
२०३	२६	नऊ	णओ
२०४	१२	तत्त्वतोऽर्थतो	तत्त्वतोयोऽर्थतो
		परिशिष्ट	
२५	२१	स्याद्वाद मजी	स्याद्वादमंजरी
२५	२३	साख्यर्शन	साख्यदर्शन